...ल से चला आ रहा है । इस प्रकार आश्वलाय... साथ वेद शब्द का प्रयोग किया गया है और ... विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में होता है—

"मन्त्र ब्राह्मणोर्वेदनामधेय...

परिभाषा के अनुसार मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनों के लिए वद शब्द चिरकाल से प्रयोग होता चला आ रहा है और यदि हम संकुचित दृष्टि से इस शब्द पर विचार करें तो वेद के मन्त्र भाग या संहिता भाग को ही वेद कह सकते हैं जो कि मौलिक दृष्टि से अधिक संगत है । किन्तु श्री क्षेत्रेशचन्द्र जी लिखते हैं—

हमारे प्राचीन आचार्य 'वेद' पद से मन्त्र जौर ब्राह्मण को लेते हैं; आपतम्बयज्ञ'परिभाषा सूत्र—"'"मन्त्र ब्राह्मणयोर्नमिधेयम्" महामुनि जैमिनी का भी यही मत है—'तच्चोदकेषुमन्त्रारव्या' इस सूत्र में पूर्व मीसांसा सूत्र 2.1.32 मन्त्र का लक्षण देकर आपने लिखा है कि वेद का अवशिष्ट अंश ब्राह्मण है—"शेषे ब्राह्मण शब्दः" । ब्राह्मण प्रधानतया मन्त्रों का व्याख्दान है । ब्राह्मण वैसा ही वेद है जैसा कि मन्त्र । वेद की कुछ शाखाओं में मन्त्रांश और ब्राह्मणांश भिन्न ग्रन्थों में पाये जाते हैं; यथा—शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र हैं—वाजसनेयी संहिता में और उनके मन्त्रों के ब्राह्मण हैं शतपथ-ब्राह्मण में । परन्तु कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्र और ब्राह्मण एक ही साथ पाये जाते हैं; यथा—काठक-संहिता, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मणों में और दो प्रकार के ...थ पाये जाते हैं—आरण्यक और उपनिषद् । **श्रुति या वेद की अवधि उपनिषद् तक है ।**

जहाँ तक हमारा अपना विचार है, हम यही लिखेंगे कि वस्तुतः वेद शब्द का वास्तविक अभिप्राय मात्र संहिता भाग से है क्योंकि ब्राह्मण आरण्य उपनिषद् भाग उसकी व्याख्या व भाष्य ही है । इस परवर्त्ती साहित्य को हम सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इस शब्द के अन्तर्गत तो अवश्य ही समाहित कर सकते हैं किन्तु वेद शब्द से इन सम्पूर्ण वाङ्मय को ग्रहण करना समीचीन नहीं है । समस्त वैदिक साहित्य को विन्टरनिट्ज ने तीन भागों में विभक्त किया है—

(1) **संहिता**—जो कि मन्त्र, प्रार्थना, स्तवन, आशीर्वाद, यज्ञ विषयक

मन्त्रों के संग्रहात्मक सूक्त। दूसरे शब्दों में, मन्त्रों के समुदाय का नाम ही संहिता है।

(2) **ब्राह्मण**—Theological matters यज्ञ सम्बन्धी विधान रीतियाँ एवं यज्ञोत्सव विषयक समस्त वैदिक ज्ञान के संग्रहात्मक ग्रन्थ ब्राह्मण हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक प्रकार से संहिताओं के संग्रहीन मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है; किन्तु प्राधान्येय ब्राह्मण-ग्रन्थों का लक्ष्य यज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन करना ही है।

(3) **आरण्यक** (Forest Text) **तथा उपनिषद्** (Sacred Doctrines)—आरण्यक तथा उपनिषद् दोनों ही ब्राह्मण-ग्रन्थों के निकटवर्ती हैं तथा इन्हें भी हम संहिताओं की व्याख्या के रूप में स्वीकार कर सकते हैं किन्तु इस साहित्य का ब्राह्मण साहित्य के साथ मौलिक अन्तर भी है। आरण्यक साहित्य में यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का वर्णन है तो उपनिषद में प्राचीनतम दार्शनिक विवेचन, आरण्यक साहित्य जन-समाज से दूर वनों में पढ़े जाने के कारण ही आरण्यक, कहलाते हैं और ब्राह्मण साहित्य यज्ञकर्ता गृहस्थों के लिए है तथा आरण्यक वानप्रस्थियों के लिए।

श्री क्षेत्रेशचन्द्र जी ने वेद का एक विभाजन और किया है। वे लिखते हैं कि दूसरी दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञान काण्ड से प्रधानतया उपनिषदों को और कर्मकाण्ड से वेद का अवशिष्ट अंश समझना चाहिए। उपनिषदों का एक और नाम है, वेदान्त अर्थात् चरम ज्ञान। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में यद्यपि उद्देश्य का भेद है, तथापि परामर्श में नहीं है।

श्रवण कर गुरु परम्परा के अधीन होने के कारण मन्त्र ही श्रुति है। इन्हीं को मन्त्र भी कहते हैं। मन्त्रों का समुच्चय ही सूक्त है तथा सूक्तों का समुच्चय संहिता है। संहिताएँ चार हैं—

1—ऋग्वेद संहिता, 2—यजुर्वेद संहिता,

3—सामवेद संहिता, 4—अथर्ववेद संहिता।

इन समस्त संहिताओं का संकलन यज्ञों की आवश्यकताओं के अनुरूप वेदव्यास मुनि ने किया था। ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद् भी पृथक्-पृथक् किसी न किसी वेद से अवश्य सम्बन्धित हैं। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् हैं। यद्यपि यह साहित्य विभिन्न समय में बना होगा

तथापि उसमें एकता है, ये ब्राह्मणवाद के ही प्रहरी हैं। विन्टरनिट्ज ने ठीक ही लिखा है—"Old testament has for Judaism or the New testament for Christianity." As Jews and Christians look on their 'Holy Scripture' so the Brahmanic Indians look on their Veda, in its whole extent, as divine revelation, वेद, भारतीय विश्वास के अनुरूप ब्रह्मा के विश्वास से उत्पन्न एवं ऋषियों द्वारा दृष्ट हैं। यही नहीं, परवर्ती उपनिषद् साहित्य तक की समस्त रचनाओं को ब्रह्मा के द्वारा ही निर्मित माना गया है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में मत-वैचित्र्य प्राप्त होता है किन्तु वेद के प्रमाण एवं सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं—Most significant it is, that even the Buddhists who deny the authority of the Veda, yet concede that it was originally given or Created' by God, Brahman, only they add, it has been falsified by the Brahmans and therefore contains so many errors.

उपर्युक्त साहित्य से सम्बद्ध कुछ अन्य प्रकार के ग्रन्थ भी हैं, जिनको कल्प-सूत्र Manuals on Ritual कहा जाता है। उनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) **श्रौत सूत्र**—बड़े-बड़े यज्ञों के नियम इनमें निहित हैं वे यज्ञ जो कि दीर्घकाल तक निरन्तर होते रहते थे।

(ii) **ब्रह्मसूत्र**—सामान्य उत्सव तथा दैनिक जीवन के कर्मकाण्ड, जो जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के समय होते थे; इनके विशेष नियम इनमें समाहित हैं।

(iii) **धर्मसूत्र**—धार्मिक और आध्यात्मिक नियमों के प्राचीनतम ग्रन्थ—Books of instruction on Spiritual and Secular law the oldest law books of the Indians ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों की भाँति सूत्र ग्रन्थों का भी चारों वेदों में से किसी न किसी से प्रत्येक का सम्बन्ध है—As a matter of fact they originated in certain Vedic schools which set themselves the task of the study of a certain Veda. परन्तु ये सूत्र ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं। वस्तुतः ये वेदाङ्गों से सम्बन्धित हैं।

---

1. विन्टरनिट्ज।

भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक साहित्य का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है, न केवल अपने सुसंगठित, सुरक्षित, विस्तृत वाङ्मय की प्राचीनता के कारण, न केवल अपने वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण अपितु भारत के, भारत के ही नहीं, वैदिक भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी भारतीय साहित्य में वैदिक साहित्य का अपना प्रमुख स्थान है। वैदिक साहित्य की महत्ता के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज के निम्न उद्गार महत्त्वपूर्ण एवं यथार्थ हैं—

"जो मनुष्य वैदिक साहित्य के समझने में असमर्थ रहता है, वह भारतीय संस्कृति को नहीं जान सकता। इतना ही नहीं, वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति बौद्ध साहित्य के रहस्य को भी समझने में असमर्थ रहता है क्योंकि बौद्ध साहित्य वैदिक साहित्य का ही नवीन विकास या नव्य रूप है।" आगे वह फिर लिखता है—"यदि हम अपनी ही संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने के इच्छुक हैं, यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं तो हमें भारत की शरण लेनी होगी जहाँ एक भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है—If we wish to learn to, understand the beginings of our own culture, if we wish to understand. The Oldest Indo-European Culture, we must go to India where the oldest literature of an Indo-European people is preserved."

विषय-वस्तु के विभाजन के आधार पर वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों ही वेदों में ऋत्विजों के आधार पर मन्त्रों का संकलन किया गया है। यज्ञ कार्य के सम्पादन के लिए ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। ऋत्विज चार होते हैं—(1) होता, (2) अध्वर्यु, (3) उद्गाता, (4) ब्रह्मा। यज्ञ के अवसर पर देवता-विशेष की प्रशंसा में मंत्रों का सविधि उच्चारण करते हुए देवता का आह्वान करने वाला होता नामक ऋत्विज होता है। होता के कार्य के लिए अभीष्ट मन्त्रों का संकलन ऋग्वेद में है। प्राचीनतम ऋचाओं के इस वेद के दस मण्डलों में 1028 सूक्त एवं लगभग 10472 ऋचायें संगृहीत हैं। इस ऋग्वेद की पाठ-भेद के आधार पर अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु प्रधानतः पाँच शाखाओं का निर्देश मिलता है। आजकल जो ऋग्वेद संहिता प्रचलित है, उसका सम्बन्ध

शाकल शाखा से है । अन्य शाखाओं में वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूकायन हैं । सिद्धान्तः यह माना जाता है कि जिस वेद की जितनी शाखाएँ होंगी, उसके उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद भी होंगे; किन्तु आजकल ऋग्वेद संहिता के केवल दो ब्राह्मण, दो आरण्यक तथा दो उपनिषद ही मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1—ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण,

2—ऐतरेय आरण्यक तथा कौषीतकी आरण्यक,

3—ऐतरेय उपनिषद तथा कौषीतकी उपनिषद ।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद से सम्बद्ध एक आश्वलायन श्रौत सूत्र भी मिलता है ।

यजुर्वेद संहिता उन गद्य वाक्यों का समूह है जो **अध्वर्यु** नामक ऋत्विज् के उपयोग से आते हैं, अध्वर्यु का कार्य है, यज्ञों का विधिवत् सम्पादन करना । अतः यह यजुर्वेद मुख्यतः यज्ञानुष्ठानों से ही सम्बन्धित है । कभी-कभी इस वेद को, कर्मकाण्डीय वेद भी इसलिए कह दिया जाता है । इस वेद के दो भेद मिलते हैं जो कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद कहलाते हैं । इस वेद के सम्बन्ध में अनेक मत हैं जिनका उल्लेख हम यथावसर करेंगे । शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखायें मिलती हैं—(1) माध्यन्दिन तथा (2) काण्व । माध्यन्दिन शाखा का उत्तरी भारत में अधिक प्रचार है तथा काण्व शाखा दक्षिण में । इस संहिता से सम्बद्ध एक ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण है तथा सम्बद्ध आरण्यक का नाम वृहदारण्यक है तथा उपनिषदों के नाम ईशोपनिषद् तथा वृहदारण्यकोपनिषद् हैं । कृष्ण यजुर्वेद की चार संहितायें या शाखाएँ उपलब्ध हैं जिनके नाम क्रमशः (1) तैत्तिरीय, (2) मैत्रायणी, (3) काठक तथा (4) कठ कपिष्ठल हैं । कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण का नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा आरण्यक का नाम तैत्तिरीय आरण्यक है । कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध तीन उपनिषद् हैं—तैत्तिरीयोनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद् तथा कठोपनिषद् । इस संहिता से सम्बद्ध आठ सूत्रग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(1) आपस्तम्ब कल्पसूत्र, (2) बौद्धायन श्रौतसूत्र, (3) हिरण्यकेशी कल्पसूत्र; (4) भारद्वाज श्रौतसूत्र, (5) मानव श्रौतसूत्र, (6) मानव गृह्यसूत्र, (7) बाराह गृह्यसूत्र (8) काठक गृह्यसूत्र ।

सामवेद संहिता का संकलन **उद्गाता** नामक ऋत्विज् के लिए हुआ है । उद्गाता का कार्य है कि वह यज्ञों में आवश्यक मन्त्रों को स्वर सहित उच्च

गति से गान करें। उद्गाता शब्द का अर्थ ही है उच्च स्वर से अथवा तार स्वर से गाने वाला व्यक्ति। इस वेद में ऋचाओं का ही संकलन है और उन्हीं ऋचाओं का जो कि गेय हैं। इस वेद की ऋचाओं की संख्या 1,875 है और अधिकांश ऋग्वेद से उदधृत की गई हैं। इस वेद की बहुत थोड़ी ऋचायें हैं जो मौलिक अथवा स्वयं अपने में स्वतन्त्र हैं। सामवेद का विभाजन दो रूपों में हुआ है (1) पूर्वार्चिक और (2) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को अग्नि, इन्द्र, सोम तथा अरण्य सम्बन्धी विषय वस्तु के आधार पर चार पर्वों में विभक्त किया गया है। जिनके नाम क्रमश: आग्नेय पर्व, ऐन्द्र पर्व, पवमान पर्व तथा आरण्यक पर्व हैं। उत्तरार्चिक में दशरात्र, संवत्सर, सत्र, प्रायश्चित आदि यज्ञानुष्ठानों का विधान है। सामवेद की सहस्रों शाखाओं का उल्लेख होने पर भी आज केवल तीन शाखायें ही उपलब्ध हैं—(1) कौथुम, (2) राणायनीय, तथा (3) जैमिनीय। इन तीनों शाखाओं का प्रचार क्रमश: गुजराती ब्राह्मणों में, महाराष्ट्रीय तथा कर्नाटक प्रदेश में है। सामवेद सम्बद्ध चार ब्राह्मण—ग्रन्थ हैं—(1) जैमिनीय ब्राह्मण, (2) षड्विंश ब्राह्मण, (3) सामविधान ब्राह्मण, तथा (4) जैमिनीय ब्राह्मण। साथ ही इस वेद के दो आरण्यक तथा तीन उपनिषद् भी मिलते हैं—छान्दोग्य आरण्यक, जैमिनीय आरण्यक, छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद् तथा जैमिनीय उपनिषद्। साथ ही इस वेद से सम्बद्ध सात सूत्र-ग्रन्थ भी मिलते हैं जो कि संहिताओं से इस प्रकार से सम्बद्ध हैं—

1—**कौथुम संहिता**

(1) मशक कल्पसूत्र, (2) लाटय्या श्रौतसूत्र (3) गोभिल गृह्यसूत्र।

2—**राणायनीय संहिता—**

(4) द्राह्याभण श्रौतसूत्र, (5) खदिर गृह्यसूत्र।

3—**जैमिनीय संहिता—**

(6) जैमिनीय श्रौतसूत्र, (7) जैमिनीय गृह्यसूत्र।

अथर्ववेद संहिता

अनुश्रुतियों के आधार पर अथर्ववेद की गणना पहले वेदों में नहीं की जाती थी। वेदत्रयी शब्द में समाहित होने वाले वेदों ऋक् यजु तथा साम की गणना होती थी। पुरुष सूक्त में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख मिलता है, किन्तु अथर्ववेद का नहीं। लेकिन परवर्ती साहित्य में अन्य तीन वेदों के साथ अथर्ववेद भी चतुर्थ वेद माना गया। अथर्ववेद में संगृहीत

मन्त्र आयु वृद्धि, प्रायश्चित और पारिवारिक एकता के लिए है तथा दुष्ट प्रेतात्माओं-राक्षसों के निवारण तथा शाप के लिए हैं, कुछ मन्त्रों में मारण-मोहन उच्चाटन की क्रियाएँ भी निहित हैं। साथ ही कुछ मन्त्र आध्यात्मिक भावों से आपूर्ण हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों की पुनरावृत्ति भी है। अथर्व की रचना यज्ञ विधान के लिए न होकर यज्ञ में उत्पन्न होने वाले विघ्नों के निवारण के लिए हुई है। इस वेद के मन्त्र यज्ञ संरक्षण-ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के लिए है। ब्रह्मा नामक ऋत्विज का कार्य यज्ञ का निरीक्षण है। यज्ञानुष्ठान में होने वाली त्रुटि का वह समाधान करता है। त्रुटि होने पर तुरन्त मंगलकारी मन्त्रों का उच्चारण करके ब्रह्मा उस विघ्न का निवारण कर देता है। इस प्रकार के समस्त मन्त्रों का संग्रह स्वरूप यह अथर्ववेद है। इस वेद में 20 काण्ड हैं जो 34 प्रपाठक, 111 अनुवाक, 731 सूक्तों में विभक्त हैं। इस वेद में कुल मिला कर 5,849 मन्त्र हैं। अथर्ववेद की 9 शाखाओं का उल्लेख मिलता है; किन्तु आजकल केवल दो शाखाएँ ही प्राप्त हैं जिनके नाम क्रमशः **पिप्पलाद** तथा **शौनक** हैं। पिप्पलाद शाखा के अधिकांश ग्रन्थ लुप्तप्राय: हैं, केवल प्रश्नोपनिषद ही उपलब्ध हैं। अथर्ववेद की द्वितीय शाखा शौनक अधिक प्रसिद्ध है। इस वेद के गोपथ ब्राह्मण तथा मुण्डक, माण्डूक्य नामक दो उपनिषद् तथा दो सूत्र ग्रन्थ वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्यसूत्र भी आज प्राप्त हैं।

रचना-विधान एवं समय के आधार पर वेदों की रचना प्राचीनतम हैं। किन्तु जब वेदों के मन्त्रों के विस्तृत व्याख्यान की आवश्यकता अनुभव हुई तब ब्राह्मण साहित्य का प्रणयन हुआ। इन ग्रन्थों में मूलत: यज्ञ एवं ब्राह्मण धर्म का ही वर्णन किया गया है। वैसे ब्राह्मणों, यजमानों के कर्त्तव्यों का भी निर्देश हुआ है। सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त, शब्द-व्युत्पत्ति एवं शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास तथा अन्यान्य जनकथाओं का भी उल्लेख इनमें मिलता है जिनमें तत्कालीन सामाजि ीवन के चित्र देखने को मिलते हैं। ब्राह्मणों के अन्तिम अंश आरण्यक कहलाते हैं। इन आरण्यकों के पाठ रहस्यपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में वेदों के आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन है। यज्ञों की क्रिया और अनुष्ठानों के साथ ही साथ यज्ञ-रहस्य और पौरोहित्य का भी विवेचन है। अरण्य में पढ़े जाने के कारण इन ग्रन्थों का नाम आरण्यक है। आरण्यक साहित्य की विषय-वस्तु का विस्तार उपनिषदों में है। उपनिषदों की वैसे तो संख्या 250 तक पहुँच चुकी है; किन्तु विद्वानों ने एकादशोपमिषदों—ईश, केन कठ, प्रश्न,

मुण्डक, मांडूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् को प्रधानतः स्वीकार किया है। उपर्युक्त उपनिषदों में से कुछ गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्य-पद्यात्मक उभयरूप। प्राचीनता एवं महत्त्व की दृष्टि से इन उपनिषदों में छान्दोग्य तथा वृहदारण्यक का विशिष्ट स्थान है। उपनिषदों में प्राधान्येन दार्शनिक तत्त्व का निरूपण हुआ है। ज्ञानकाण्ड के अन्यतम ग्रन्थों में से ये उपनिषद् हैं। श्लेगेल ने लिखा है कि उपनिषदों के सामने यूरोपीय तत्वज्ञान प्रचण्ड मातण्ड के सामने टिमटिमाता दीपक है। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी के रूप में उपनिषद् साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक साहित्य अध्ययनाध्यापन की सुव्यवस्था के लिए जिस साहित्य का निर्माण हुआ है, उस साहित्य को हम **सूत्रसाहित्य** कहते हैं। इस सूत्रसाहित्य को वेदाङ्ग की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। ये वेदाङ्ग संख्या की दृष्टि से छह हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। इस वेदाङ्ग साहित्य को वेदों के साथ सम्बद्ध करने के लिए व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोतृ, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका और छन्द को पाद कहा गया है।

शिक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है वह विद्या जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे—'**स्वरर्णाद्युच्चारण प्रकारोनत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा**।' वेद पाठ में स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वर की अशुद्धि से महान अनर्थ की सम्भावना रहती है। पाणिनीय ने शिक्षा में लिखा है कि जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है जैसे कि स्वर के अपराध से 'इन्द्र शत्रु' शब्द यजमान का ही विनाशक सिद्ध हुआ—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा।
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ॥
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति।
यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात् ॥—पा० शि० श्लोक 5

1. शिक्षाग्रन्थों में प्रातिशाख्य प्रमुख है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य, अथर्ववेद प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा सामवेद के भी

मुख्य प्रतिशाख्य हैं—एक, पुष्प सूत्र; दूसरा, ऋक तन्त्र। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य शिक्षाग्रन्थ भी हैं—पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, वाशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, मांडव्य शिक्षा, अमोधानन्दिनी शिक्षा, वर्णरत्न प्रदीपिका, केशवीय शिक्षा, मल्लशर्म शिक्षा, स्वराकुंश शिक्षा षोडश, श्लोकीय शिक्षा, अवसाननिर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षण शिक्षा, नारदीय शिक्षा माण्डूकी शिक्षा। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षा साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में भाषाशास्त्र का कितना गम्भीर विवेचनात्मक सूत्र रूप में अध्ययन किया गया था।

2 **कल्प**—कल्प का अर्थ है वेद से निहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र **"कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्"**—ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञयागादि का विधान इतना प्रौढ़ तथा विस्तार को प्राप्त हो गया था कि उसकी सहज जानकारी के लिए उनको क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का कार्य नितान्त आवश्यक प्रतीत हुआ। युगानुरूप इन ग्रन्थों का निर्माण सूत्र शैली में हुआ था। कल्प-सूत्रों को विद्वानों ने चार भागों में विभक्त किया है—(1) श्रौतसूत्र, (2) गृह्यसूत्र, (2) धर्मसूत्र, (4) शुल्वसूत्र। **श्रौतसूत्रों** में ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित श्रौत अग्नि दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य इन तीन अग्नियों में सम्पाद्यमान यज्ञयागादिक अनुष्ठानों का वर्णन है। **गृह्यसूत्रों** में गृह्याग्नि में होने वाले यागों तथा विभिन्न संस्कारों का सर्वाङ्गीण वर्णन है। साथ ही समाज में प्रचलित प्रथाओं का भी वर्णन है। **धर्मसूत्रों** में चातुर्वर्ण्य एवं चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों, विशेषतः राजा के कर्त्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है। इन धर्मसूत्रों में रीति-नीति, धर्म एवं प्रथाओं आदि का भी संकेत मिलता है। **शुल्वसूत्रों** में यज्ञवेदी के निर्माण से सम्बद्ध रीति का विशिष्ट प्रतिपादन है।

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं (1) आश्वलायन तथा (2) शाङ्खायन और दो गृह्यसूत्र हैं (1) आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा (2) शाङ्खायन गृह्यसूत्र। **यजुर्वेदीय** कल्पसूत्रों में शुक्ल यजुर्वेद का एक मात्र श्रौतसूत्र कात्यायन श्रौतसूत्र है तथा गृह्यसूत्र भी एक मात्र पारस्कर गृह्यसूत्र है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध इन श्रौत सूत्रों की उपलब्धि होती है—

(1) बौधायन श्रौतसुत्र, (2) आपस्तम्ब, (3) ह्रिरण्यकेशीया सत्याषाढ़, (4) वैखानस, (5) भारद्वाज तथा (6) मानव श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रों में

(1) आपस्तम्ब, (2) हिरण्यकेशी, (3) बोधायन, (4) मानव काठक, (5) भारद्वाज, (6) वैखानस गृह्यसूत्र। **सामवेदीय** कल्पसूत्रों में प्राचीनता आर्षेय कल्पसूत्र है जो अपने रचयिता के नाम पर मशक कल्पसूत्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वैसे सामवेद की तीनों शाखाओं के अपने-अपने श्रौतसूत्र तथा अपने-अपने गृह्यसूत्र हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

(1) कौथमशाखा—लाट्यायन श्रोतसूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र, (2) राणायनीय शाखा—द्राह्ययण श्रौतसूत्र, खदिरगृह्यसूत्र, (3) जैमिनीय शाखा—जैमिनीय श्रौतसूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र, **अथर्ववेद** का कल्पसूत्र विभिन्न ऋषियों द्वारा प्रणीत है। इस वेद के श्रौतसूत का नाम है वतान श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र का नाम है कौशिक जो कि अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है।

धर्मसूत्र कल्प के अविभाज्य अङ्ग हैं। नियमतः प्रत्येक शाखा का एक-एक अपना विशिष्ट धर्मसूत्र होना चाहिए किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आश्वलायन, शाखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र दोनों ही प्राप्य हैं किन्तु उनका धर्मसूत्रात्मक अंश प्राप्त नहीं है। केवल बोधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी के धर्मसूत्र पूर्णतः मिल जाते हैं। धर्मसूत्रों में प्राप्त प्राचीनतम ग्रंथ गौतम धर्मसूत्र माना जाता है जिसका सम्बन्ध सामवेद से है। इसके अतिरिक्त हारीत का धर्मसूत्र तथा शंखलिखित धर्मसूत्र भी मिलता है।

3 **व्याकरण**—व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति—**व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्** अर्थात् जिसके द्वारा सुबन्त तिङन्त आदि पदों की व्याख्या की जाती है वह व्याकरण है। व्याकरण वेद पुरुष का मुख है "**मुखंव्याकरणं स्मृतम्**"। इस वेदांग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझना और वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल व्याकरण के प्राप्त ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ पाणिनीकृत अष्टाध्यायी है; किन्तु पाणिनी मुनि से पूर्वन्तनीन आचार्यों में गार्ग्य; स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख विभिन्न व्याकरण के ग्रन्थों में मिलता है। वैसे तो इस अष्टाध्यायी से भी पूर्व व्याकरण के ग्रन्थों में प्रातिशाख्य भी स्वीकार किए जा सकते हैं। वैसे व्याकरण के पाणिनी के परवर्ती प्रमुख आचार्यों में महाभाष्यकार पतंजलि तथा वार्तिककार कात्यायन का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है। इन तीनों व्याकरण-आचार्यों के उपरान्त इस सम्प्रदाय में आचार्यों की एक लम्बी सूची है जो कि उपर्युक्त तीन आचार्यों की कृतियों पर ही अपने विचार लिखते-लिखाते रहे हैं।

संस्कृत के इन व्याकरण के आचार्यों के कार्य एवं महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए पाश्चात्य विद्वान मेकडानल ने लिखा है—

"भारतीय वैयाकरणों ने ही विश्व में सर्वप्रथम शब्दों का विवेचन किया है। प्रकृति और प्रत्यय का अंग पहचाना है, प्रत्ययों के कार्य का निर्धारण किया है। सब प्रकार से परिपूर्ण और अति विशुद्ध व्याकरण पद्धति को जन्म दिया है जिसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्य नहीं है।"

निरुक्त—निरुक्त निघण्टु नामक वैदिक शब्दकोष की टीका है। सर्वप्रथम निरुक्त में ही वेदों के कठिन शब्दों की व्याख्या की गई है। प्राप्त निरुक्तों में सर्वाधिक प्राचीन यास्क कृत निरुक्त ही है। यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती 13 निरुक्ताचार्यों का उल्लेख किया है। निघण्टु के रचयिता महाभारत के उद्धरण के अनुसार प्रजापति कश्यप हैं। निरुक्त पद की व्याख्या सायणाचार्य के अनुसार इस प्रकार है—

"**अर्थाऽवबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्त तत् निरुक्तम्**" अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिए स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है वही निरुक्त है। टीकाकार दुर्गाचार्य के कथानुसार अर्थ का परिज्ञान के कारण यह अंग इतर वेदांगों तथा शास्त्रों से प्रधान है क्योंकि अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण। इस प्रकार महत्त्व की दृष्टि से निरुक्त भी वेदांगों में प्रमुख स्थान का अधिकारी है।

छन्द वेद शरीर छन्द पाद हैं। वेद के मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान नितांत आवश्यक है। छन्दों के परिज्ञान के बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ का समुचित रूप से कदापि नहीं हो सकता। कात्यायन ने स्पष्ट ही लिखा है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करता है, उसका वह कार्य सदा ही निष्फल होता है। वेद के मन्त्र तो सर्वथा छन्दोबद्ध हैं, अतः छन्दों का ज्ञान प्राप्त किए बिना वेद मन्त्रों का यथार्थ उच्चारण कैसे सम्भव है। इसलिए वैदिक ऋषियों ने छन्दों के परिज्ञान के लिए स्वयं पृथक ग्रन्थों की रचना की है। इसमें ऋग्वेद का प्रतिशाख्य सूत्र, सामवेद का निदान सूत्र, पिंगल का छन्द सूत्र तथा शाखायान के श्रौतसूत्रों का एक भाग प्रमुख है। इन सभी ग्रन्थों में वैसे वैदिक छन्दों का ही विशेष विवेचन है, किन्तु पिंगलाचार्य द्वारा रचित छन्द इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

वेदांग—वेदांगों के अन्तर्गत ज्योतिष अन्तिम वेदांग है। वेद की प्रवृत्ति

यज्ञ सम्पादन के लिए तथा यज्ञ समय-विशेष की अपेक्षा रखते हैं। इसी समय विशेष के निर्देश के लिए ज्योतिष की आवश्यकता है। नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास ऋतु तथा संवत्सर-काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञों का निर्देश वेदों में उपलब्ध हैं। वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि ग्रन्थ दो वेदों से सम्बन्ध रखने वाले उपलब्ध होते हैं एक तो **याजुष ज्योतिष** जिसका यजुर्वेद से सम्बन्ध है एवं दूसरा **आर्च ज्योतिष** जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इन दोनों ही ग्रन्थों में वैदिक कालीन ज्योतिष का वर्णन उपलब्ध होता है वेदांग ज्योतिष के कर्त्ता का नाम लगध था—

प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ॥

—आर्च ज्योतिष श्लोक 21

कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि यज्ञ भाग के विभिन्न विधानों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान नितांत अपरिहार्य है। इसलिए वेदांग ज्योतिष का यह आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को अच्छी प्रकार से जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है। यज्ञ ज्ञान के लिए ज्योतिष के महत्त्व को परवर्ती ज्योतिषाचार्य भास्कराचार्य ने भी स्वीकार किया है।

वेदों की सुरक्षा के लिए इस वेदांग साहित्य के अतिरिक्त पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ एवं ऋषि देवता तथा छन्दों की अनुक्रमणिका नामक ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य एक विशाल साहित्य है। भारतीय ज्ञान का यह एक आगार है। विश्व-संस्कृतियों का मार्ग-दर्शक है। इसलिए विन्टरनिट्ज ने विश्व-संस्कृति के मार्ग-दर्शक के रूप में इस साहित्य को स्वीकार किया है।

प्रश्न—भारतीय साहित्य पर वेदों के प्रभाव का विवेचन कीजिए।

Q. Discuss the fundamental supremacy of the Vedas in Indian literature through the ages. —आ० वि० वि० 56

उत्तर—भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता अपनी बहुमुखी उपयोगिता तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक साहित्य का अपना अद्वितीय स्थान हैं। न केवल अपने सुग्रथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङ्मय की अति प्राचीन परम्परा, अपनी भाषा और वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के

कारण अपितु भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वत प्रभाव के कारण भी वैदिक साहित्य अभूतपूर्व महत्त्व रखता है। यही नहीं, वैदिक साहित्य आशामय, नवीन प्राणप्रद स्फूर्ति प्रदाता होने के कारण तथा सार्वभौम, सार्वकालिक, सन्देशवाहक होने के कारण एवं परवर्ती समस्त लौकिक साहित्य की विधाओं का उपजीव्य होने के कारण भी भारतीय जनजीवन के लिए उपयोगी है। डाक्टर मंगलदेवजी ने वैदिक साहित्य के महत्त्व का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है—"उस वाङ्मय में से यदि हम केवल ऋग्वेद को ही ले लें तो उसका भी महत्त्व संसार के किसी भी प्राचीन स्मारक से कहीं अधिक है; न केवल अपनी प्राचीनता के ही कारण अपितु मनुष्य-जीवन में प्राणप्रद और आशामय स्फूर्ति को देने वाले अपने सार्वभौम और सार्वकालीन संदेश के कारण भी। भारत के लिए तो उस समस्त वाङ्मय का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। उसी वाङ्मय में पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी जैसे अद्भुत ग्रन्थरत्न भी सम्मिलित हैं, जिनकी अपने-अपने क्षेत्र में उत्कृष्टता विदेशी विद्वानों को आज भी आश्चर्यान्वित करती है।" विदेशी विद्वानों में से हम विन्टरनिट्ज के शब्दों को यहाँ अविकल उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं जिन्होंने वैदिक साहित्य को भारोपीय परिवार का प्राचीनतम साहित्य मानकर अपने देश के विद्वानों से इस साहित्य को पढ़ने के लिए आग्रह किया है। उसका कहना है—If we wish to learn, to understand the beginings of our own culture, if we wish to understand the oldest Indo-European culture, we must go to India, where the oldest literature of an Indo-European people is preserved.

वस्तुतः वैदिक साहित्य से ही जीवनीय रस को लेते हुए समस्त परवर्ती साहित्य का सृजन हुआ है उदाहरणतः भारतीय साहित्य में वेदों के पश्चात् ब्राह्मण साहित्य आता है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ (साहित्य) वास्तव में वैदिक ऋचाओं के भाष्य ही हैं। इनमें वैदिक कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्थाओं का अंकन है; इनमें वैदिक कर्मकाण्ड का विस्तृत व्याख्यात्मक वर्णन है। यही नहीं, इन ग्रन्थों में वेद की दार्शनिक मान्यताओं का उद्घाटन हुआ है तथा वैदिक आख्याओं का पल्लवन। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण हैं।

विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्येक वेद के पश्चाद्वर्त्ती इतिहास की झलक भी मिलती है ।

उपर्युक्त ब्राह्मण साहित्य के पश्चात् आरण्यक साहित्य में भी जो कि नगरों में न पढ़े जाकर अरण्य में अध्येतव्य थे । वैदिक यज्ञ के रहस्य एव दार्शनिक तत्वों का विचार वानप्रस्थियों द्वारा संगृहीत किया गया है । उपनिषद् साहित्य का भी विकास वेद एवं आरण्यकों की उपजीव्य (आधार) मानकर हुआ हैं । इस साहित्य वेद निरूपित आत्मा, परमात्मा एवं ब्रह्म का विचार किया गया है । वेद का "**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**" वाला एकात्मवाद का सिद्धान्त यहाँ बहुत जोरों से प्रतिपादित किया गया है । यहाँ प्रजाप्रति का रूप स्पष्ट रूप से निखरा है, जो अस्पष्ट रूप से मिलता है । वैदिक साहित्य में इस उपनिषद् साहित्य का स्थान सबसे अन्त में होने के कारण यह साहित्य **वेदान्त** के नाम से कभी-कभी अभिहीत किया जाता है । वस्तुतः इस उपनिषद् साहित्य में भारतीय ऋषियों ने गम्भीरतम चिन्तन से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया, उसका यहाँ ऊँची-ऊँची काल्पनिक किन्तु युक्तिसंगत उड़ानों के साथ संचय हुआ है । वस्तुतः मेरे विचार से तो वैदिक तत्त्वों का उपनिषद् साहित्य अमूल्य कोष है । इनमें अनेक शतकों की तत्त्वचिन्ता समाहित है ।

सूत्र-साहित्य वैदिक साहित्य के विकाल एवं जटिल होने पर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सिद्धान्तों को एक नवीन रूप दिया गया । कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ का प्रतिपादन करने वाले छोटे-छोटे वाक्यों में सब महत्त्वपूर्ण विधि-विधान प्रकट किए जाने लगे । इन सारगर्भित वाक्यों को सूत्र कहा जाता है । यह साहित्य वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि पर प्रकाश निक्षेप करता है । इनके मूल वेद ही हैं । इस सम्पूर्ण सूत्र साहित्य पर भी वेदों के कर्म-काण्डीय मन्त्रों की छाप है ।

वैदिक साहित्य के जटिलतम होने के कारण अगले समय में वेद के अर्थों तथा विषयों को स्पष्ट करने के लिए वेदांग साहित्य का विकास हुआ, जिसमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष नामक षड् वेदांग प्रसिद्ध हैं । यह समस्त साहित्य वेदों की व्याख्या ही है । फलतः कोई-कोई व्याकरण को वेद का मुख, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका छन्द को पाद (पैर) भी कहते हैं । जब उपर्युक्त साहित्य वेदों की व्याख्या ही

करता है तब उसके ऊपर वैदिक साहित्य का कितना प्रभाव और दाय है, यह बतलाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। वह वस्तुतः वेदमय ही है। डॉ० मंगलदेव जी ने 'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त समस्त भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"परन्तु वैदिक धारा की साहित्यिक देन और प्रभाव का क्षेत्र उसके अपने वाङ्मय से ही परिमित नहीं है। वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त भी संस्कृत साहित्य का जो महान् विस्तार हुआ है, उस पर भी साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से वेदों का तथा वैदिक धारा का महान् प्रभाव पड़ा है; उदाहरणार्थ— **आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और शास्त्र**—ये चार उपवेद माने जाते हैं। उपवेद शब्दों से ही इनका वैदिक आधार या सम्बन्ध स्पष्ट है। प्राचीन परम्परा के अनुसार भी इनका क्रम से ऋग्वेद, अजुर्वेद; सामवेद और अथर्ववेद से सम्बन्ध माना जाता है। **कौटिल्य अर्थशास्त्र** का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्याहि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

(अर्थशास्त्र विद्यासमुद्देश)

अर्थात् आर्य मर्यादाएँ जिसमें व्यवस्थित हैं वर्ण—धर्म और आश्रम—धर्म जिसमें पाले जाते हैं, जो **वेदों** से रक्षित हैं, ऐसा लोक प्रसन्न ही रहता है, दुःख को नहीं पाता। उपनिषदों के जगत् प्रसिद्ध महान् साहित्य का वैदिक धारा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन परम्परा तो उसको वेदों में ही सम्मिलित मानती है।

परवर्ती साहित्य में स्मृतियाँ भी वैदिक धारणाओं को ही अनेकशः पल्लवित करती हैं, इस साहित्य में उन नियमों, कर्त्तव्यों एव अधिकारों को स्पष्टतः विभक्त कर वैदिक राजधर्म, अभिषेक, समावर्त्तन, गृहस्थ धर्म, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, नैतिकता आदि के सिद्धान्तों का वर्गीकरण कर मानवों के सम्मुख यह साहित्य प्रस्तुत हुआ है। स्मृतियों में यत्र-तत्र स्पष्ट शब्दों में घोषित किया गया है कि—

"धर्मं जिज्ञासमाननां प्रमाणं परमं श्रुतिः"

तथा **"श्रुति स्मृति सदाचारः "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"**

इन स्मृतियों के उदाहरणों से वैदिक साहित्य का स्मृति साहित्य पर महत्त्व एवं प्रभाव स्वतः स्पष्ट हो जाता है। विद्वानों का मत है कि वेद स्वतः प्रमाण है और स्मृति परतः प्रमाण है। आशय इसका यही है कि स्मृतियाँ वैदिक साहित्य के मन्तव्यों का ही प्रकाशन करती हैं।

उपर्युक्त विवेचन में हमने भारतीय धार्मिक साहित्य पर वैदिक साहित्य के प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयास किया है, किन्तु आगे हम अब रामायण, महाभारत तथा उसके भी परवर्ती साहित्य पर वैदिक साहित्य के प्रभाव को देखने का प्रयास करेंगे। रामायण और महाभारत दोनों ही ग्रन्थ इतिहास के ग्रन्थ हैं। राजशेखर ने एक स्थान पर लिखा है कि—

"इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थभुववृहयेत्"

इन दोनों ही ग्रन्थों में वैदिक आदर्शवाद, मान्यता एवं आचार-विचार को इतिहास के मिश्रण के साथ प्रतिपादित किया है और उनका जनसामान्य में प्रचार किया गया है। श्रुति प्रतिपादित आचार-शास्त्र के ये ग्रन्थ व्यावहारिक निदर्शन हैं, यह कहना ही वस्तुतः समुचित होगा।

रामायण-महाभारत के बाद का समग्र साहित्य अधिकांश में रामायण व महाभारत में कथानकों को लेकर ही पल्लवित हुआ है और आज भी वह विकास धारा सतत् प्रवाहित है। पुराणों के आविष्कर्त्ता व्यास नामक लेखकों की परम्परा धर्मों का ही प्रतिपादन करती है तथा इस प्रतिपादित तत्व का स्रोत वेद ही हैं, पुराणों के लक्षण—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणिच।
वंशानुचरित चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

से यह आशय सहज ही निकाला जा सकता है कि वैदिक सृष्टि विकास की विचारधारा का पल्लवन इन पुराणों में भी है। डा० मंगलदेवजी ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इस परवर्ती साहित्य पर वैदिक साहित्य के प्रभाव को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

"**पुराण और धर्मशास्त्र** का विस्तृत साहित्य भी, चाहे उसका प्रतिपाद्य कुछ भी हो, बराबर वेदों की महिमा के गीत गाता है। यही बात **रामायण** और **महाभारत** के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भागवत का निर्माण वेदों और उपनिषदों के सार में हुआ है।"

लौकिक साहित्य की कथाओं के मूल स्रोत वैदिक आख्यान ही हैं। उर्वशी

पुरुरवा की कथा, विष्णु वामन की कथा विभिन्न रूपों में विभिन्न साहित्यों में विस्तार के साथ अंकित है। भास के अधिकांश नाटक महाभारत के प्रभाव से प्रभावित हैं, महाभारत का उपजीव्य वेद ही है। रघुवंश का मन्वन्तर निरूपण मेघदूत में निरूपित प्रवृत्तियाँ आचार-विचार रामायण पर आधारित हैं और रामायण का नैतिक आदर्श वैदिक साहित्य से जीवनीय तत्व गृहीत करता है। यह ठीक है कि पैशाचिक भाषा की वृहत्कथा के अनेक अंशों से स्वतन्त्र रचनाएँ की गई हैं किन्तु सदाचार की पद्धति वही प्राचीन है। धर्मयज्ञ के प्रति आस्थानिरूपण चातुर्वर्ण्य की की पुनरावृत्ति आदि से वेद का प्रभाव भी बना हुआ है।

बौद्ध साहित्य में भी सदाचार पूर्ण ब्राह्मण की पूजा का निर्देश है। 'अक्रोध से क्रोध को जीते, सत्य अहिंसा, प्रियवचन, सदाचार आदि की शिक्षाएँ वैदिक ही हैं। यज्ञ की अति का निषेध करने के लिए भक्ति की परम्परा का ग्रहण उपनिषद साहित्य से किया गया है। उपनिषद् भी प्रतीकात्मक रूप में यज्ञों का वर्णन करती हैं। बौद्धधर्म में भी वर्ण-व्यवस्था का यज्ञ का विरोध नहीं है, अपितु यज्ञों को निमित्त बनाकर की जाने वाली हिंसा का विरोध है। बौद्ध-धर्म के पिटक-साहित्य में ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्त हैं। डेविड नामक लेखक का कहना है कि—बौद्ध-धर्म वैदिक-धर्म का विरोधी नहीं है अपितु वह सुधार चाहता है।'' आत्म वचन की प्रामाणिकता वैदिक पद्धति पर ही जैन व बौद्ध मानते हैं। गुरु का महत्त्व, ज्ञान की पवित्रता आदि मान्यताएँ वैदिक ही हैं। जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में दुःखनाश अभीप्सित है वही जैन व बौद्ध भी चाहते हैं, तृष्णा का क्षय औपनिषदिक तत्व है। इसी तृष्णा क्षय के लिए बुद्ध का अत्यधिक आग्रह है। इस प्रकार अनेक वैदिक सिद्धान्तों को जैन व बौद्ध स्वीकार करते हैं।

षट् दर्शनों में वेदान्त व मीमांसा तो खुले आम वेद एवं उपनिषद् की विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं, वैशेषिक व न्याय वेदों को ईश्वरकृत मान कर शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता स्थापित करते हैं। सांख्य भी आनुश्रविक यज्ञों को स्वीकार करता है; किन्तु अनित्य सुख की अपेक्षा वह उपनिषदों के नित्य सुख को चाहता है ''येनाहं नामृता स्याम तेन किं कुर्याम्'' याज्ञवल्क्य की पत्नी की यह महत्त्वाकांक्षा दर्शनों के लक्ष्यरूप में सर्वत्र दिखाई देती है। योग भी वेद के महत्त्व को स्वीकार करता है। 'दार्शनिक साहित्य में आस्तिक कहे

जाने वाले दर्शकों को वैदिक साहित्य से सम्बन्ध इसी से स्पष्ट है कि वे प्रायः वैदिक परम्परा को पुष्ट करने के लिए ही बने हुए हैं या कम से कम वेदों को प्रामाण्य मानकर चले हैं।

नाट्यशास्त्र की जीवन कहानी में भरतमुनि का श्लोक ही उनके नाट्य शास्त्र पर वैदिक प्रभाव के प्रतिपादन के लिए पर्याप्त है। वैसे आपाततः नाट्यशास्त्र और वेदों का कोई सम्बन्ध नहीं दीखता फिर भी नाट्याचार्य का कथन अधिक प्रामाणिक मानकर—नाट्यवेद ततश्चक्रे चतुर्वेदांग संभवम् जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च यजुर्वेदादभिनदान् रसानाथर्वणादपि ॥ अर्थात् पाठ्य विषय-वस्तु ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनव यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से लेकर निर्माण हुआ है। आशय यह है कि **नाट्य और काव्य आदि समग्र भारतीय साहित्य वेदों से प्रभावित हैं।**

आज के हिन्दी और संस्कृत आलोचक समस्त साहित्यिक विधाओं का उद्गम वेदों में खोजने का प्रयास करते हैं और अधिकांश विधाओं का उद्गम स्थल वेदों को स्वीकार भी कर चुके हैं।

भारतीय जीवन में तपोवनों का महत्त्व कितना है, यह किसी से छिपा नहीं है। अनेक गुरुकुलों एवं विद्यापीठों की स्थापना इन्हीं तपोवनों में हुआ करती थी और पुराणों का क्षेत्र माहात्म्य इसी का परिणाम है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सन्त तुलसीदास ने भी अपनी रामायण में वैदिक साहित्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि मैंने "**नानापुराणनिगमागम सम्मत**" ही अपने काव्य का निर्माण किया है। ज्यामिति का विकास यज्ञमंडल में नापी जाने वाली भूमि के आधार पर हुआ होगा, यह सहज कल्पना की जा सकती है। पर इसी प्रकार तन्त्र शास्त्र का बहुत कुछ आधार अथर्ववेद में है ऐसा कहा जाता है। "साम्प्रदायिक साहित्यों पर भी वैदिक साहित्य की छाया अवश्य पड़ी होगी।" डा० मंगलदेव जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में जो धार्मिक, साम्प्रदायिक या दार्शनिक साहित्य लिखा गया है, उसका भी इसी प्रकार वैदिक धारा से किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध दिखलाया जा सकता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय जन-जीवन के दैनन्दिन कार्य-कलाप तक में जब वैदिक साहित्य समाया हुआ है तो उस समाज से निर्मित साहित्य अपने पूर्ववर्ती अमर साहित्य के प्रभाव से कैसे बच सकता है ? एक भारतीय

आर्य का जीवन गर्भाधान-संस्कार से आरम्भ होकर अन्त्येष्टि-संस्कार पर्यन्त अतीत युग की वैदिक संहिताओं की प्रतिध्वनि नहीं तो क्या है ?

इसी प्रकार आज के विश्वविद्यालयों में **'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' तथा 'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्'** आदि प्रेरक Motto तथा दीक्षान्त अवसर पर **'सत्यं वद', 'धर्मं चर'** आदि उपदेशों को वैदिक साहित्य एवं मौलिक पर ही देते हैं ।

इस प्रकार ऊपर की अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा से वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक भारतीय सम्पूर्ण वाङ्मय पर वेदों का अक्षुण्ण एवं मौलिक प्रभाव तथा महत्त्व स्वतः सिद्ध होता है ।

वास्तव में वेद की मौलिकता एवं महत्ता आज भी अक्षुण्ण है ।

प्रश्न—"पाश्चात्य देशों में संस्कृत अध्ययन कार्य" पर एक परिचयात्मक लेख लिखिए ।

Write an essay on "the beginning of the Sanskrit studies in Europe."

—आ० वि० वि० 56

उत्तर—वैदिक साहित्य का विश्व के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह कहना समीचीन ही होगा कि वेद भारतीय ही नहीं, विश्व के मनीषियों के लिए ज्ञान स्रोत रहे हैं । वैसे तो भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता और अपने बहुमुखी व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है । न केवल अपने सुग्रथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङ्मय की अति प्राचीन परम्परा के कारण ही, न केवल अपनी भाषा और वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण ही, अपितु भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा का सदा से अत्यधिक महत्त्व रहा है और बराबर रहेगा । उपर्युक्त विचार डा० मङ्गलदेव जी ने भारतीय संस्कृति का विकास नामक ग्रन्थ में व्यक्त किये हैं; किन्तु प्रस्तुत विचार एक भारतीय विद्वान के हैं; अतः इनमें स्वदेश-प्रेम, स्वदेशी साहित्य प्रेम का मोह एक बार को स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु पाश्चात्य विद्वान् विन्टरनिट्ज के इन विचारों पर भी दृष्टि निक्षेप कर लेना चाहिए । उनका मत तो यहाँ तक है कि वैदिक साहित्य साधक ही भारतीय संस्कृति

का हृदयङ्गम कर सकता है, अन्य नहीं । साथ ही भारतीय परिवारों के विद्वानों को वह चेतना देता हुआ लिखता है कि—

"If we wish to learn, to understand the beginning of our own culture. If we wish to understand the oldest Indo-European culture, we must go to India where the oldest literature of an Indo-European people is preserved."

इस प्रकार एक विन्टरनिट्ज ही, न जाने कितने पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है । ओल्डनवर्ग वेदों को Oldest Document of Indian Literature and Religion मानता है । इन्हीं कुछ आकर्षक विशेषताओं ने पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय साहित्य के मंथन के लिए आमन्त्रित किया । उस समग्र कहानी को हम विन्टरनिट्ज के आधार पर नीचे दे रहे हैं ।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में कुछ पाश्चात्य यात्रियों एवं मिशनरियों ने भारतीय साहित्य से परिचय प्राप्त किया । 1651 ई० में डचमैन अब्राहम रोगर ने जो एक उपदेशक के रूप में मद्रास में रहता था, कहा कि Open door to the Hidden Heathardom. इस व्यक्ति ने भर्तृहरि के श्लोकों की कुछ सूक्तियों का पुर्तगाली भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया था । सन् 1699 में Jesuit Father Johann Ernest Hanziden भारत में आए । इन्होंने तीस वर्ष तक यहाँ मिशन में कार्य करते हुए भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया, केवल अध्ययन एवं परिचय ही प्राप्त नहीं किया, अपितु संस्कृत व्याकरण पर Grammatica Granthamia Sen Samscrdumica नामक एक पुस्तक भी लिखी, जो कि किसी विदेशी द्वारा लिखित प्रथम व्याकरण की पुस्तक थी, किन्तु दुर्भाग्य बेचारे लेखक का रहा कि वह इसे प्रकाशित न कर सका । इसका उपयोग Fra Paolinodest Barthomeo ने किया और व्याकरण पर दो पुस्तक तथा कुछ अन्य पुस्तक भी लिखीं । यदि इस व्यक्ति के साहित्य का अध्ययन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन्होंने ब्राह्मण साहित्य, भारतीय भाषाओं और धार्मिक विचारों का गम्भीर अध्ययन किया था ।

भारत में अंग्रेजों द्वारा भारतीय साहित्य के अध्ययन का द्वितीय चरण भारत में English राज्य के वास्तविक संस्थापक वारेन हेस्टिग्ज के समय

प्रारम्भ होता है। भारतीयों के अंग्रेजी ज्ञान के द्वारा भारतीय कानून पर इसी काल में अध्ययन हुआ, जिसका मुख्य उद्देश्य अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता करना ही था। हेस्टिंग्ज ने ब्राह्मणों से एक पुस्तक "विवादार्णव सेतु" को लिखवाया जिसमें पारिवारिक कानून एवं Indian Law Inheritance का वर्णन है। इसका संस्कृत से फारसी में तथा फारसी से अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ।

चार्ल्स विल्किंस ने सर्वप्रथम संस्कृत सीखी। इन्होंने 1785 में गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया यही नहीं, इसके दो वर्ष बाद हितोपदेश तथा 1795 में शकुन्तला का अनुवाद किया। 1808 में व्याकरण की पुस्तक लिखी। विलियम जोन्स (1746-1794) जैसे न्यायाधीश ने भी एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना कर अनेक संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन किया। विलियम जोन्स ने 1789 में शकुन्तला का अनुवाद प्रकाशित किया, 1782 में ऋतुसंहार तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जो इन्होंने किया, वह था—मनुस्मृति (1794) का अनुवाद। जोन्स के शाकुन्तल के अनुवाद का जर्मन में अनुवाद होने पर Herder तथा Goethe आदि को संस्कृत पढ़ने की प्रेरणा मिली। जोन्स ने भाषा-विज्ञान की दृष्टि सबसे पहले ग्रीक, लैटिन, जर्मन, केल्टिक और फारसी भाषाओं का संस्कृत से साम्य दिखाया। जोन्स के भारत में ग्यारह वर्ष रहने का ही यह समस्त परिणाम था।

हेनरी टॉमस कॉलब्रुक (1765-1837) ने जोन्स के अनुवाद कार्य को बढ़ाने के साथ ही भारतीय भाषा-विज्ञान एवं पुरातत्व के अध्ययन को आरम्भ किया। यह व्यक्ति 17 वर्ष की आयु में 1782 में कलकत्ता आया था तथा इसने जोन्स के पथ प्रदर्शनानुसार संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रारम्भ किया। कानूनी पुस्तकों का अनुवाद भी किया। वैज्ञानिक पुस्तकों की ओर भी हाथ बढ़ाया। दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिष, अङ्कगणित-विषयक अनेक निबन्ध भी लिखे। 1805 में On the Vedas नामक प्रसिद्ध लेख लिखा। अमरकोश आदि कोश-ग्रन्थों का भी सम्पादन किया। एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वह था अनेक भारतीय ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों का एकत्र करना।

टॉमस के अनन्तर महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अलैक्जेण्डर हेमिल्टन (Alexander Hamilton—1765-1824) है—नैपोलियन द्वारा फ्रांस में बन्दी बनाए जाने

वाले समय में इनसे अनेक फ्रांसीसी विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन किया। इन संस्कृत सीखने वाले व्यक्तियों में फ्रेडरिक श्लेगेल (Fredrick Schlegle) का नाम महत्त्वपूर्ण है। श्लेगेल रोमान्टिक स्कूल के व्यक्तियों में से हैं। इन्होंने 1808 से On the Language and Wisdom of the Indians नामक पुस्तक लिखकर जर्मन से संस्कृत पढ़ने के लिए न जाने कितने व्यक्तियों को आकृष्ट किया। इसी काल में श्लेगेल ने जर्मनी में भारतीय भाषा-विज्ञान का भी शिलारोपण किया। श्लेगेल ने रामायण, महाभारत, गीता, मनुस्मृति तथा महाभारतीय शाकुन्तल कथा के आंशिक अनुवाद प्रस्तुत किए। वास्तव में इसी व्यक्ति ने सर्वप्रथम संस्कृत से जर्मन भाषा में इन ग्रन्थों के अनुवाद किए। फ्रेडरिक श्लेगेल के भाई A. W. Von Schlegel ने 1814 में फ्रेंच प्रोफेसर Chezy से संस्कृत सीखी जो कि स्वय प्रथम फ्रेंच विद्वान था जिसने संस्कृत पढ़ी और दूसरों को पढ़ाई भी। वॉन श्लेगेल विश्वविद्यालय में संस्कृत का प्राध्यापक बना और उसने गीता का अनुवाद, रामायण का सम्पादन तथा भाषा-विज्ञान विषयक कार्य भी किया। Fraz Bopp (फ्रेंज बॉप) ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, रामायण, महाभारत के अनुवाद, नल-दमयन्ती कथा का लैटिन अनुवाद किया। Wilhelm Von Hemholdt का नाम भी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में सदैव अविस्मरणीय रहेगा। यही नहीं, इस व्यक्ति ने गीता का भी सुन्दरतम अनुवाद किया है। इसी प्रकार जर्मन विद्वान Ruckert ने अनुवाद के क्षेत्र में अनुपम कार्य किया है। इस समय तक जो भारतीय वाङ्मय का पाश्चात्य विद्वानों ने अध्ययन एवं प्रकाशन किया, उनमें शकुन्तला, मनुस्मृति, गीता रामायण, महाभारत, हितोपदेश के अनुवाद एवं एतद्विषयक अनुसन्धान ही थे। वैदिक साहित्य अभी तक इनसे अज्ञात था, बौद्ध साहित्य भी पूर्णतया परिचित नहीं था, उपनिषदों की भी यही स्थिति थी। वैसे 17वीं शताब्दी में उपनिषदों का फारसी में अनुवाद दारा शिकोह ने अवश्य ही किया था; किन्तु पश्चिम के देश अपरिचित ही थे। 1838 में Friedrick Rosen ने ऋग्वेद के 1/2 अंश का एक संस्करण प्रकाशित किया; किन्तु इस व्यक्ति की अकाल मृत्यु से यह कार्य पूर्ण न हो सका। फ्रेंच विद्वान् Eugene Burnouf ने अपने कुछ शिष्यों को एकत्र करके वेदों का अध्ययन केन्द्र स्थापित किया। इन शिष्यों में Rudolf Roht और F. Maxmuller का नाम मुख्य है—Roth ने ऋग्वेद पर अंग्रेजी टीका की। इनकी

पुस्तक On the Literature and History of Veda 1846 में प्रकाशित हुई। Maxmuller ने सायण की टीका सहित एक संस्मरण ऋग्वेद का प्रकाशन कराया किन्तु इसके भी पूर्व Thomas Aufrecht सम्पूर्ण मूल ऋग्वेद का प्रकाशन कर चुका था।

दारा शिकोह के उपनिषदों के अनुवाद को पढ़कर 19वीं शताब्दी में फ्रांसीसी विद्वान Anquetildu Perrum ने लेटिन में अनुवाद किया। यद्यपि यह अनुवाद अपूर्ण एवं अशुद्ध भी था, तथापि श्लेगेल एवं शापेनहावर जैसे विद्वानों के लिए प्रेरणा श्रोत बना, शापेनहावर संस्कृत के अध्ययन के लिए उन्मुख हुआ। उपनिषदों के लिए शापेनहावर ने लिखा है–"The production of the highest human wisdom."

Engene Burnouf ने सर्वप्रथम पालि साहित्य पर अनुसंधानात्मक कार्य किया और 1826 में Lassen के साथ मिलकर Essai Surle Pali नामक पुस्तक प्रकाशित की और भविष्य के लिए बौद्ध साहित्य के अध्ययन एवं अनुसन्धान के लिए पथ प्रशस्त किया।

इस संस्कृत के अध्ययन कार्य में वीयाना के प्रो० वूह्लर के योगदान को कैसे भुलाया जा सकता है ? वूह्लर ने अनेक देशों के शिक्षा-विशारदों के सहयोग से विशाल वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य के एक विश्वकोश को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया था, उनके स्वर्गवास के पश्चात् कीलहार्न ने इस ग्रन्थ को पूर्ण करने का संकल्प किया। संस्कृत साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास ग्रन्थ लिखने वाले Aprecht Weber 1852 को संस्कृत के जिज्ञासुओं की पंक्ति से कथमपि पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार 40 वर्ष के कठोर श्रम करने के उपरान्त Therdor Aufrecht के Catalogus Catalogurum की भी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? अन्य बहुत से पाश्चात्य विद्वान् जिन्होंने भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का अनुसन्धानात्मक कार्य किया, वे हैं—मैक्डानल हॉपकिस; हार्विट्ज, विन्टरनिट्ज पार्जिटर, ओल्डनवर्ग, पीटर्सन, हर्टल, ऐजर्टन, रिजवी, कीथ आदि। बस इतनी सी ही संक्षिप्त कहानी संस्कृत साहित्य के पाश्चात्य देशों के परिचय की है जो कि पाश्चात्य विद्वान मनीषियों के अध्यवसाय एवं जिज्ञासु प्रवृत्ति की सूचक है। आज तो संस्कृत का न जाने किन किन देशों में अध्ययन हो रहा है। वस्तुतः यह भारतीय विश्वकोश के लिए सदा पठनीय बना रहेगा।

प्रश्न—वेदाध्ययन करने वाले प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों के कार्य की समीक्षा कीजिए। —आ० वि० वि० 60

Assess the value of the contribution to the Vedic studies made by prominent Western Schloars.

उत्तर—प्राचीन मध्यकाल में योरोपीय देशों में भारतीय साहित्य की ख्याति पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि की कथाओं के माध्यम से पहुँच चुकी थी, इतना सब होते हुए भी यूरोपवासी भारतीय संस्कृति एवं वैदिक साहित्य से सर्वथा अपरिचित ही थे। सत्रहवीं सदी में कुछ यूरोपीय धर्म-प्रचारकों ने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया, इसी मध्य एक यहूदी प्रचारक ने यजुर्वेद की नकली प्रति का प्रचुर प्रचार किया और इस पुस्तक का उनके देश में अत्यधिक आदर हुआ यद्यपि वाल्टेयर जैसे व्यक्तियों ने इसको महत्त्व दिया था, किन्तु वास्तव में इसी पुस्तक के कारण ही पाश्चात्य देशों में संस्कृत साहित्य एवं भाषा के सम्बन्ध में कुछ भ्रमों की उद्भावना भी हुई, जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत साहित्य एक भ्रमपूर्ण निरर्थक ब्राह्मणों का वाग्जाल भी सिद्ध किया गया। इतना होने पर भी भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासकों ने चिर स्थायी शासन करने की कामना से यहाँ की भाषा साहित्य धर्म एवं संस्कृति आदि के परिचय की आवश्यकता का अनुभव किया, इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारतीय साहित्य के प्रति अनेक पाश्चात्य विद्वानों का आकर्षण बढ़ा। इसी परम्परा में संस्कृत-साहित्य का अध्ययनाध्यापन पर्याप्त होने लगा। वेदों की ओर भी इन विद्वानों की दृष्टि गई—सन् 1784 में सर विलियम जोन्स ने कलकत्ता में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी नामक शोध संस्था की स्थापना की। यह वह प्रयास एवं काल है जब से पाश्चात्य विद्वानों ने लगन के साथ वैदिक ज्ञानराशि को विश्व के मानस-पटल पर रखने का स्तुत्य संकल्प किया, मात्र संकल्प ही नहीं किया, कार्य रूप में परिणत भी किया।

1805 ई० में कोलब्रुक महोदय ने 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्र में वेदों से सम्बन्धित एक विवेचनात्मक खोजपूर्ण निबन्ध लिखा। इस लेख में फ्रेन्च वाल्टेयर द्वारा प्रसारित वैदिक साहित्य से सम्बद्ध समस्त भ्रान्त धारणाओं का निराकरण किया गया है और भारतीय साहित्य के विषय में मूल्यवान विचार व्यक्त किए हैं। इसके लगभग पच्चीस वर्ष उपरान्त रोजेन नामक जर्मन विद्वान् ने लगन एवं उत्साह के साथ ऋग्वेद का सम्पादन करना

प्रारम्भ किया; किन्तु इनकी असामयिक मृत्यु से केवल प्रथम अष्टक मात्र ही प्रकाशित हो सका।

1846 ई० में वैदिक साहित्य के विषय में रुडालफराथ नामक जर्मन विद्वान् ने 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक स्वल्पाकार किन्तु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक पुस्तक लिखी, जो कि यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन के लिए एक प्ररणा पुस्तक है।

रॉथ महोदय ने वेदों के अनुवाद में ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया है। इन्होंने भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म का सहारा लेकर ऐतिहासिक पद्धति को अपनाकर 'सेन्टपीटर्स वर्ग संस्कृत जर्मन महाकोश' का निर्माण किया है। ग्रन्थ रॉथ महोदय के अध्यवसाय एवं विद्वत्ता का परिचायक है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक शब्द का अर्थ विकासक्रमानुरूप वैदिक एवं लौकिक ग्रन्थों के उद्धरणों के साथ दिया गया है। इस कोष में वैदिक शब्दों का अर्थ संकलन रॉथ तथा लौकिक संस्कृत शब्दों का अर्थ निर्णय जर्मन विद्वान् बोठलिंग ने किया है।

पश्चिमी विद्वानों द्वारा किये गये वैदिक साहित्य विषयक कार्य को भी बलदेव उपाध्याय ने तीन भागों में विभक्त किया है, वह इस प्रकार है—

(1) वैदिक ग्रन्थों का वैज्ञानिक शुद्ध संस्करण

(2) वैदिक ग्रन्थों का अनुवाद

(3) वेदार्थ के अनुशीलन विषयक ग्रन्थ तथा वैदिक संस्कृति के रूप प्रकाशक व्याख्या ग्रन्थ।

ग्रंथों का संस्करण

वैदिक साहित्य के अध्ययनकर्त्ताओं के सर्वाधिक उदारचेता विद्वान् मेक्समूलर महोदय हैं, आपने वैदिक साहित्य का अत्यधिक प्रचार किया है। आपकी प्रतिभा भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन कर उसके मूल में पहुँचने में प्रवीण है। आपके ऋग्वेद के सायण-भाष्य का सर्वप्रथम विवेचनापूर्ण सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त लगन से यहाँ के ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद आदि कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस विशाल ग्रन्थ का सम्पादन, विस्तृत भूमिका तथा विद्वान् लेखक की टिप्पणियाँ अपने में बेजोड़ हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन 1849 ई० में प्रारम्भ हुआ था 1815 में वह पूर्णतः प्रकाशित हुआ मैक्समूलर महोदय की द्वितीय कृति 'वैदिक संस्कृत साहित्य' है जिसमें इन्होंने

वैदिक साहित्य के विषय में पर्याप्त विचार-विमर्श किया है इसके साथ ही साथ पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला में अनेक विद्वानों के लेखों व अनुवादों को आपने प्रकाशित किया है।

वेद-विद्यार्थी डॉ० वेबर का नाम भी वैदिक साहित्य के अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में उच्चतम स्थान को प्राप्त करता है। अद्वितीय प्रतिभा-शाली इस विद्वान् ने यजुर्वेद संहिता तथा तैत्तिरीय संहिता का प्रकाशन किया है। यही नहीं, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य इनका "इन दशेस्तूदियन" नामक जर्मन शोध-पत्रिका का प्रकाशन है। इसमें न जाने कितने लेख और अनुवादों का प्रकाशन हुआ है। इसी परम्परा में आउफ्रेक्ट नामक विद्वान् द्वारा रोमन-लिपि में प्रकाशित ऋग्वेद का संस्मरण भी है। जर्मन विद्वान् श्रोदर का मैत्रायणी संहिता तथा काठक संहिता का प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण कार्य है। स्टीवेन्सन महोदय का राणायनी शाखा की सामसंहिता का 842 में इंगलिश अनुवाद सहित, बेनफेंसाहब का कौथुमीय शाखीय सामसंहिता का, 1848 में जर्मन अनुवाद तथा रॉथ और ह्विटनी द्वारा 1856 में अथर्व-वेद का संस्करण; कश्मीर में प्राप्त अथर्ववेदीय जीर्ण शीर्ण पिप्पलाद-संहिता का प्रो० ब्लूमफील्ड तथा गार्वे द्वारा सचित्र तीन संस्करणों में प्रकाशन पश्चिमी विद्वानों का वेद विषयक प्रेम तथा अध्यवसाय एवं उनकी साहित्य जिज्ञासु प्रवृत्ति का परिचायक है।

प्रो० हाग का भूमिका सहित ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद डा० आउफ्रेक्ट द्वारा इसी ऐतरेय ब्राह्मण का रोमन अक्षरों में एक संस्करण; प्रो० लिण्डन कृत कौषीतकी ब्राह्मण का संस्करण; माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण का बर्लिन से प्रकाशित वेबर महोदय का संस्करण आदि ब्राह्मण ग्रन्थ भी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पूर्ण सजधज के साथ प्रकाशित हुए हैं। डॉ० बर्नेल ने अनेक सामवेदी ब्राह्मणों का प्रकाशन कराया है; इसी प्रकार जैमिनीय ब्राह्मण का कुछ महत्त्व-पूर्ण अंश सटिप्पणी अंग्रेजी अनुवाद सहित डॉ० एर्टल ने प्रकाशित कराया है। इसी का जर्मन अनुवाद डॉ० कैलेण्ड ने प्रकाशित कराया है। प्रो० गास्ट्रा द्वारा प्रकाशित गोपथ ब्राह्मण का नागर अक्षरों में प्रकाशित संस्करण भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयास है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक श्रौत सूत्रों का भी प्रकाशन किया है। आश्व-लायन तथा पारस्कर गृहसूत्र के सम्पादक स्टेन्सर, शांखायन श्रौतसूत्र के

सम्पादक हिलेब्राण्ट, बोधायन श्रौतसूत्र के सम्पादक कैलेण्ड, आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र के सम्पादक गार्वे, मानव श्रौतसूत्र के सम्पादक क्नाउएर (Kanuer) कात्यायन श्रौतसूत्र के सम्पादक वेबर तथा कौशिक श्रौतसूत्र के सम्पादक ब्लूमफील्ड के नाम भी उल्लेखनीय हैं, सम्पादित संस्करण इनके परिश्रम एवं साधना के परिचायक हैं।

अनुवाद

यूरोपीय विद्वानों ने जहाँ प्राचीन ग्रन्थों के संस्करण निकाले वहाँ अनुवाद कार्य भी किया है। सबसे पहले सन् 1850 में डा० विलसन ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का सायणभाष्य सहित अनुवाद प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का एक अनुवाद ग्रासमन महोदय ने जर्मन पद्य में किया, तो दूसरा रॉथ महोदय की इस शैली का अनुकरण करते हुए लुडविग ने जर्मन गद्यानुवाद किया। इसके कुछ समय बाद ही ग्रीफिथ महोदय ने ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया; इस अनुवाद कार्य में ग्रीफिथ ने सायण भाष्य का भी पूरा-पूरा उपयोग किया है। जर्मन विद्वान डा० ओल्डनवर्ग ने ऋग्वेद की एक विवेचनापूर्ण मार्मिक व्याख्या की है। इससे उन्होंने प्रत्येक सूक्त के ऊपर विशद विवेचन किया है। स्थान-स्थान पर प्राप्त विद्वानों के विचारों का उल्लेख किया है। ओल्डनवर्ग महोदय ने एक अन्य कार्य ऋग्वेद के छन्द आदि के विषय में किया है। ऊपर निर्दिष्ट सभी अनुवाद ग्रंथ ऋग्वेद के अध्ययन के लिए सहायक एवं प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं।

यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा का अंग्रेजी में एक अनुवाद ग्रीफिथ ने किया है। डा० कीथ का तैत्तिरीय संहिता का अनुवाद भी उल्लेखनीय कार्य है जो कि अनुवाद की प्रतिभा का परिचायक है। ग्रीफिथ महोदय का सामवेदीय अंग्रेजी पद्यानुवाद तथा ग्रीफिथ एवं ह्विटनी का अथर्ववेद का अनुवाद भी वैदिक साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए एक उपादेय ग्रन्थ है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत शतपथ ब्राह्मण का इंगलिश D. J. Eggeling कृत अनुवाद उनकी साधना का परिचायक है जो 'पवित्र प्राच्य ग्रंथमाला' से पाँच जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। ऋग्वेद ऐतरेय एवं कौषीतिकी ब्राह्मण का डा० कीथ का अनुवाद सुन्दर है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उनकी सौ पृष्ठों वाली भूमिका। सामवेद विषयक विचारों से युक्त तांडय महाब्राह्मण का डा० कैलेण्ड कृत अनुवाद अपने में पूर्ण है। इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र कर्मकाण्ड विषयक विचार

भी दे दिये गये हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त ग्रासमान का वैदिक कोष ऋग्वेदीय ज्ञानराशि को सबके समक्ष रखने में असमर्थ है। इसी प्रकार डा० मैकडानल तथा कीथ महोदय का वैदिक इन्डेक्स भी भारतीय संस्कृति का परिचायक अनुपम ग्रन्थ है।

वैदिक व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ ग्रन्थ पाश्चात्य विद्वानों ने लिखे हैं। ह्विटने ने यद्यपि लौकिक संस्कृत से सम्बद्ध व्याकरण का ग्रन्थ ही लिखा है; किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से वैदिक व्याकरण को भी लिया गया है। डा० मैकडानल का वैदिक व्याकरण (Vedic Grammar 1910 जर्मनी) सर्वाधिक व्याकरण विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसी प्रकार डा० वाकरनागेल का वैदिक व्याकरण जर्मन भाषा में लिखित अपने विषय का प्रौढ़ ग्रन्थ है।

जहाँ वैदिक व्याकरण के ऊपर इन विद्वानों ने ग्रन्थ लिखे हैं वहाँ छन्दों को भी नहीं छोड़ा। इस विषय भी प्रो० वेबर तथा आर्नाल्ड ने पर्याप्त श्रम किया है।

वैदिक पुराण-विज्ञान के ऊपर पाश्चात्य विद्वानों ने अनुपम कार्य किया है। इसमें वैदिक धर्म का अन्य धर्मों से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वैदिक धम पर प्रो० मैक्समूलर, मैकडानल तथा जर्मन विद्वान् हिलेब्राण्ट ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। जर्मन भाषा में लिखित हिलेब्राण्ट का वेदिशेमथोलोजी एक वृहदाकार रचना है। इसके अतिरिक्त डा० मैकडानल का वैदिक माथो-लोजी भी एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। डा० कीथ रचित 'रिलीजन एण्ड फिलासोफी आफ वेद एण्ड उपनिषद्' नामक ग्रन्थ वैदिक धर्म तथा उपनिषद् के तत्त्व ज्ञान की एक प्रामाणिक मीमांसा करने वाला ग्रन्थ है।

वैदिक साहित्य के इतिहास विषयक ग्रन्थों की रचना भी इन यूरोपीय विद्वानों ने की है जिनमें डा० बेबर का 'वेद का साहित्य का इतिहास' वैदिक साहित्य का परिचय का देने वाला सर्वप्रथम है। यह ग्रन्थ पहले जर्मनी भाषा में निकला था; किन्तु बाद में इसका अंग्रेजी में भी अनुवाद किया गया था। मैक्समूलर महोदय का 'हिस्ट्री आफ एनशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक वैदिक साहित्य का सूक्ष्म परिचय देने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसी प्रकार मैकडानल महोदय का 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' नामक ग्रन्थ वैदिक साहित्य का विशेषतः परिचय देता हुआ प्रारम्भिक ज्ञान के इच्छुक छात्रों के लिए उपयोगी ग्रन्थ है। ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थों के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' जो कि ऊपर बताये तीनों

ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं पूर्ण विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ तीनों भागों में पहले जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ था, किन्तु बाद में इसके दो भागों का अंग्रेजी में अनुवाद कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। अब इसके एक भाग का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

वैदिक साहित्य के अध्ययन की परम्परा में वैदिक साहित्य के सूची ग्रन्थों की भी उपयोगिता है। प्राचीन भारत के अनुक्रमणी ग्रंथ इन ग्रन्थों के प्रेरणा स्रोत कहे जा सकते हैं। इस विषय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ डा० ब्लूमफील्ड का 'वैदिक कान्कार्डेस ग्रन्थ है, जिसमें वैदिक ग्रंथों की प्रत्येक ऋचा प्रत्येक पाठ तथा प्रैष गद्यमय यजुर्वाक्यों की वृहद् सूची है। इस ग्रन्थ में विभिन्न पाठ भेदों का भी संग्रह किया गया है। डा० ब्लूमफील्ड का दूसरा ग्रन्थ 'ऋग्वेदिक रेपिटीशन्स' है जिनमें ऋग्वेद के मन्त्र एवं पादों की कहाँ-कहाँ पुनरावृत्ति हुई है, इसका परिचय दिया जाता है। इसी परम्परा में कर्नल जैकन का 'उपनिषद् वाक्य कोश' ग्रन्थ 66 उपनिषदों एवं गीता के वाक्यों की सूची प्रस्तुत करने वाला बहुमूल्य ग्रन्थ है। लुईरेनो का 'वैदिक साहित्य ग्रन्थ सूची' नामक ग्रन्थ भी यूरोपीय विद्वानों के संस्कृत प्रेम एवं लगन का सूचक ग्रन्थ है, जिसमें अनेक निर्मित ग्रन्थों एवं लेखों का परिचय दिया गया है। अन्त में हम कह सकते हैं कि यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक साहित्य का पर्याप्त मन्थन किया है। उनका श्रम तथा साधना एवं उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति सभी कुछ सराहनीय है।

प्रश्न—"भारतीय साहित्य के इतिहास में दी गई समस्त तिथियाँ कागज में लगाई गई उन पिनों के समान हैं जो फिर से निकाल ली जाती हैं।" ह्विटनेकृत संस्कृत ग्रामर की भूमिका में उद्धृत इस कथन की समीक्षा कीजिए।

Discuss all dates given Indian literary History are pins set up to be bowled down again. —आ० वि० वि० 56

उत्तर—भारतीय साहित्य के समय निर्धारण का प्रश्न आज भी निर्णायक रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सका है; समय निर्धारण की कितनी ही समस्याएँ अद्यावधि सुलझाने को हमारे सामने उपस्थित हैं। इस दिशा में जितना भी आज तक प्रयत्न किया गया है; वह सब मात्र अनुमान के आधार पर ही है; उदाहरण के लिए ऋग्वेद के समय का निर्णय आज तक सर्वसम्मत नहीं हो सका है जो कुछ हुआ भी है, उसमें यदि दस-बीस वर्षों का अन्तर हो तो

कोई बात नहीं। यदि एकाग्र शताब्दी का अन्तर हो तो वह भी उपेक्षणीय है, किन्तु वहाँ तो हजारों वर्षों का अन्तर विद्यमान है। इसी प्रकार रामायण, महाभारत, भास, अश्वघोष तथा कालिदास के समय निर्धारण का भी प्रश्न है। इन्हीं सब समस्याओं को देखकर अमेरिकन विद्वान W. D. Whiteny ने अपनी संस्कृत ग्रामर की भूमिका में लिखा था कि भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई समस्त तिथियाँ कागज में लगाई हुई उन पिनों के समान हैं जो इच्छानुसार निकाल ली जाती हैं (All dates given in Indian literary History are pins set up to be bowled down again.) इस विषय में अधिक कुछ लिखने से पूर्व हम ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव के कारणों का परिज्ञान कर लें तो अधिक उपयुक्त होगा। भारत एवं पाश्चात्य देशों में इतिहास शब्द के अर्थ में मौलिक भेद है। इतिहास शब्द से पश्चिम में केवल तिथियों का ज्ञान ही पर्याप्त माना जाता है, किन्तु भारत में सदा से ही इतिहास का अर्थ संस्कृति एवं सभ्यता लिया गया है। संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा से सम्बद्ध मानवीय विभूतियों को यहाँ सदा से महत्त्व दिया जाता रहा है। इसीलिए यहाँ के साहित्य में बौद्धिक, आध्यात्मिक जीवन के सूक्ष्मतम चित्रों एवं विकास की गाथा का सफल अंकन हुआ है। इसी पृष्ठभूमि में भारत में ऐतिहासिकता का सर्वथा अभाव है, यह कहना उचित नहीं है। हाँ, दृष्टिकोण का अन्तर ही प्रधान है। दूसरी बात यह है कि यहाँ की विचारधारा भी इस दिशा में प्रधान कारण है। कर्म और भाग्य का सिद्धान्त मन्त्र-तन्त्र जादू टोने पर विश्वास तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति का अभाव आदि कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो इतिहास के प्रणयन में बाधक हैं। तीसरी बात यह भी है कि भारत में आज के अर्थों में राष्ट्रीयता का सदा अभाव रहता है। फलतः ऐतिहासिक तत्त्व अधिक नहीं उभर सके हैं; क्योंकि बात यह है कि भारतीय परम्परा पूर्ववर्ती या सम-सामयिक राजाओं के इतिहास और प्रशस्ति काव्यों के निर्माण की अपेक्षा रामायण-महाभारत के पात्रों से सम्बद्ध नायकों के चरित्र को अपनी कृतियों के लिए चुनते रहते हैं और यदि किसी कवि ने सम-सामयिक राजा की प्रशस्ति का गान किया है तो वह समाज में प्रशंसा एवं सम्मान उतना नहीं प्राप्त कर सका—जितना रामायण महाभारत के चरित्र नायकों के गान करने वालों ने प्राप्त किया है। पाँचवीं बात यह भी हम कह सकते हैं कि यहाँ के ग्रन्थों के निर्माण एक व्यक्ति से नहीं, उनके सम्पूर्ण परिवार के परिश्रम के परिणाम होते हैं, उदाहरण के लिए ऋग्वे

की अनेक ऋचाएँ एक एवं अनेक परिवार के ऋषियों की कोमल कल्पनाएँ हैं इसी प्रकार यहाँ के अधिकांश ग्रन्थ, कुटुम्ब ग्रन्थ, सम्प्रदाय ग्रन्थ या मठ-गुरु ग्रन्थों के रूपों में मिलते हैं। इसी से सम्बद्ध एक तथ्य और यह भी है कि यहाँ एक ही नाम की उपाधि-सी चल निकलती है;—जैसे—व्यास एवं विक्रमादित्य। फलतः ऐतिहासिक तत्त्वों के विश्लेषण में व्याघात उपस्थित हो जाता है। बहुत से नाम कुटुम्ब या गोत्र के ऊपर चल निकलते हैं, उनमें भी यही कथा निहित है। एक और बात यह भी है कि यदि किसी ग्रन्थकार का नाम मिलता है तो उनके माता-पिता का नाम नहीं होता; तो दूसरी ओर एक ही नाम के अनेक प्रणेता हो जाते हैं। नाम देने पर भी परिणाम में वही ढाक के तीन पात रहते हैं और यदि भाषा के आधार पर निर्णय करना चाहें तो वह भी नहीं हो पाता; क्योंकि यदि हम उदाहरण के लिए कालिदास और अश्वघोष को लें तो भाषा की प्राञ्जलता और सौष्ठव देखकर यही कहेंगे कि कालिदास अर्वाचीन हैं, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है और यदि लेखन-शैली को आधार बनाकर अध्ययन करें तो यह भी समीचीन नहीं होता, क्योंकि कुछ साहित्यकार व्यक्तिगत नाम की अपेक्षा ग्रन्थ को अधिक प्रसिद्ध करना चाहते हैं। अतः किसी प्राचीन ग्रन्थ की शैली को अपना कर एक नूतन काव्य साहित्य की सृष्टि वे कर डालते हैं। फलतः वह कृति प्राचीन समझ ली जाती है। यदि यह बात यहीं तक सीमित हो तो भी गनीमत है। वे अपना नाम भी न देकर पूर्ववर्ती किसी लेखक का नाम भी देते हैं। भाषा शैली में एक बात और भी है, वह यह कि ग्रन्थों के मुद्रण यन्त्रों के अभाव में स्मरण के आधार पर उनके अनेक संस्करण मिलते हैं जिससे भाषा का स्वरूप भी कुछ निर्धारित नहीं हो पाता है। इसलिए भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में Relative Chronology ही दी जा सकती है। यही कहा जा सकता है कि यह इससे पुराना है, वह इससे। किन्तु कभी-कभी यही Relative Chronology भी समय-निर्धारण में सहायक नहीं हो पाती है।

किन्तु यह कहना कि भारतीय इतिहास-सत्य से सर्वथा अपरिचित है, नितान्त अनुचित होगा; क्योंकि कल्हण की राजतरंगिणी एवं विल्हण का विक्रमाङ्कदेव चरित, पद्मगुप्त रचित नवसाहसांक चरित, बाणभट्ट-कृत हर्ष चरित्र आदि ग्रन्थों में अनेकानेक ऐतिहासिक निर्णायक तत्त्वों का समावेश है।

भाषा-साक्ष्य पर वेदों की प्राचीनता सिद्ध की जा चुकी है। बौद्ध एवं जैन साहित्य का काल निर्णय अनिश्चित नहीं है। विभिन्न शिलालेख, मन्दिर, सिक्के, ध्वंसावशेष आदि इनके इतिहास की ओर संकेत कर रहे हैं। बौद्ध धर्म का उदयकाल 500 ई० पू० है। बौद्ध साहित्य में वैदिक साहित्य के संकेत सूत्र मिल ही जाते हैं। अत: वैदिक साहित्य निश्चय प्राक-बौद्धकालीन है। भारतीय साहित्य की तिथि के विषय में अधिक निश्चित सूचना बाह्य साक्ष्य से प्राप्त होती है। सिकन्दर ने 326 ई० में भारत पर आक्रमण किया था। इसके द्वारा ग्रीक प्रभावित साहित्य का काल निर्णय किया जा सकता है। इसी के आधार पर ज्ञात होता है कि 315 ई० पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य सिंहासनासीन हुआ। इसी के कुछ दिन बाद मेगस्थनीज सेल्युकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त के दरबार में आया। इसके द्वारा लिखित भारतीय सांस्कृतिक अवस्था के उल्लेखों को विभिन्न ग्रन्थों को देखकर उन ग्रन्थों का रचना-काल निश्चित किया जा सकता है। 264 ई० पू० में अशोक का राजगद्दी पर बैठना इतिहास विदित घटना है। उसके द्वारा उत्कीर्ण शिलालेख धार्मिक एवं साहित्य के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण उपकरण है। 178 ई० पू० में पुष्यमित्र ने मौर्य वंश के अन्तिम राजा को पदच्युत किया था। इस पुष्यमित्र का उल्लेख कालिदास ने अपने ग्रन्थ में किया है।

चीनी साक्ष्य के आधार पर भी भारतीय साहित्य की तिथियाँ निश्चित की जा सकती हैं। प्रथम ईसवी शती में बौद्ध उपदेशक चीन गये और उन्होंने वहाँ चीनी में बौद्ध साहित्य का अनुवाद किया। चीनी अनुवादों की तिथियाँ निश्चित प्राय: हैं। फाह्यान सन् 399 में भारत आया। ह्वेनसांग 630 ई० से 645 ई० तक तथा इत्सिंग 671-695 तक भारत भ्रमण करते रहे। इन यात्रियों के यात्रा वृत्तान्त सुरक्षित हैं, जो कि हमारे ऐतिहासिक अध्ययन में पर्याप्त सहायता करते हैं। अरबी यात्री अल्बरूनी ने भारतीयों की इस इतिहास विषयक उदासीनता के विषय में अपने उद्‌गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"Unfortunately the Hindus do not pay much attention to the historical order of things they are very careless in relating the chronological succession of their kings and when they are pressed for information and are at a loss, not knowing what to say, they invariably take to romancing."

दुर्भाग्यवश भारतीय लोग इतिहास की ओर अधिक ध्यान नहीं देते हैं। सूचनाएँ देने के लिए उन्हें बाध्य किया गया तो वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर खड़े रह गये। वस्तुतः भारतवासी क्या लिखा गया है, की ओर अधिक ध्यान देते रहे हैं। किसने लिखा, कब लिखा, क्यों लिखा—की जानकारी से उन्हें विशेष प्रयोजन नहीं रहता है।

किन्तु सर्वथा यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीयों में ऐतिहासिकता का सर्वथा अभाव रहा है। भारत में अनेक ऐतिहासिक कृतियाँ हैं जिनका ऊपर संकेत किया जा चुका है। निश्चित विधि से युक्त अनेक शिलालेख हैं; परन्तु यह ठीक है कि वे तथ्य (fact) तथा कहानी (fiction) को पृथक् रूप में वर्णन करना नहीं जानते हैं। अपने यश की अपेक्षा उन्हें अपने ग्रन्थ का सम्मान अधिक प्रिय है किन्तु उत्तरकालिक साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में अपने नाम, वंश-परिचय वृक्ष, तिथि आदि का भी संकेत किया है। 5वीं शती के बाद के शिलालेखों से भी लेखकों के बारे में निश्चित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव होते हुए भी भारतीय ग्रन्थ ऐतिहासिक जानकारी से सर्वथा अनभिज्ञ रहे हैं, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। निष्कर्ष रूप से यही कहना अधिक समीचीन है कि भारतीय न तो इतिहास तत्त्व से अपरिचित हैं और न यह ऐतिहासिकता का अभाव है, किन्तु हाँ ! प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारधारा का अन्तर W. D. ह्विटने के कथन के मूल में है।

द्वितीय अध्याय

संहिता काल

ऋग्वेद

प्रश्न—ऋग्वेद के रचनाक्रम वर्ण्य-विषय की पूर्ण समीक्षा कीजिए।

Explain the order of the arrangement of the hymns of the Rigveda and discuss the nature of its subject-matter.

—आ० वि० वि० 53, 54, 56, 61, 62, 65

Or

Discuss the arrangement of the Rigvedic hymns and their relative chronology. —आ० वि० वि० 57

Or

Discuss the structure of Rigveda. —आ० वि० वि० 64

Or

Review the authenticity of the Samahita text of the Rigveda.

Or

Write an essay on the composite nature of the Rigveda.

—आ० वि० वि० 64

Or

ऋग्वेद के संग्रहात्मक स्वरूप पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—

ऋग्वेद का रचना-क्रम

यह निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिक साहित्य की समस्त रचनाओं में ऋग्वेद संहिता सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। यह वह रचना है जिसमें प्राचीन-

तम भारतीय आदर्श, मर्यादा, ज्ञान एवं मानवता के समग्र चित्र मूर्तिमान हो उठे हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि यह विशाल ग्रन्थ भारतीय ऋषि-मुनियों के अन्तरतम का दर्पण है। इस संहिता को संक्षेप में ऋग्वेद इस नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि यह छन्दोबद्ध है—छन्दोबद्ध का पद्यात्मक मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं। संहिता शब्द का अर्थ है संग्रह; इस प्रकार ऋचाओं का विशाल संग्रह ही ऋग्वेद संहिता है। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर 10600 ऋचायें हैं जो कि 1028 सूक्तों में विभक्त हैं। यत्र-तत्र भारतीय ग्रन्थों में ऋग्वेद की अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है—महाभाष्य जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ (150 ई० पू०) में इक्कीओं शाखास का निर्देश—"**एकविंशतिधा वाह्वार्च्यम्**" के रूप में पतंजलि ऋषि ने किया है; किन्तु परवर्ती साहित्य में केवल पाँच शाखाओं का विवरण ही मिला है। शौनक-चरणव्यूह नामक परिशिष्ट ग्रन्थ में ऋग्वेद की शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूकायन नामक पाँच शाखाओं का नामोल्लेख मिलता है; किन्तु आजकल प्राप्त एवं प्रचलित शाखा का नाम शाकल है। इस शाखा के 1028 सूक्त दस मण्डलों में विभक्त हैं। ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार शाकल की शाखा ही मुख्य और आदि शाखा है। ऐतरेय ब्राह्मण से इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि इसका जैसा आदि है, वैसा ही अन्त है और जैसा अन्त है वैसा ही आदि है। सर्प की भाँति इसकी गति में एकरूपता है। कोई इसकी गति में भेद नहीं कर सकता है। आशय केवल इतना ही है कि यही शाखा प्राचीनतम एवं प्रधान शाखा है। वैसे एक वाष्कल नामक शाखा भी जीर्ण-शीर्ण रूप में मिली है। वह भी शाकल के समान ही है। केवल बाह्य आकार के विभाजन मात्र में भिन्न है। वाष्कल शाखा के अनुसार ऋग्वेद का अष्टकों, अध्यायों और वर्गों में विभाजन किया गया है तथा शाकल के अनुसार मण्डल अनुवाक और सूक्तों में। द्वितीय शाकल-विभाजन ही वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक होने से अधिक व्यवहार में लाया जाता है। एक बात का स्पष्टीकरण यहाँ नितान्त आवश्यक है कि शाखा शब्द का अर्थ सम्पूर्ण ग्रन्थ का अङ्ग नहीं है अपितु इसका अर्थ एक प्रकार के पाठ एवं क्रम आदि से है क्योंकि विभिन्न ब्राह्मण वंशों में ये संहितायें कुछ-कुछ पाठ भेद और क्रम के अन्तर से संकलित हुई थीं, उन्हीं का नाम शाखा है। आजकल का संस्करण शब्द शाखा शब्द के निकटतम है।

J. Wackernagel ने ऋग्वेद का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन कर सिद्ध कर दिया है कि इसके सूक्तों की भाषा प्राचीनतम है। उनका यह भी मत है कि प्रस्तुत संहिता के सूक्तों में कतिपय प्राचीन एवं अर्वाचीन ऐसे तत्त्वों का समीकरण हुआ है जो उसे एक कला की रचना सिद्ध नहीं करते हैं, भले ही हम उस समस्त गुम्फित साहित्य को एक रचना मान लें। हिब्रू के श्रोतों की भाँति पृथक-पृथक् समय में विरचित इन सूक्तों को एक समय संग्रह के रूप में गुम्फित कर दिया गया है। यही संग्रह प्रागैतिहासिक काल में हस्तगत हुए थे। ऋग्वेद की प्राचीनता के सम्बन्ध में लुडविग ने लिखा है—The Rigveda pre-supposes nothing of that which we know in Indian literature which on the other hand, the whole of Indian literature and the whole of Indian life, pre-supposes the veda. अर्थात् भारतीय साहित्य में ऋग्वेद से पूर्वन्तन्तीन अन्य कोई रचना नहीं है। समग्र भारतीय साहित्य एवं भारतीय जीवन ऋग्वेद को प्राचीनतम स्वीकार करता है। छन्दों से भी वेद की प्राचीनता सिद्ध होती है। क्योंकि वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के छन्दों में पर्याप्त अन्तर है। वैदिक साहित्य के अनेक छन्द परवर्ती साहित्य में अनुपलब्ध हैं। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दशा के वर्णन से भी ऋग्वेद की प्राचीनता विदित हो जाती है।

ऋग्वेद की भाषा एवं विषय के गम्भीर विवेचन के उपरान्त विद्वानों ने यह मान्यता स्थापित की है कि शाकल शाखा के ऋग्वेद के दूसरे से सातवें मण्डल तक के सूत्र अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। पाश्चात्य विद्वान् इन मण्डलों का पारिवारिक पुस्तकें (Family Books) अर्थात् कुल मण्डल के नाम से अभिहित करते हैं क्योंकि दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध केवल एक ऋषि या उसके वंश से है। क्रमशः उन ऋषियों के नाम हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ। अष्टम मण्डल का सम्बन्ध प्रधानतः कण्व ऋषि के वंश से है। नवम् मण्डल के ऋषि कुल-मण्डल के ऋषियों में से ही हैं—**"अथ ऋषयः शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथा; पावमान्यः क्षुद्रसूक्ताः महासूक्त इति"** (आश्वलायन गृह्यसूत्र 6.4.2)। भारतीय विश्वास के अनुसार ये ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा हैं। रचयिता नहीं अर्थात् उन्होंने युग एव तपोबल में इन मन्त्रों का प्रथम बार दर्शन किया था। ये मन्त्र स्वयं

अनादि हैं परन्तु आधुनिक विद्वान् इन्हें रचयिता मानने लगे हैं। वैदिक अनुक्रमणी में प्रथम, नवम और दशम मण्डल के सूक्तों के रचयिता के नाम दिए हुए हैं जिनमें अनेक महिलाएँ भी हैं; परन्तु इन नामों के अतिरिक्त इन ऋषियों का अन्य परिचय उपलब्ध नहीं है। ओल्डनवर्ग तथा लुडविन आदि पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि जो परम्परा गृत्समद, विश्वामित्र तथा उनके वंशधरों को उक्त सूत्रों का ऋषि बतलाती है, वही परम्परा स्वयं सूक्तों के कथन के साथ मेल नहीं खाती। ऋग्वेद की ऋचाओं में गृत्समद विश्वामित्र एवं वशिष्ठ ऋषि असंख्य पुराण कथाओं तथा उपाख्यानों के नायकों के रूप में उपवर्णित हैं। फिर उन्हें स्वयं ही इन सूक्तों का कर्त्ता एवं द्रष्टा कैसे स्वीकार किया जा सकता है। मैक्डानल Macdonell का अनुमान है कि Family Books द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक का मन्त्र-समूह ही मूलतः ऋग्वेद है। अवशिष्ट अंश परवर्ती काल में इसके साथ सम्बद्ध कर दिया गया है, इस विषय में उसका तर्क यह है कि अष्टम-मण्डल में सप्तम मण्डल की अपेक्षा कम ऋचाओं का होना यह सिद्ध कर देता है कि अष्टम मण्डल कुल मण्डल (Family Books) से भिन्न है। कुल-मण्डल के निर्माण के अनन्तर प्रथम मण्डल के 51-191 तक सूक्त कुल मण्डलों के साथ सम्बद्ध किए गए हैं इसके बाद 1-50 सूक्त प्रथम मण्डल के तथा आठवें-मण्डल के मन्त्र बने जो कि कण्व ऋषि के परिवार के द्वारा रचित एवं संकलित हैं। प्रथम और अष्टम मण्डल में पर्याप्त समानता है, जो कि दोनों का समान कालीन होना सिद्ध करती है। किन्तु इनमें कौन-सा मण्डल पूर्ववर्ती है तथा कौन-सा परवर्ती है, यह अनुसंधान का विषय है तथापि यह सुनिश्चित है कि इन्हें Family-Books के साथ जोड़कर बाद में विशालाकार ऋग्वेद का भवन खड़ा किया गया है। नवम मण्डल में सोम देवतापारक एवं सोमपान विषयक सूक्तों का गुम्फन हुआ है। यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि यह विभाजन का निर्धारण मन्त्र-बाहुल्य की दृष्टि से ही है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि बीच के समस्त मन्त्र प्राचीनतम एवं अन्य नवीन तथा नवीनतम हैं। दशम मण्डल का संचयन प्रथम नौ मण्डलों के उपरान्त हुआ है। विद्वानों ने इस विषय में अपने कुछ तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं। **प्रथम** तर्क यह है कि इस मण्डल के सूक्तों में स्थान-स्थान पर पूर्व मण्डलगत सूक्तों का उल्लेख मिलता है तथा उनकी स्पष्ट छाया भी प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। **दूसरा** हेतु यह भी है कि विषय एवं आकार की

दृष्टि से भी वह रचना पश्चाद्वर्त्तिनी प्रतीत होती है। एक अन्य हेतु यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि यहाँ तक आते-आते पहले के अनेक देवताओं का अपना महत्त्व क्षीण हो गया है तथा अनेक नवीन देवता आ गये हैं। उदाहरण के लिए इस मण्डल में इन्द्र और अग्नि की प्रतिष्ठा तो यथावत् है कि उषस् आदि ने अपना अस्तित्व खो दिया है और प्रजापति जैसे कुछ नवीन देवता भी यहाँ आ गए हैं। फिर भाषा की दृष्टि से भी दशम मण्डल पश्चाद्वर्त्ती सिद्ध होता है। इसमें स्वर संकोच की प्रवृत्ति बढ़ गई है। 'र' की अपेक्षा 'ल' का प्रयोग अधिक होने लगा है। अनेक प्राचीन शब्द लुप्त हो गये हैं एवं नवीन शब्दों का संगठन दिखलाई देने लगा है; जैसे 'लभ', काल, लक्ष्मी एवं आदि शब्दों का प्रचार अधिक हो गया है। अन्त में यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि ऋग्वेद एक समय की रचना नहीं है यह क्रमशः विकसित एवं संचित एक विशाल ज्ञानराशि है, जो शताब्दियों के भारतीय मनीषा के चिन्तन का जाज्वल्यमान परिणाम है। ऋग्वेद की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'खिल' परिशिष्ट जुड़े हुए मिलते हैं, खिल का अर्थ है पूरक (Supplement)। खिल सूक्तों के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज ने लिखा है—

They are texts which were collected and added to the Samhita only after the later had already been concluded. This does not exclude the possibility that some of these khilas, are of no less antiquity than the hymns of the Rigveda, but for same reason unknown to us were not included in the collections.

ग्यारह बाल्यखिल्य सूक्त जो कि अष्टम मण्डल के अन्त में पाये जाते हैं, इन्हें आधुनिक विद्वान प्राचीनतम मानते हैं; परन्तु यह कहना कठिन है कि ये प्राचीन सूक्त संहिताओं में क्यों नहीं गृहीत हुए। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि संहिताओं के संकलित और सम्पादित होने के पश्चात् किसी अन्य परम्परा से इन सूक्तों को स्मरण करके परिशिष्ट के रूप में गुम्फित किया गया है। इसी प्रकार के कुछ अन्य सूक्त भी हैं जिनमें से 'शिवसंकल्प' खिल तो वस्तुतः एक उपनिषद् ही है; परन्तु इसका 1-13 तक का अंश ही प्राचीन एवं मान्य है; शेष भाग परवर्त्ती। ऋग्वेद के सम्पूर्ण विभाजन तथा सङ्कलन को संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है। ऋग्वेद का विभाजन दो रूपों में मिलता है—

एक—अष्टक, अध्याय और वर्ग के रूप में दूसरा—मण्डल, अनुवाक और सूक्तों में । डाक्टर मङ्गलदेवजी ने मण्डलानुसार सूक्त एवं ऋचाओं की संख्या इस प्रकार निर्दिष्ट की है—

मण्डल	सूक्त संख्या	ऋक् संख्या
प्रथम मण्डल	191	2006
द्वितीय मण्डल	43	429
तृतीय मण्डल	62	617
चतुर्थ मण्डल	58	589
पंचम मण्डल	87	727
षष्ठ मण्डल	75	765
सप्तम मण्डल	104	841
अष्ठम मण्डल	92	1636
नवम मण्डल	114	1108
दशम मण्डल	191	1754
	1017	10472

तथा ग्यारह बालखिल्य सूक्तों को जोड़ देने पर ऋग्वेद की सूक्त संख्या 1028 एवं मन्त्र संख्या लगभग 10600 हो जाती है ।

सिद्धान्ततः वैदिक साहित्य के विषय में यह मान्यता प्राप्त थी कि जिस वेद की जितनी शाखाएँ होंगी, उतने ही ब्राह्मण, अरण्यक एवं उपनिषद् भी होंगे; किन्तु दुर्भाग्यवश समस्त वैदिक साहित्य के उपलब्ध न हो सकने के कारण यह क्रम आज सर्वांशतः ठीक नहीं है । आज ऋग्वेद संहिता के दो ब्राह्मण, दो आरण्यक और दो उपनिषद् मिलते हैं जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

एतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण ।

ऐतरेय आरण्यक तथा कौषीतकी आरण्यक ।

ऐतरेय उपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद् तथा एक आश्वलायन नामक श्रौतसूत्र भी मिलता है ।

विषय-वस्तु

ऋग्वेद-संहिता विश्व की प्राचीनतम कृतियों में से एक अन्यतम रचना है, इसमें भारतीय मनीषी ऋषि-महर्षियों के भावोच्छ्वास देदीप्यमान हो,

उठे हैं। यही कारण है कि भारोपीय परिवार में ऋग्वेद का अपना महत्त्वपूर्ण विशिष्ट स्थान है। इस महत्त्वपूर्ण उपलब्धि को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम ऋग्वेद की विषय-सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। ऋग्वेद का अर्थ है, ऋचाओं का वेद। छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहा जाता है और वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। ऋचाओं का जो ज्ञान है उसे ऋग्वेद कहते हैं। यद्यपि ऋचाएँ अन्य वेदों में भी संगृहीत हैं; किन्तु ऋग्वेद तो केवल ऋचाओं का ही संग्रहमात्र है "ऋचा से स्तुति की जाती है; जिनकी स्तुति की जाती है उनको देवता कहते हैं।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इन संहिता में केवल देवताओं की स्तुतियाँ हैं। किन्तु हम यदि और भी सूक्ष्म अध्ययन करें तो ऋग्वेद के मन्त्र दो प्रकार के मिलते हैं एक तो वे हैं जो कि यज्ञ एवं देवों की स्तुति के प्रयोग में आते हैं, दूसरे वे हैं जिनमें ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एवं मान्यताओं का उद्घाटन किया गया है। ऋग्वेद के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा पर भी प्रकाश निक्षेप होता है। यही नहीं, ऋग्वेद में सृष्टि रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक रीति, पशु पक्षी वृक्षों आदि से सम्बद्ध भी कुछ मन्त्र मिल जाते हैं। ऋग्वेद में कुछ सम्वाद सूक्त भी मिलते हैं किन्तु अधिकांश मन्त्र विभिन्न देवताओं की स्तुतियों से ही सम्बद्ध हैं, केवल चालीस सूक्त ऐसे हैं जो किसी देव-विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं, इनमें जन-जीवन के चित्र हैं तथा विभिन्न स्थानों, राजकुमारों व गायकों के दान स्तुतियों में आए हुए नाम भी मिलते हैं।

ऋग्वेद के सूक्तों के सम्बन्ध में केजी (Kaegi) का अपना विचार यह भी है कि अधिकतर सूक्त देवताओं के प्रति विभिन्न अवसरों पर किये गये आह्वान तथा उनसे सम्बद्ध यशोगान के लिए हैं, उनमें हार्दिक सुकुमारता एवं अमर्त्य देवताओं की संस्तुतियाँ हैं। Kaegi तो ऋग्वेद के सम्बन्ध में यह भी लिखता है कि ऋग्वेद में निम्न कोटि की रचनायें भी मिलती हैं, किन्तु इन रचनाओं में सर्वथा उदात्त आध्यात्मिक तत्त्वों का अभाव हो, ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता है; यह सत्य है कि अनेक सूक्तों का प्रयोग यज्ञ के अवसरों पर किया जाने लगा था फिर भी इन मन्त्रों में भी उत्तम कविता के दर्शन होते हैं, इनमें अपने पूर्वजों का आध्यात्मिक विकास उत्कृष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। इन मन्त्रों में हम Child like simplicity, the freshness or delicacy of feeling boldness of methaphor, flight of imagination सरलता,

नवीनता, उदात्त भावना, अलंकरण और कल्पना का वैभव देख सकते हैं। ओल्डनवर्ग का भी इस विषय में कहना है कि यज्ञशाला में मन्त्रों के द्वारा बर्बर-युगीन पुरोहित अपने देवों का आह्वान करते थे। ये देवगण आकाश मार्ग से अश्व एवं रथ पर आरूढ़ होकर घृत, मांस आदि हव्य ग्रहण करने तथा सोम-पानार्थ आते थे। ये पुरोहितगण किसी एक देव को नहीं अपितु अनेक देवताओं को अनेक विशेषणों से लाद देते थे। इन्हीं कर्मकाण्ड में दक्ष पुरोहितों ने ही वेद-मन्त्रों का निर्माण किया है। इसीलिए वेदों को ओल्डनवर्ग Oldest Document of Indian Literature and Religion कहा है। यही नहीं वह तो The clear trace of an ever increasing intellectual enervation भी मानता है। विन्टरनिट्ज़ भी वेदों को क्रमिक संकलन का परिणाम मानता हुआ कहता है कि कुछ मन्त्रों का निर्माण यज्ञों से पृथक् सर्वथा स्वतन्त्र मार्ग पर हुआ है। यद्यपि बाद में कुछ मन्त्र यज्ञों के लिए भी निर्मित्त हुए, स्वतन्त्र रूपेण भी बने किन्तु बाद में दोनों का प्रयोग एक साथ होने लगा। कहने का आशय यही है कि वैदिक सूक्तों की रचना यज्ञ एवं देवों की स्तुतियों के लिए ही हुई है किन्तु कुछ सूक्तों में अन्यान्य विषयों का भी समावेश हो गया है।

वैदिक देवताओं का विश्लेषण करते हुए निरुक्तकार क्रमशः उन्हें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से सम्बन्ध रखने के कारण तीन प्रकार के मानते हैं। अग्नि, सोम, पृथ्वी आदि देव **पृथिवी** स्थानीय कहलाते हैं; इन्द्र, रुद्र, वायु आदि देव अन्तरिक्ष स्थानीय और वरुण, मित्र, उषस्, सूर्य आदि देव **द्युस्थानीय**। उपर्युक्त देवों को भी चार रूपों में माना गया है—

(1) **प्राकृतिक** शक्ति रूप देवता इन्द्र, सूर्य, सविता, पूषा आदि।

(2) **ग्रह देवता** अग्नि, सोम आदि।

(3) **कल्पना अथवा भावजन्य** मन्यु, श्रद्धा आदि।

(4) **गौण देवता**—गन्धर्व, अप्सरा आदि।

निरुक्तकार ने आकार की दृष्टि से देवों के दो विभाजन किये हैं—एक पुरुष विधि; दूसरे, अनुरुप विधि। "एक प्रकार से अपना व्यक्तित्व रखने वाले इन्द्र अग्नि आदि देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे भी देवता हैं जिनका वैसा व्यक्तित्व नहीं माना जा सकता; उदाहरणार्थ, मन्यु, श्रद्धा आदि ऐसे ही देवता हैं।" ऋग्वेद के मन्त्रों में पौराणिकता के मौलिक तत्त्व प्रारम्भिक अवस्था में

पाए जाते हैं। अनेक मन्त्र सूर्यदेव, अग्निदेव, भूमिदेवी, उषादेवी, वायु देव के लिए नहीं अपितु प्राकृतिक शक्ति के रूप में जाज्वल्यमान सूर्य चन्द्र देदीप्यमान अग्नि आदि के लिए समर्पित हैं। बादलों से चमकती बिजली दिवस का प्रकाशित एवं रात्रि का नक्षत्रपूर्ण आकाश, गरजते हुए तूफान, मेघ व नदियों के बहते हुए जल, चमकती उषा, फलों से भरी हुई वसुधा इन प्राकृतिक शक्तियों की ही स्तुति पूजा एवं प्रशंसा की गई है। आगे यही प्राकृतिक तत्त्व पौराणिक देवताओं के रूप में परिवर्तित हो गये हैं। उदाहरण के लिए— सूर्य, चन्द्र, अग्नि, द्यौ, मरुत, वायु, आप, उषा, पृथ्वी आदि। यह भी अब निश्चित हो चुका है कि पहले वैदिक देवताओं के पीछे प्राकृतिक शक्तियां थीं जिन्हें बाद में भुला दिया गया है। संक्षेप में हम ऋग्वेदकालीन धर्म की विशेषताओं का संकेत करते हुए ऋग्वेद की विषय-वस्तु का परिचय प्रस्तुत करेंगे—

ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण बड़े-बड़े देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। यही नहीं, समस्त देवताओं में अधिकांशतः गुण, शक्ति, तेज आदि में साम्य प्रतिलक्षित होता है। प्रत्येक देवता की स्तुति एक से गुणों से की गई है। वैदिक देवताओं में बहुत से देवता युग्म रूप में भी संस्तुत हैं; जैसे—मित्रा वरुण, द्यावा पृथ्वी आदि तथा कुछ देवता समुदाय रूप में भी आते हैं; जैसे—मरुद्गण आदित्यगण, वसुगण, विश्वे देवा; ऋभुगण आदि। कहीं-कहीं अनेक गुण अनेक देवों में समान रूप से परिगणित किये गये हैं उदाहरण के लिए, 'हे अग्नि तुम उत्पन्न होते ही वरुण (अन्धकार के निवारक राज्याभिमानी देव) होते हो समिद्ध होकर तुम मित्र, (हितकारी) होते हो। समस्त देवगण तब तुम्हारा अनुवर्तन करते हैं। हे बलपुत्र, तुम हव्यदाता यजमान के इन्द्र हो (50।3।1) इस प्रकार अग्नि, वरुण, मित्र तथा इन्द्र के रूप में स्तुत एक ही देव है विभिन्न देवता एक ही शक्ति के रूपान्तर हैं उदाहरणतः शक्ति के तीन रूप माने गये हैं—प्रथम, पृथ्वी पर साधारण अग्नि, द्वितीय वायुलोक की विद्युत अग्नि एवं सूर्य के रूप में तृतीय, पवित्र अग्नि। इस प्रकार अग्नि विद्युत एवं सूर्य मूलतः एक ही शक्ति के विभिन्न रूप हैं। ऋग्वेद में कहीं-कहीं एकेश्वरवाद की भावना भी परिलक्षित होती है। एक देवता-विशेष मात्र सभी देवताओं का ही नहीं अपितु वह तो प्रकृति का भी प्रतिनिधि माना गया है। यही एकेश्वरवाद की भावना आगे चलकर वेदान्त के अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। ऋग्वैदिक धर्म में एक बात विशेष रूप से देखी जाती है कि ऋग्वे

में प्रत्येक देवता को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में मान्यता प्राप्त है। वैदिक देवताओं का विग्रह मानवीय है। उन देवताओं के भी मनुष्यों के समान सिर, आँख, भुजा, हस्त, पाद आदि हैं। किन्तु ये छायात्मक हैं जैसा कि अग्नि के स्वरूप वर्णन में अग्नि की ज्वालायें ही उनकी जिह्वा हैं। सूर्य की रश्मियाँ ही उसकी भुजायें हैं। ऋग्वैदिक देवता विविध आयुध एवं वाहनों के साथ संस्तुत हैं, किन्तु इन्द्र के अतिरिक्त सभी शान्तिप्रिय हैं। तात्कालिक भारतीयों की देवताओं के सम्बन्ध में यह आस्था दृढ़ीभूत थी कि देवता उन्हें दीर्घायुष्य एवं वैभव प्रदान करते हैं किन्तु इतना होने पर भी देव-मन्दिरों की सत्ता अथवा मूर्ति-पूजा का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता है। वैदिक देवताओं की एक विशिष्ट विशेषता उनकी चारित्रिक उज्ज्वलता में निहित है। वैदिक धर्म में देवियों का स्थान भी सुरक्षित है किन्तु गौण रूप में। वे मात्र देवताओं की प्रतिच्छाया हैं। कुल मिलाकर हम यह कह सकते कि ऋग्वेद का निर्माण विशेष रूप में देवों की स्तुति के ही लिए हुआ है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं का वर्णन है जिसमें द्यौ, वरुण, सूर्य, सविता, पूषन, विष्णु, अश्विनी, पर्जन्य, इन्द्र, अग्नि, उषा, सोम आदि प्रमुख हैं। ऋग्वेद में सर्वाधिक स्तुति इन्द्र की ही की गई है। इसके लिए लगभग 250 सूक्तों का निर्माण हुआ है। इन्द्र को वृत्र का मारने वाला, देवताओं का अधिपति देवराज, यज्ञ का अधिष्ठाता सर्वाधिक शक्तिशाली कहा गया है। यही नहीं, सुखमय समृद्धि का प्रदाता भी माना गया है। इन्द्र के पश्चात् सूर्य की स्तुति में भी पर्याप्त ऋचाओं का दर्शन किया गया है—सूर्य, सविता आदि नामों द्वारा उस प्रकाशमान शक्ति की स्तुति की गई है जो कि हमारे दुःखों का हरणकर्त्ता, सौख्यदायक ज्ञान का प्रकाशक है। सोम नामक देव का स्तवन भी ऋग्वेद में अत्यधिक (ऋग्वेद के नवम मण्डल एवं कुछ अन्य मण्डलों के सूक्तों) किया गया है। वैदिक देवताओं में इसका तीसरा स्थान है। इसकी शुद्धि दस कुमारिकाएँ करती हैं जो इसकी बहन हैं। अग्नि आर्यों का सर्वप्रिय गृहदेवता है, सूक्तों की संख्या की दृष्टि से सम्भवतः इन्द्र के बाद इसी की उपासना-स्तुति अधिक हुई है। अग्नि के संस्तावनार्थ लगभग 200 सूक्तों का सृजन हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं में अग्नि को ही आर्यों का सर्वप्रिय देव, गृह-कार्यों का साधक, अन्तरिक्ष में विद्युत रूप से, वृद्धि का कर्त्ता एवं आकाश में सूर्य, चन्द्र में प्रकाश का दाता कहा गया है। अग्नि को गृहपति की संज्ञा दी गई है। यज्ञ के

प्रारम्भ में ही उसकी स्थापना एवं आराधना की जाती है। पूषा को पुष्टि-कारक देव एवं पशुओं के संरक्षक के रूप में कहा गया है। पूषा से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे पशु धन की रक्षा में सदा तत्पर रहा करें। ऋग्वेद में यम को भी देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। यम से प्रार्थना की गई कि वह यहाँ से मृत्यु द्वारा वियुक्त प्राणियों को अन्यत्र कल्याणप्रद स्थान देकर सुख प्रदान करें। द्यौ द्युलोक के देवताओं में सबसे प्राचीन है। यह पृथ्वी के साथ युग्म रूप में संस्तुत है। अनेक सूक्तों में इसे अखिल विश्व का पालक तथा माता-पिता के रूप में सम्बोधित किया गया है। विष्णु की त्रिविक्रम के रूप में स्थापना की गई है। विष्णु वह है जो तीनों लोकों में व्याप्त हो। विष्णु वेद में कहीं-कहीं सूर्य का वाचक भी है। इसे उरुगाय भी कहा जाता है। विष्णु देवताओं में सर्वाधिक चतुर है। परवर्ती साहित्य में यही विष्णु अवतारवाद का मूल प्रेरक तत्त्व बन गया है। अश्विनी ऋग्वेद में युग्मदेव हैं जो कि सूर्य पुत्री सूर्या के साथ स्वर्णिम रथ पर आरूढ़ होकर चलते हैं। इन्हें देवों का वैद्य भी कहा जाता है। कुछ विद्वानों ने इन्हें दो संख्या, कुछ ने प्रातः एवं सायंकालिक नक्षत्र माना है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में निरुक्तकार को इनका स्वरूप विदित नहीं था। मरुत, रुद्र और प्रश्नि के पुत्र एवं योद्धा हैं जो कि हाथ में विद्युत् धारण करते हैं, स्वर्णिम रथ इनकी सवारी है। इनके घोड़े चितकबरे हैं। प्रचण्ड ध्वनि करते हैं, इन्द्र की सदैव सहायता करने वाले देवों में से एक है। हवा और वर्षा का देव पर्जन्य है। इसको वृषभ से तुलना की गई है। इसकी स्तुति में केवल तीन सूक्तों की रचना हुई है। उषस् नामक देव की उपासना में काव्यात्मक, मनोरमा एवं अलंकृत सूक्तों की रचना हुई है। इसे एक नवयुवती की तरह जाज्वलमान देवी के रूप में चित्रित किया गया है, जो कि पूर्व दिशा का द्वार खोलकर धरा पर अवतीर्ण होती है। रुद्र भी एक देवता के रूप में ऋग्वेद में आये हैं, किन्तु उत्तरकालीन रुद्र से ऋग्वैदिक रुद्र का स्वरूप भिन्न है। तीन या चार सूक्तों में इनका स्तवन है। यह धनुर्धारी, भयानक एवं अनिष्टकारी देव है।

हम कुछ भाव देवताओं का ऊपर संकेत कर चुके हैं। उनका आगमन ऋग्वेद के दशम मण्डल में होता है। इनमें से श्रद्धा (Faith), मन्यु (Warth), काम (Desire)····आदि हैं। इसी श्रेणी के एक देवता बृहस्पति भी हैं। जिन्हें Roth भक्ति भावना का प्रतीक मानते हैं तो Macdonlel अग्नि के याज्ञिक

कर्म का प्रतिरूप। किन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि यह बृहस्पति वेदोत्तर कालीन वृहस्पति से सर्वथा भिन्न है। ऋग्वेद में गौण देवता रूप में गन्धर्व, अप्सराएँ यत्र-तत्र देखने को मिल जाती हैं। देवियों में देवमाता अदिति का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि ऋग्वेद का मुख्य विषय देवताओं की स्तुति ही है किन्तु प्रासङ्गिक रूप में अन्यान्य विषय भी आ गया है। ऋग्वेद में हमें दार्शनिक विचार भी देखने को मिल जाते हैं। विवेचनीय वेद में छह या सात सूक्त इस प्रकार के हैं जिसमें विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जगत् के स्रष्टा आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों की विचारधारा देखने को मिल जाती है। एक अचिन्त्य शक्ति जिसे प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, वृहस्पति अथवा विश्वकर्मा कह लीजिए अथवा देव-विशेष कह लीजिए, किन्तु यह सत्य है कि सांसारिक वस्तुजात ब्रह्म की कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उसी एक ही तत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से पुकारते हैं—

> इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथः दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।
> एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
>
> —ऋ० 1।164।46

इस प्रकार वैदिक धर्म की विचारधारा में एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सृष्टि कर्त्ता को मान्यता प्राप्त है, जिसके अनेक नाम होते हुए अन्ततः वह एक है। दशम मण्डल के पुरुष सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति एक महामानव से मानी गई है जिसके सहस्र शीर्ष एवं सहस्र पाद हैं, यह पुरुष के रूप में परम लक्ष्य की विराट् कल्पना है, जिसके प्रत्येक अंग से अन्यान्य तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। उसके सिर से आकाश, नाभि से वायु, पाद से पृथ्वी, मस्तिष्क से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य एवं श्वास से वायु का उद्भव हुआ है। इसी विचारधारा को सर्वेश्वरवाद के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि इसमें स्पष्ट ही कहा है कि विश्व में जो कुछ है या होगा, वह पुरुष ही है। सृष्टि उत्पत्ति विषयक एक अन्य सूक्त में असत् सत् की उत्पत्ति मानी गई है।

ऋग्वेद में पशु-पक्षियों का वर्णन मिलता है जिनमें अश्व, गौ, सर्प का उल्लेख है। मण्डूक भी हैं तो वन्य पशुओं में सिंह, हाथी, मृग, वृक (भेड़िया) वराह, महिष, ऋक्ष, कपि आदि हैं। पालतू पशुओं में 'गो' अश्व के अतिरिक्त

भेड़ें, बकरियाँ, गधे, कुत्ते भी मिल जाते हैं। पक्षियों में हंस का उल्लेख मिलता है, जिसके गुणों में जल तथा सोम को पृथक् करना बताया गया है। चक्रवाक का नाम भी ऋग्वेद में एक बार आया है। ऋग्वेद में मयूरी विष दूर करने वाली मानी गई है।

ऋग्वेद में वृक्षादि का वर्णन अत्यल्प है किन्तु दशम मण्डल का 67 वां औषधि सूक्त जिसमें अन्यान्य वनस्पतियों के रोग-प्रसारण-शक्ति की प्रशंसा है तो इसी मण्डल के 146 वें सूक्त में अरण्यानी की प्रशंसा है। हाँ लता के रूप में सोम का उल्लेख अनेकशः मिलता है।

असुर-राक्षस वर्णन भी ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है। देवों के शत्रु असुर हैं तथा मनुष्यों के शत्रु राक्षस कहलाते हैं।

ऋग्वेद में हम कुछ ऐसे सूक्तों के भी दर्शन करते हैं, जिनमें देवताओं की स्तुति, प्रशंसा आदि नहीं है। किन्तु अथर्ववेदीय अभिचार सूक्तों की भाँति ही यहाँ अभिचार सूक्त भी हैं। द्वितीय मण्डल के शकुन विचारपरक दो-तीन सूक्त मिल जाते हैं। पहले मण्डल का 191वाँ सूक्त विषैले सर्पादि तथा दशम मण्डल का 163वाँ सूक्त यक्ष्मा रोग निवारक सूक्त है। कुछ सूक्त मरणासन्न व्यक्ति के आयुवर्धक मन्त्रों से युक्त है। सन्तान प्राप्ति विधान परक एक सूक्त (183) दशम मण्डल में विद्यमान है तो इसी मण्डल का 162वाँ सूक्त बच्चों के विनाशक प्रेतात्माओं का निवारक सूक्त है। यही नहीं, विनाश के लिए भी एक सूक्त का सृजन हुआ है तो दूसरी ओर एक पत्नी अपनी सपत्नियों से पति को विमुख कर अपने वश करने का भी प्रयत्न करती है। इन सूक्तों को हम लौकिक सूक्त कह सकते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद में 47 ऋचाओं का दसवें मण्डल का 85वाँ सूक्त विवाह सूक्त है जिसमें तात्कालिक वैवाहिक प्रक्रिया का सर्वाङ्ग निरूपण है। जहाँ ऋग्वेद में विवाह सूक्त है, वहाँ अन्त्येष्टिपरक सूक्तों की भी कमी नहीं है। अन्त्येष्टिपरक सूक्तों की संख्या लगभग पाँच है। ये पाँचों सूक्त दसवें मण्डल के ही हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164वें सूक्त में प्रहेलिकाएँ भी मिलती हैं जो अर्थ की दृष्टि से जटिलतम हैं; किन्तु सभी प्रहेलियाँ दुर्ज्ञेय एवं दुर्बोध हैं, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछ प्रहेलिकाओं के अर्थ गङ्गाजल की भाँति स्पष्ट हैं। एक प्रहेलिका का अभिप्राय एक वर्ष, बारह मास, तीन ऋतुओं और तीन सौ साठ दिनों से है।" आशय यही है कि ऋग्वेद में प्रहेलिकाओं की सत्ता विद्यमान है। इस प्रकार की

लौकिक रचनाओं को कुछ विद्वानों ने धर्महीन कविता का नाम दिया है। जहाँ ऋग्वेद में धार्मिक विचारधारा का प्राधान्य है वहाँ इसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा अनिवार्य जीवन-यापन के साधनों का भी यथास्थान वर्णन मिल जाता है।

ऋग्वेद में देवताओं की स्तुति के साथ-साथ कुछ सम्वाद सूक्त भी आये हैं। ऋग्वेद का यह आख्यान (सम्वाद) साहित्य एक प्रमुख विषय है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में लगभग बीस आख्यान मिलते हैं किन्तु प्रमुखतम निम्न हैं—

(1) यम-यमी सम्वाद (दशम मण्डल दशम सूक्त)
(2) इन्द्रवरुण सम्वाद (चतुर्थ मण्डल बारहवाँ सूक्त)
(3) देवगण एवं अग्नि सम्वाद (दशम का 52वाँ सूक्त)
(4) वरुण-अग्नि सम्वाद (दशम का 51 वाँ सूक्त)
(5) इन्द्र-इन्द्राणी सम्वाद (दशम का 86वाँ सूक्त)
(6) शर्मा-पणि सम्वाद
(7) उर्वशी पुरुरवा सम्वाद (दशम का 95वाँ सूक्त)
(8) सोम-सूर्या सम्वाद
(9) वसिष्ठ—विश्वामित्र आदि के सम्वाद।

उपर्युक्त सम्वाद सूक्त भारतीय साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। परवर्ती साहित्य में अनेक काव्यों, नाटकों तथा पुराणों में इन कथाओं का विस्तार से उल्लेख मिलता है। श्री पांडेय एवं जोशी वैदिक साहित्य की रूप रेखा में लिखते हैं, 'प्राचीन आख्यान महाकाव्य तथा नाटक दोनों प्रकार की साहित्य भित्तियों के उद्गम स्थान हैं, क्योंकि ये आख्यायिकाएँ नाटकीय तत्त्वों से अनुस्यूत हैं। इन आख्यानों का नाटकीय तत्त्वों से दृढ़तर पारस्परिक सम्पर्क है। क्योंकि इन्हीं आख्यानों के नाटकीय तत्त्वों से नाटकों का उदय हुआ।' जहाँ विन्टरनिट्ज इन आख्यानों को महाकाव्य तथा नाटक के उद्गम रूप में मानते हैं—Which forms a connecting link with the epic and dramatic poetry—वहाँ ओल्डनवर्ग इन्हें आख्यान मन्त्र कहकर नवीन विचार प्रस्तुत करता है। "The oldest form of epic poetry in India. He said, was a mixture of prose and verse, the speeches of the persons only being in verse, while the events connected with

the speeches were narrated in prose. मैक्समूलर तथा लेवी का कथन है कि सम्वाद एक प्रकार के नाटक हैं। हर्टल एवं श्रोडर ने सिद्ध कर दिया है कि ये धार्मिक अभिनय थे किन्तु उपयुक्त समस्त पाश्चात्य विचारधारा मात्र अनुमान पर आधारित है। हमें यहाँ इतना ही कहना अभीष्ट है कि ऋग्वेद की विषय-वस्तु में इन सम्वाद सूक्तों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ऋग्वेद की विषय-वस्तु पर दृष्टि-निक्षेप करने से हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि तात्कालिक परिस्थितियों के अनुरूप मानव जीवन-यापन तथा मानवता के विकास में योग देने वाली समस्त वस्तुओं एवं क्रियाओं का उल्लेख ऋग्वेद में मिल जाता है।

'वैदिक साहित्य की रूपरेखा' नामक पुस्तक के लेखक-द्वय लिखते हैं कि ऋग्वेद साहित्य के संग्रह में प्राचीनतम भारतीय कविता के दर्शन होते हैं। यह हमें मानना ही पड़ता है कि आज जिस रूप में हमें ऋग्वेद प्राप्त होता है, अपने मूल रूप में ऋग्वेद उससे कहीं अधिक विस्तृत था और उसका एक विशाल साहित्यिक अंश कण्ठ परम्परा के कारण सुरक्षित होते हुए भी लुप्त हो गया, क्योंकि इन सूक्तों की प्रचुर संख्या का प्रयोग याज्ञिक मन्त्रों के रूप में तथा याज्ञिक प्रार्थना-गीतों के रूप में हुआ करता था और यह कल्पना विचार-संगत है कि धीरे-धीरे काल विपरिणाम से सूक्तों को ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित होने का श्रेय मिला; किन्तु कुछ रचनाएँ लुप्त हो गयीं। लेख परम्परा के अभाव के कारण भी ऐसा हो सकता है। संग्रहकर्त्ताओं का उद्देश्य धार्मिक और साहित्यिक रचनाओं का संकलन करना था इसलिए अपवित्र कविताओं का संकलन नहीं हुआ।" फिर भी जो अंश हमें आज प्राप्त हैं। वह ऋग्वेद-कालीन आर्य जाति की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक मान्यताओं का समुज्ज्वल चित्र उपस्थित करता है।

प्रश्न—ऋग्वेद संहिता में संकलित आख्यान साहित्य के स्वरूप एवं प्रयोजन की समीक्षात्मक आलोचना कीजिए।

Unfold the purpose and significance of the Akhyana literature in Rigveda. —आ० वि० वि० 6

Or

Describe the nature and purpose of the Akhyana literature as contained in the Rigveda Samhita. —आ० वि० वि० 5

उत्तर—विश्व के पुस्तकालय में ऋग्वेद, प्राचीनतम रचना है, विषय-वस्तु की सर्वाङ्गीणता, काव्य-सौष्ठव तथा सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी प्रकार से तात्कालिक समाज का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने के कारण इसकी महिमा और भी बढ़ गई है। जहाँ अन्यान्य विषयों का इसमें समावेश हुआ है वहाँ इसमें सर्वाधिक विवरण वैदिक देवता-विषयक है। यदि यह भी कह दिया जाय कि ऋग्वेद वैदिक देवतावाद का कोषाग्रन्थ है तो अनुचित न होगा; किन्तु दैवत-साहित्य के अतिरिक्त वैदिक कर्मकाण्ड, दार्शनिक विचारधारा तथा आख्यान साहित्य का भी इसमें एक प्रमुख स्थान है। परवर्ती काल में प्राप्त होने वाले नाटक, काव्य, इतिहास, पुराण, कथा, गीतिकाव्य निश्चय ही इसी आख्यान साहित्य के परिष्कृत स्वरूप हैं ऐसी विभिन्न आलोचकों की धारणा है। वैसे तो आज साहित्य की विकसित विभिन्न विधाओं का मूल ऋग्वेद में देखने का विद्वानों का उपक्रम सर्वविदित ही है।

ऋग्वेद के संवादसूक्त अथवा आख्यान साहित्य में कथनोपकथनों का प्राधान्य है, नाटकीयता है, कथावस्तु है, गीतकाव्य में जैसे भावभूमियाँ एवं काव्यात्मकता है फिर क्यों न इनमें नाटकों, काव्यों जैसी सरसता मिले ? इस प्रकार मनोरम कथनोपकथनों में समन्वित संवादसूक्तों की संख्या लगभग बीस है जिसमें कुछ तो अति प्रसिद्ध हैं, कुछ फुटकर एवं अप्रसिद्ध; जैसे—(1) यम यमी सूक्त 10। 10, (2) उर्वशी पुरुरवासूक्त 10।95, (3) सरमापणि सूक्त, (4) सोमसूर्या-सूक्त, (5) वृषाकपि सूक्त, (6) श्यावाश्च, (7) अक्ष सूक्त, (8) मण्डूकसूक्त, (9) शुन शेपसूक्त, (10) वसिष्ठ-विश्वामित्रसूक्त, (11) अगस्तलोपामुद्रासूक्त, (12) अपाला, (13) नचिकेता, (14) ग्रत्समद, (15) नहुष, (16) इन्द्रवरुण संवाद 4।12, (17) देवगण एवं अग्नि संवाद 10।52, (18) वरुण अग्नि संवाद इन्द्र-इन्द्राणी संवाद, (20) सुदामा आदि को लेकर अनेक रोचक आख्यान ऋग्वेद में मिलते हैं।

प्रश्न यहाँ पर उपस्थित होता है कि ऋग्वेद आचार्यों का वेद है फिर इसमें संवादों की सत्ता किस रूप में है—पद्य में अथवा गद्य में। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। ओल्डनवर्ग का मत यह है कि सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय वीरगाथात्मक काव्य गद्य-पद्यात्मक ही था। कथोपकथन पद्यमय तथा घटनाओं का विवरण गद्यात्मक होता था—"The oldest form of epic poetry in India, He said, was a mixture of prose and

Verse the speeches of the persons only being in verse, whil the events connected with the speeches were narrated in prose 'पद्य स्मरण करने के कारण ही अवशिष्ट हैं जबकि गद्य कथा को सुनाने वा व्यक्ति सम्पूर्ण गद्य भाग को स्मरण रखने की क्षमता के अभाव में क्रमशः भूले गए और मात्र पद्यात्मक संवाद ही शेष रह गए हैं; क्योंकि गद्य का कथ अपने शब्दों में करना पड़ता था। यह सत्य है कि कुछ आख्यायिकाओं की रक्ष ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा आंशिक रूप में हुई; किन्तु कहीं-कहीं प्रामाणिक आधार के अभाव में हमें केवल वार्त्तालाप द्वारा कथा का अनुमान करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में ओल्डनवर्ग वेद के अतिरिक्त आय रिश तथा स्कैण्डेनेवियन भाषाओं के प्राचीन साहित्य को भी प्रमाण रूप प्रस्तुत करता है। यही नहीं, वह तो भारतीय साहित्य के ब्राह्मण ग्रन्थों तथ उपनिषदों के कुछ आख्यान भागों में, महाभारत के प्राचीन भागों में, बौ साहित्य में, नीति-कथा लोक-कथा के साहित्य में नाटकों और चम्पू साहित्य में भी इसी प्रवृत्ति को सिद्ध करता है। जहाँ तक मेरा अपना विचार है निःसन्देह समस्त उदाहृत स्थलों में पद्य के साथ-साथ गद्य के अंश भी मि जाते हैं; किन्तु यह कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि ऋग्वेद भी गद्य पद्यात्मक था; क्योंकि उसके नाम से सिद्ध है कि वह ऋचाओं का वेद है ऊपर निर्दिष्ट ओल्डनवर्ग का ऋग्वेद विषयक यह सिद्धान्त चिर समय त विद्वानों में मान्य रहा किन्तु उसकी इस विचारधारा का विरोध हुआ। मैक मूलर एवं सिल्वालेवी ने यह बतलाया कि ऋग्वेद के संवाद सूक्त एक प्रका के नाटक हैं। डा० हर्टल एवं श्रोडर ने मैक्समूलर की उपर्युक्त विचार सर का अनुगमन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वस्तुतः ये संवाद सूक्त धार्मिक उत्सवों पर खेले जाने वाले धार्मिक अभिनय थे। विन्टरनित्ज़ का तो यह कहना है कि ऋग्वेद के ये छन्दोबद्ध कथनोपकथन मूलतः प्राची वीरकाव्य Ballads ही हैं। यही वीरकाव्य Epic तथा नाटक के स्रोत क्योंकि इनमें वर्णनात्मक तथा नाटकीय तत्त्व विद्यमान थे। प्राचीन वीरकाव्य के वर्णनात्मक अंश से Epic का तथा नाटकीय तत्त्वों से नाटक साहित्य उदय हुआ। ये प्राचीन आख्यान कविता में तथा आंशिक रूप से पद्य में लि जाते थे। इस प्रकार के तत्त्वों की यदि हमें उपलब्धि हो जाती तो बहु सम्भव था कि सूक्तों के ये वार्त्तालाप स्पष्ट हो जाते। ओल्डनवर्ग का भी यह

अभिमत था। वैसे भी इन आख्यान सूक्तों में भी प्रायशः अर्द्धमहाकाव्यीय तथा अर्द्धनाटकीय तत्वों का समावेश मिलता है। हाँ, इन्हें पूर्णतः नाटक स्वीकार नहीं किया जा सकता, तथापि कुछ विद्वानों ने इन्हें नाटक के रूप में स्वीकार किया है।

यह निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकता है। संवादसूक्त परवर्ती काल में विभिन्न साहित्यिक विधाओं नाट्य, कथा, गीत, महाकाव्य आदि के उपजीव्य बने हैं। इनसे प्रेरणा, विषयसामग्री, कल्पनाएँ ले-लेकर अनेक नाटकों, काव्यों का सृजन हुआ है। प्राचीन आख्यान महाकाव्य तथा नाटक दोनों प्रकार की साहित्य भित्तियों के उद्‌गम स्थान।"[1] यही नहीं, इन आख्यानों का उद्देश्य वैदिक संस्कृति, धर्म, इतिहास का परिचय तथा सामाजिक दशा का स्वरूप उपस्थित करना था। आगे हम कुछ आख्यानों को रखकर उपर्युक्त धारणा को प्रतिपादित करने का प्रयास करेंगे।

सर्वसिद्ध आख्यान ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 95वें सूक्त में है जिसमें 18 ऋचाएँ हैं। इन ऋचाओं में राजा पुरुरवा और उर्वशी के मध्य संवाद समाहित है। पुरुरवा मनुष्य है तथा उर्वशी अप्सरा है। चार वर्ष तक दोनों पति-पत्नी के रूप में रहते हैं किन्तु गर्भवती होने पर एक दिन उर्वशी राजा का परित्याग कर कहीं चली जाती है। राजा खोजता हुआ अन्त में उसे अन्य कुछ अप्सराओं के साथ एक सरोवर में जल-क्रीड़ा करते हुए देखता है। उपर्युक्त कथा मात्र ऋग्वेद में निहित है; किन्तु परवर्ती शतपथ ब्राह्मण में यही कथा कुछ विकसित रूप में मिलती है। उर्वशी पुरुरवा की पत्नी बनने के लिए तीन शर्तें रखती है जिनमें से एक यह भी थी कि राजा उर्वशी को कभी नग्न न देखे। राजा शर्तों को स्वीकार कर लेता है। दोनों ही पति पत्नी रूप में पुनः रहने लगते हैं; किन्तु गन्धर्व लोग उर्वशी को पुनः स्वर्ग में ही लाना चाहते थे। इसलिए अपने अभीष्ट को पूर्ण करने के लिए गन्धर्व एक दिन रात में उर्वशी के पुत्रवत् प्रिय दोनों ही मेमनों की चोरी कर लेते हैं। उर्वशी नींद खुलने पर मेमनों को न देखकर विलाप करती है। पुरुरवा उर्वशी के परितोष के लिए जल्दी से उठकर चोरों को पकड़ने के लिए दौड़ता है। वह जल्दी में यह भूल जाता है कि वह नग्न है। गन्धर्व अपनी योजना को पूर्ण करने के लिए विद्युत

1. वैदिक साहित्य की रूपरेखा : पाण्डेय एवं जोशी, पृ० सं० 77।

प्रकाश कर देते हैं और राजा उर्वशी को नग्न देख लेता है। शर्त टूटने
कारण उर्वशी राजा को छोड़कर चली जाती है। राजा फिर विरही होक
उर्वशी की खोज प्रारम्भ करता है और खोजते-खोजते वह उर्वशी को अ
अप्सराओं के साथ एक तालाब में हंसों के रूप में तैरते हुए देखता है। रा
ने उर्वशी से अनेकशः प्रार्थनाएँ साथ चलने के लिए कीं; किन्तु उसने उ
स्वीकार नहीं किया। अन्ततः राजा के आत्मघात के लिए प्रस्तुत होने
उर्वशी केवल इतना कहती है—राजन् ! आत्मघात से कुछ लाभ नहीं होगा
स्त्रियों के साथ चिरन्तन मैत्री नहीं हो सकती, क्योंकि उनका हृदय सालावृ
(भेड़ियों) का सा होता है—

पुरुरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ॥

10।95।

पुरुरवा एवं उर्वशी का पुनर्मिलन ऋग्वेद एवं शतपथ-ब्राह्मण में स
उल्लिखित नहीं है। हाँ, यह अवश्य कहा जाता है कि पुरुरवा गन्धर्व हो जा
है और स्वयं में अपनी प्रेयसी के साथ पुनः संभोग सुख को प्राप्त करता है
पुरुरवा उर्वशी की यह प्रेम-कथा ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त कृ
यजुर्वेदीय काठक संहिता, बौधायन श्रौतसूत्र, ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी की टी
हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, कथा सरित्सागर तथा विक्रमोर्वशी में भी प्रा
होती है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का दसवाँ सूक्त संवाद रूप में आख्यानकाल
उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें यम-यमी (भाई-बहिन) का कथनोपकथन नि
है। सृष्टि के आदिक युग से मानव जाति के विकास की कथा का सूत्र इ
उपलब्ध प्रतीत होता है। मानव जाति को बनाये रखने के लिए यमी अ
भाई को संभोग के लिए आमन्त्रित करती है; किन्तु यम सहज भ्रातृ स्नेह
इस सगोत्र सम्बन्ध को अवैध बताते हुए निराकरण करता है; किन्तु यमी
परिवर्धमान कामेच्छा उसको कटु वाक्यों पर उतार लाती है। वह यम
खीझकर उसे पुरुषत्वहीन कहती है। मानवीय भावनाओं रहित बतलाते
निष्ठुर तक कहती है; किन्तु यम बहुत ही सहज शब्दों में यह कहकर इस प्र
को समाप्त कर देता है कि तुम उस व्यक्ति का जाकर आलिंगन करो, जो भा
त्तेजित हो। यह स्पष्ट नहीं है कि यम-यमी की इस कथा का अन्त क्या

अन्यत्र कहीं भी इस कथा का उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए यह भी विदित नहीं होता कि मानव जाति के रक्षार्थ यमी ने क्या किया। लेकिन इस नाटकीय रमणीय सूक्त से इतना तो अवश्य ही आभास मिलता है कि इस समय तक आर्य जाति एवं सभ्यता का नैतिक स्तर उत्पन्न हो चुका था।

ऋग्वेद का सूर्या सूक्त 10।815 की संवाद सूक्तों में एक सुन्दरतम निदर्शन है। इस सूक्त में सूर्य के विवाह का निर्देश है। सूर्या सूर्य पुत्री है जिसे इस सूक्त में उषा भी कहा गया है। सूर्या का विवाह सोम के साथ होता है। प्रस्तुत सूक्त की 47 ऋचाओं में अश्विनीकुमारों तथा सोम-सूर्या को लक्ष्य कर ही भाव व्यक्त किए गए हैं। इस सूक्त में विवाह पद्धति वर्णित है जो कि आगे चलकर सूत्र ग्रन्थों में पल्लवित हुई है। विवाहित दम्पती के जीवन की भी कुछ छाया इसमें देखने को मिल जाती है। जहाँ इस सूक्त में विवाह की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है, वहीं इनमें यम-यमी सूक्त के समान सरलता, सरसता, भावप्रवणता जैसे काव्यात्मक तत्त्वों का भी समावेश हुआ है। इस संवाद में ही कुछ ऋचाएँ जादू से भी सम्बन्धित हैं, जिनमें वधू की प्रतीक्षा में बैठे प्रेतों को हटाया जाता है। कुछ मंत्र गर्भरक्षा, बीमारी, दुस्वप्न, अपशकुन, जादू, हानिप्रद कीटाणु, शत्रु एवं पशुधन विषयक भी हैं।

पाँचवें मण्डल में श्यायाश्व एवं राजा रथवीति की कन्या का प्रणय-चित्र मिलता है जहाँ राजा राजपुत्री से प्रेम करने लगता है, किन्तु रानी किसी शुभ लक्षण समन्वित आदर्श व्यक्ति को कन्या देना चाहती है। इसलिए राजा शास्त्रों का अध्ययन कर विद्वान कवि के रूप में उसे प्राप्त करता है। काव्यकला की दृष्टि से तो यह सूक्त सुन्दर बना ही है; किन्तु उस काल में विद्वान का आदर होता था, यह भी इस आख्यान को पढ़ने से ज्ञात होता है।

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के 130 वें सूक्त में गीत मण्डूक गीत है। इस सूक्त में मेढ़कों की तुलना ब्राह्मणों से ही की गई है। ग्रीष्म ऋतु में शान्ति व्रतधारी ब्राह्मण के समान ही मेढ़क शान्त एवं अज्ञातवास में रहते हैं; किन्तु वर्षा के आगमन पर परस्पर एक-दूसरे का अभिनन्दन करते हैं। जिस प्रकार वेद का पढ़ने वाला शिष्य अपने गुरु के शब्दों की पुनरावृत्ति करता है। उसी प्रकार एक मेढ़क दूसरे मेढ़क के शब्दों की पुनरावृत्ति करता है। इस सूक्त की समस्त कल्पनाएँ मनोविनोदपूर्ण एवं सरस हैं। पाश्चात्य विद्वान् इन मन्त्रों को

याज्ञिक गीतों के अनुकरण पर गीतों के रूप में द्वेषमूलक ब्रह्म के प्रति व्यंग्य मानते हैं; किन्तु भारतीय विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं। फिर भी यह सूक्त सुन्दर है तथा हास्य रस की उद्‌भावना भी करता है। इसमें ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए मन्त्र भी हैं।

दसवें मण्डल के 34 वें सूक्त में धर्मविहीन कविता संगृहीत है जिसे हम अक्षसूक्त के नाम से अभिहित करते हैं। यह एक जुआरी का करुण स्वगत कथन है। इस सूक्त को पढ़कर पता चलता है कि द्यूत-क्रीड़ा गृहशान्ति को कैसे सहज ही समाप्त कर देती है। इस सूक्त में एक जुआरी जुआ न खेलने की प्रतिज्ञा कर लेता है; किन्तु पासों की झंकार उसे पुनः नित्य की भाँति खेलने के स्थान पर बुला लेती है, पतन की सीमा यहाँ तक दिखाई गई है कि वह अपनी पत्नी को हार जाता है। फलस्वरूप सास घृणा करती है। साहूकार ऋण नहीं देता; किन्तु जुआरी अपनी आदत से लाचार है।

अन्य अनेक आख्यान सूक्त हैं, बहुत से वैदिक आख्यान अधूरे भी हैं। तथापि उपयोगिता की दृष्टि से तात्कालिक समाज के स्पष्ट चित्र-दर्शन के लिए ये आख्यान अत्यधिक उपादेय हैं।

ऋग्वैदिक आख्यान-साहित्य अथवा सम्वाद-सूक्तों का प्रायशः पाश्चात्य विद्वानों ने ऐतिहासिक मूल्यांकन ही प्रस्तुत किया है; किन्तु मीमांसक तथा स्वामी दयानन्द जी ने इनका दूसरी दृष्टि से अध्ययन किया है। मीमांसकों का कथन यह है कि यह आख्यान साहित्य · प्ररोचना मात्र है। आख्यान के प्रदर्शनार्थ इस साहित्य का सृजन नहीं हुआ है, अपितु परवर्ती काल में इन मन्त्रों को ऐतिहासिक गाथाओं के साथ सम्बद्ध कर दिया है। शबर स्वामी इस आख्यान साहित्य को मौलिक स्वीकार नहीं करते हैं तथा इसकी वास्तविकता पर सन्देह करते हैं।

स्वामी दयानन्दजी का कहना है कि आख्यानों में आये हुए नाम इन्हीं अर्थों के बोधक नहीं हैं, अपितु उनके अन्य अर्थ हैं। जैसे कश्यप शब्द का अर्थ निरुक्ति की दृष्टि से प्राण है। 'कश्यपो वैकूर्म', 'कूर्मो वे प्राणः'। इसी प्रकार जमदग्नि शब्द का अर्थ है—नेत्र—"चक्षु वै जमदग्निः।" वसिष्ठ का प्राण, भरद्वाज का मन, विश्वामित्र का अर्थ है कान। इसी प्रकार स्वामीजी यौगिक आध्यात्म-परक अर्थ के आधार पर ऐतिहासिकता का विरोध करते हैं, किन्तु

आधिभौतिक, आधिदैविक अर्थ करने पर ऐतिहासिकता की भी प्रतीति होती है जो कि स्वीकरणीय है।

वैदिक साहित्य के ये संवाद-सूक्त साहित्यिक एवं सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके महत्त्व के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न—वैदिक देवतावाद का सर्वांगीण विवेचन कीजिए।

Examine critically the nature and development of Vedic deities.

—आ० वि० वि० 57

Or

Show how the understanding of the nature of the Rigvedic deities resulted on the foundation of the scientific study of mythology.

—आ० वि० वि० 58

Or

Attempt a note on the nature of the deities of Rigveda.

—आ० वि० वि० 61

उत्तर—शक्ति और शक्तिमान में लीलावश समस्त ब्रह्माण्ड गतिमान है। इन्हीं शक्ति और शक्तिमान को माया और मायावी, पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति आदि भी प्रायः कहा जाता है। वस्तुतः अपनी शक्ति के बिना शिव शव है और शिव के बिना शक्ति स्वतः निराधार है। इस प्रकार शक्ति तत्त्व ही परा देवता है—क्रमशः जैसे-जैसे जगत् का विकास होता है वैसे ही वैसे परमशक्ति नाना रूपों को धारण करती है। इस ब्रह्माण्ड में आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि जितनी भी शक्तियाँ हैं, वे सब इसी मूलशक्ति के भेदमात्र हैं। देवतावाद के प्रधान वैदिक ग्रन्थ वृहद्देवता में लिखा है कि—

वेदितव्यं देवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति॥

प्रयत्नतः प्रत्येक मन्त्र के देवता का परिज्ञान करना चाहिए क्योंकि देवता ज्ञान से युक्त विद्वान् ही वेदार्थ और वेदरहस्य समझ सकता है। 'वृहद्देवता'

का तो यह भी कहना है कि चेतनाधिष्ठान से रहित शरीर का कोई भी अंग कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि जड़ पदार्थ में स्वयं कर्त्तव्य शक्ति नहीं है, इसलिए उसका अधिष्ठाता कोई चेतन अवश्य होना चाहिये। इसलिए अनेक जड़-पदार्थों के अनेक अधिष्ठाता कोई चेतन (देवता) माने गये हैं; परन्तु अन्ततः सभी एक हैं, एक ही अग्नि की अनेक स्फुलिंग की भाँति एक ही परमात्मा की सब शक्तियाँ हैं। **'ऐको देवः सर्वभूतेषुगूढ़'** महाशक्ति की जो अनेक शक्तियां विविध रूपों में विद्यमान हैं, उनके अनेक नाम हैं, उनकी अनेक नामों से संस्तुति भी की गई है किन्तु अन्ततः वह एक ही हैं—

'तस्मात् सर्वेपरि परमेश्वर एव हूयते'

देव शब्द अनेक अर्थों को व्यक्त करता है 'देव' वह है जो मनुष्य को देता है, वह समस्त विश्व को देता है। विद्वान पुरुष भी देव है क्योंकि वह विधाओं का दान करता है **'विद्वांसोहि देवाः'** इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और आकाश भी देव हैं और अतिथि भी देव हैं—मातृ देवोभव, पितृ देवोभव, आचार्य देवोभव, अतिथि देवोभव। ये उपनिषद् वचन इसके प्रमाण हैं।

वैदिक साहित्य में प्राप्त देव विषयक विषय-वस्तु का प्रामाणिक विवेचन हम निरुक्त नामक ग्रन्थ में प्राप्त करते हैं। निरुक्तकार यास्क का कहना है—

'देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा दीपनद्वा द्युस्थानो भवतीत वा' (7।15)

वस्तुतः देवता अपने भक्तों को प्रकाश तथा दान देने के साथ समस्त कामनाओं के भी पूरक होते हैं। देवों की सत्ता तीन प्रकार की निरुक्त में निर्दिष्ट है— **एक पृथ्वी** स्थानीय अग्नि, सोम आदि **दूसरे अन्तरिक्षस्थानीय** वायु, इन्द्र पर्जन्यादि **तीसरे द्युतस्थानीय** सूर्य सविता, पूषा आदि—

'तिस्त एव देवता व्रति नैरुक्ता अग्निः पृथ्वी स्थाना। वायुर्वा इन्द्र वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्यूस्थाना।' आचार्य यास्क ने अपर्युक्त देवों को वेदों आधार पर पुनः चार रूप में विभक्त किया है।

(1) प्राकृतिक शक्ति रूप देवता—इन्द्र, सूर्य, सविता, पूषा आदि (2) गृहदेवता—अग्नि, सोम आदि; (3) भावजन्य—मन्यु, श्रद्धा, प्रजापति आदि। (4) गौण देवता—गन्धर्व, अप्सरा आदि।

जिस सूक्त में जिस देवता का नाम रहता है, उसका वही प्रतिपादन और स्तवनीय है। यदि कहीं जड़ पदार्थों को भी देवतावत माना गया है

वे जड़ पदार्थ भी उस तत्त्व के अधिष्ठाता हैं, क्योंकि आर्य लोग प्रत्येक जड़ पदार्थ का एक अधिष्ठाता देवता मानते थे, इसीलिए वे जड़ की स्तुति भी चेतन की तरह करते थे। मीमांसाकार ने भी उपर्युक्त विचारधारा का समर्थन करते हुए लिखा है कि—**जिस मन्त्र में जिस देवता का वर्णन है, उस मन्त्र में उसी देवता के समान ही दिव्य शक्ति समाहित रहती है इसलिए देवत्व शक्ति मन्त्र में ही है।**

प्राकृतिक आधार रखने वाले प्रधान वैदिक देवताओं की संख्या तेंतीस है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ग्यारह-ग्यारह देवों के तीन समुदायों का उल्लेख मिलता है—जो देवता स्वर्ग में हैं वे ग्यारह हैं, पृथिवीस्थ देवता भी ग्यारह हैं; अन्तरिक्ष स्थानीय देवता भी ग्यारह ही हैं, वे सभी अपनी महिमा से यज्ञ की सेवा करते हैं—

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ ॥
अप्सुक्षितौमहिनैकादस्थ ते देवासो यज्ञमिम जुषध्वम् ॥

—ऋ० 1।139।11

अन्य कई मन्त्रों में भी तेंतीस देव का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में भी आठ वसु, ग्यारह-रुद्र, बारह आदित्य; आकाश और पृथ्वी इस प्रकार तेंतीस देवताओं का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी प्रयाजदेव, ग्यारह अनुयाज देव और ग्यारह उपायदेव इस प्रकार तेंतीस देवों का उल्लेख मिलता है; किन्तु ऋग्वेद के एक या दो मन्त्रों में तीन हजार तीन सौ उन्तालीस देवों का भी संकेत मिलता है। महान् संख्यक इन देवताओं के सम्बन्ध में आचार्य सायण ने लिखा है कि 'देवता तो तेंतीस ही हैं; परन्तु देवों की विशाल महिमा के सूचनार्थ 339 देवों का उल्लेख है। इस प्रकार ऋग्वेद से बहुदेवतावाद का संकेत हमें मिलता है। यहाँ प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होते हैं कि देवताओं की यह अनेकता वास्तविक है या नहीं तथा एकत्व की प्रतीति प्राचीन काल में थी या नहीं। इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक है कि वैदिक देवता अपनी-अपनी स्वतन्त्र या पृथक सत्ता के साथ माने जाते थे। विभिन्न प्राकृतिक कार्यों का संचालन करने वाली इन दैवी शक्तियों की प्रात्यक्षिक प्रत्यक्ष सत्ता किससे छिपी है? फिर भी वैदिक मन्त्रों के गम्भीर अध्ययन से विभिन्न स्थानीय और विभिन्न कर्म करने वाले देवताओं में अनुस्यूत जो एकसूत्रता दिखाई देती है, उसके आधार पर यह मानना

पड़ता है कि उसका मूलरूप अध्यात्म है जिसकी धार्मिक दृष्टि विभिन्न प्रतीति को ही तत्तदेवता का नाम दिया गया।''

वैदिक देवताओं की मौलिक आध्यात्मिक एकता का वर्णन वेदों के मन्त्रों में भी स्वतः मिल जाता है, ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के इन मन्त्रों में स्पष्ट ही लिखा है कि इन्द्रादि देवों के नामों में ही अन्तर है किन्तु आत्यन्तिक सत्ता एक ही है—

इन्द्रं मित्रंवरुणग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णो गरुत्यान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातारिश्वानमाहु ॥ ऋ० 1।164।43

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायूस्तदुचन्द्रमाः

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मा ता आपः सप्रजापतिः । यजु० 32।1

न एकः न द्वितीयः न तृतीयः आदि । अर्थात् विद्वान् मनीषियों की दृष्टि में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्मा आपः, प्रजापति आदि नाम एक ही मौलिक सत्ता या आध्यात्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। निरुक्तकार ने तो केवल एक महादेव को स्वीकार करते हुए लिखा है कि तत्तत्कर्मानुसार विभिन्न नामों में पुकारे जाने पर भी देव एक है— **'तासां महाभाग्यात् एकैकस्यापि बहुनि नामनेयानि सन्ति एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।'** अर्थात् एक ही आत्मा (परमात्मा) के सब देवता विभिन्न अंश हैं। इसी अन्तिम तत्त्व परमात्मा को याज्ञिकों और ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रजापति कहा है। सभी देवता इन्हीं प्रजापति के विशिष्ट अङ्ग माने गए हैं। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में यह धारणा पूर्व रूप से व्यक्त हुई है कि देवों का महान् बल एक ही है—**'महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।'** आशय यही है कि देवों की शक्ति मूलतः एक ही है, व्यवहारतः ही वह अनेक नामों से पुकारा जाता है।

ऋग्वेद-कालीन देवतावाद अथवा ऋग्वेद-कालीन धर्म का विश्लेषण करते हुए हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि ऋग्वेद के बड़े-बड़े देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के ही प्रतीक हैं। उनका ऐश्वर्य, तेज, शक्ति एवं बुद्धि आदि समान रूप से उपन्यस्त हैं, वैदिक देवताओं को एक दूसरे से अलग करने वाली विशेषताएँ इनी-गिनी हैं, बहुसंख्यक गुण और शक्तियाँ तो सभी देवताओं में लगभग समान हैं। इस बात का एक कारण तो यह है कि प्रकृति के वे विभाग

---

1. **भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० 73**

या इकाइयाँ जिनके ये देवता प्रतिरूप हैं, अनेक बातों में समान हैं, जब कि अभी ये देवता मानव के रूप में पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये हैं। इसलिए विद्युत के देवता का (विद्युत के रूप में), अग्नि के देवता का और तूफानों के देवता का वर्णन समान भाषा में संभव है; क्योंकि वैदिक कवि दृष्टि में इन सब का प्रमुख व्यापार पानी बरसाना। एक बात और भी कह दी जाय कि इन सभी देवताओं का यथार्थ स्रोत एक ही है किन्तु उन देवताओं में उस-उस संज्ञा के कारण विभेद आ गया है, जो कि किसी ऐसे गुण-विशेष का बोध कराती है जिसने शनैः-शनैः, अपना स्वतन्त्र रूप बना लिया है।

आर्यों का विश्वास था कि प्राकृतिक देवी-देवताओं की उपासना के माध्यम से उस अनन्त शक्ति की उपासना होती है और वह अनन्त शक्ति ही कामनाओं की पूर्ति करती है। वेद में पौराणिकता के मौलिक तत्त्वों का उदय यहीं से होता है। डाक्टर पाण्डेय एवं जोशी ने लिखा है, 'ऋग्वेद के ये सूक्त हमारे लिए केवल इसीलिए बहुमूल्य हैं कि इन सूक्तों में हम पुराण और इतिहास का प्रारम्भिक सूत्रपात देखते हैं। हम देवताओं को अपने चर्मचक्षुओं के सामने प्रकट होते हुए देखते हैं। अनेक सूक्त सूर्य देव, चन्द्र देव, अग्नि देव, प्रभंजन, जलदेव, ऊषा काल की देवियों तथा पृथ्वी की देवियों के प्रति नहीं कहे गये हैं अपितु स्वयं भास्कर नैशनभ में प्रस्फुटित सुधांशु, अग्निकुण्ड तथा वेदी पर देदीप्यमान वेंश्वानर मेघमण्डल में चमकती हुई सौदामिनी निशीथिका में तारांकित व्योम, गर्जना करते हुए प्रभजन मेघों तथा तरङ्गिणियों में बहते हुए जल, अरुण, उषा तथा फल युक्त मही इन समस्त प्राकृतिक शक्तियों के प्रति प्रशंसा, पूजा और आह्वान के रूप में कहे गये हैं।[1]' वैदिक साहित्य के अध्ययन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि वैदिक देवताओं का प्राकृतिक आधार लगभग स्पष्ट है; उदाहरण के लिए अग्नि, वायु, आपः, आदित्य, उषस् आदि वैदिक देवताओं के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि यहाँ भौतिक अग्नि आदि को ही ऊपर उठाकर देवत्त्व के आसन पर आसीन किया गया है। यद्यपि अश्विन् वरुण आदि देवों के सम्बन्ध में कुछ सन्देह अवश्य रह जाता है; किन्तु अधिकांश देवों के स्वरूप दर्शन से इसमें सन्देह नहीं रहता कि इनके भी मूल में कोई भौतिक आधार अवश्य रहा होगा। एक बात और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि

---

1. **वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० 56-57**

देवों के भौतिक आधार के रहते हुए भी ऋषियों ने जिन प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति या प्रशंसा की है, उनके स्थूल रूप की नहीं, अपितु उनकी शासिका अधिष्ठात्री चेतन शक्ति की ही है, यही नहीं, यह चेतन शक्ति परमात्मा से भिन्न नहीं है अपितु परमात्मा रूप ही है।

वैदिक साहित्य में देवताओं की कई रूपों में स्तुति की जाती है। देवता युग्मरूप से आहूत होते हैं; जैसे—मित्रावरुण, द्यावापृथिवी, कुछ समुदाय रूप में भी आते हैं; जैसे–मरुद्गण, आदित्यगण, वसुगण, विश्वेदेवा, ऋभुगण आदि। ऊपर हम बतला चुके हैं कि विभिन्न देवता एक ही शक्ति से प्रेरित हैं अथवा एक ही शक्ति के रूपान्तर हैं। ऋग्वेद में कहीं-कहीं एकेश्वरवाद Pantheism के भी दर्शन हो जाते हैं। ऋग्वेद में प्रत्येक देवता को ही सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में स्तवन किया गया है। वैदिक देवताओं की एक विशेषता यह भी है कि उनकी शारीरिक रचना मनुष्यों की सी है। उनके भी सिर, आँख, भुजा, हाथ, पैर आदि होते हैं। इस विषय में डा० सूर्यकान्त वैदिक देवताशास्त्र की भूमिका में लिखते हैं—

'अनेक स्थलों पर भी इस मानवीय रूप रचना का आरम्भिक रूप तक हमारे सामने आ जाता है। उदाहरण के लिए उषा को लीजिए—यह एक ऐसी देवी है जिसका मानवीकरण रूप-परिधान अभी तक ढीला-झीना है और जब अग्नि शब्द से देवता का बोध होता है तब अग्नि देवता का व्यक्तित्व चहुँ ओर के प्राकृतिक तत्त्वों से सुतरां घुला-मिला रहता है।' वैदिक देवतावाद के सम्बन्ध में मैकडानल ने लिखा है कि—'वैदिक देवशास्त्र का मूल प्राचीन काल से वैदिक युग तक अविच्छिन्न चलते आये उस विश्वास में है जो मानव के समक्षवर्ती पदार्थों एवं प्राकृतिक दृश्यों को चेतन एवं देवी मानता रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु जो मन में भय पैदा कर सकती थी अथवा जिसके विषय में यह भावना बन जाती थी कि उसका मानव पर भला या बुरा प्रभाव पड़ सकता है न केवल मानव के लिये आराधना का विषय बन जाती थी, अपितु वह उसकी प्रार्थना के योग्य भी हो जाया करती थी। फलतः आकाश, पृथ्वी, पर्वत, नदी और पौधों तक की उपासना दिव्य शक्तियों के रूप में चल पड़ी थी और घोड़ा, गौ शकुन-पक्षी एवं अन्य पशुओं का आह्वान किया जाने लगा था; यहाँ तक कि मानव के अपने हाथों बनाये पदार्थ शस्त्र, युद्धरथ, ढोल, हल एवं कर्मकाण्ड के उपकरण-सवन-पाषाण एवं यज्ञ स्तम्भ आदि सभी की उपासना सामान्य बन

गई थी।' एक बात यहाँ और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वैदिक देवताओं का मानवीय आकार होने पर भी उनका शरीर ठोस न होकर छाया-त्मक होता था, कुछ देवता योद्धारूप में विविध वाहनों पर सवार होकर हमारे सम्मुख आते हैं। डा० मंगलदेवजी ने इस विषय में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है, 'उनके मूल में प्राकृतिक आधार होते हुए भी स्तोता की तन्मयता के आवेग के कारण उन देवताओं में उनके पृथक्‌व्यक्तित्व की पराकाष्ठा के द्योतक पुरुषविधित्व[1] का आरोप भी प्रायः मन्त्रों में देखा जाता है। देवताओं के हाथ, पैर आदि अङ्गों के साथ[2] उनके वाहन यहाँ तक कि उनकी पत्नियों[3] का भी वर्णन मन्त्रों में देखा जाता है।' इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि वैदिक देव यशसम्पन्न मानवीय प्राणी हैं जो मानवीय उद्देश्यों एवं कामनाओं से अनुप्राणित हैं और जो मानव की भाँति उत्पन्न होते हैं पर मरते कभी नहीं। वे बिना किसी अपवाद के प्रकृति की एजेन्सियों अथवा प्राकृतिक दृश्यों के दिव्यीकृत प्रतिरूप हैं।

ऋग्वेद के देवतावाद सम्बन्ध में इतना विवेचन कर लेने के उपरान्त उनके स्वरूप के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना उचित ही होगा। हम यह देख ही चुके हैं कि ऋग्वेद काल में आर्य प्राकृतिक शक्तियों की उपासना किया करते थे। कालान्तर में यही प्राकृतिक शक्तियाँ तद्देवता के नाम से अभिहित की जाने लगीं। वेद में पौराणिकता का उदय यहीं से होता है। एक बात यहाँ और भी जान लेनी चाहिए कि वैदिक देवताओं में से जिनका पहले विशे-षण के रूप में प्रयोग होता था, शनैः-शनैः वे भी देवत्व पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सविता जीवनदायक, विवस्वान् देदीप्यमान आदि शब्द पहले विशे-षण थे; कालान्तर में सूर्य के पर्यायवाची नाम और अन्ततः पृथक देवतावाचक हो गए; किन्तु यहाँ यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि पुरो-हितों ने जनता की मान्यता के बिना ही इस पौराणिकता को जन्म दिया था या धार्मिक व्यवस्था स्थापित कर ली थी। यद्यपि देवताओं के विषय में बहुत

---

1. 'अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषाविधाः स्युरिक्षेकम्' निरुक्त 7।6
2. 'ऋष्वा त इन्द्र स्थाविरस्य बाहु' ऋग्वेद 6।47।8
   'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र यादि' ऋग्वेद 2।18।4
3. कल्याणीर्जाया सुरणं गृहेते। ऋग्वेद 3।53।6

सी धारणाएँ क्षणिक कवि-कल्पना-जन्य भी हैं। पर अधिकतर लोक परम्परा से गृहीत हैं। इस विषय में हिलाब्रान्ट ने कहा है कि They stood above, but not outside the people. देव भक्तों के कारण साधक, रक्षक व ऐश्वर्य के दाता हैं। वेदों की उपासना दीर्घायुष्य को प्रदान करती है। देवताओं की एक विशेषता उनकी चारित्रिक दृढ़ता में है। वे ईमानदार ऋतु के रक्षक तथा छल-कपट के विरोधक भी हैं। वैदिक देवताओं के चारित्रिक स्तर की उच्चता सर्वविदित है। अन्य देवों की अपेक्षा हमारे देव दृढ़ चरित्र के हैं। डा० सूर्यकान्त वैदिक देवशास्त्र की भूमिका में लिखते हैं—

"जहाँ एक ओर निकटपूर्वीय देशों के देवी-देवताओं का चरित्र आज के मानदण्ड से देखने पर कुछ ढीला-ढाला-सा प्रतीत होता है, वहाँ वैदिक देवताओं का चरित्र आज के मानदण्ड की दृष्टि से भी अत्यन्त उच्चकोटि का ठहरता है।"

देवतावाद पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि वेद-मन्त्रों की विद्वानों ने अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की हैं, उनके विभिन्न मतों को हम संक्षेप में इस प्रकार देख सकते हैं—

प्रकृतिवादी

भारतीय भाष्यकार सायण वेद-मन्त्रों को देवताओं की प्राकृतिक शक्तियों के रूप में व्याख्या करता है। वे प्राचीनतम धर्म के प्रतीक हैं। उनका धर्म प्रकृति-पूजा है। सायण वेद-मन्त्रों की व्याख्या में कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण को भी देखते हैं। उनका लक्ष्य प्रकृति-पूजा के माध्यम से यज्ञ की ओर उन्मुख रहा है।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों में फ्लाइडरेर (Ffleiderer) 'ऋग्वेद की आदिम बाल-सुलभ सरल प्रार्थना' का संकेत करता है। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार, "स्थल रूप से हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद एक अकृत्रिम (Unsophisticated) युग का प्रतिनिधित्व करता है। अधिकांश मन्त्र सरल और अकृत्रिम हैं और बाद की कृत्रिमता से युक्त मन की धार्मिक चेतना की अभिव्यक्ति करते हैं।

---

1. History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 69.

ब्लूमफील्ड के अनुसार ऋग्वेद के मन्त्र आदिम जाति की बलिदान विधियों की रचनाएँ हैं, जो कर्मकाण्ड को विशेष महत्त्व देती हैं। वेद में वर्णित देवी-देवता यज्ञ की विविध विधियों और उपकरणों के प्रतीक हैं। इसलिए वे अधिक गम्भीर नहीं हैं।

बर्गाइन के अनुसार देव-मन्त्र रूपक (Allegory) हैं तथा इनमें वर्णित देवी-देवता सामाजिक परम्पराओं के प्रतीकात्मक रूप हैं।

पिक्टेट (Pictet) के अनुसार ऋग्वेद के कार्य एकेश्वरवादी थे; भले ही उनका यह एकेश्वरवाद आदिम रूप में ही क्यों न हो। अनेक मन्त्रों में देवाधि-देव का उल्लेख मिलता है। रॉथ और स्वामी दयानन्द भी इस मत के समर्थक हैं। निरुक्त में भी इस मत की स्वीकृति है।

राजा राममोहन राय वैदिक देवों को 'एक परमदेव के गुणों का लाक्षणिक (Allegorical) रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं।' मन्त्रों के भिन्न-भिन्न देवी-देवता एक देव के विभिन्न पक्ष हैं, जो कि कभी-कभी महेश्वर भी कहा जाता है।

'श्री अरविन्द के अनुसार वेदों में रहस्यवादी दर्शन और गुप्त सिद्धान्त सम्भूत हैं। मन्त्रों के देवी-देवता मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के चिह्न हैं। सूर्य बुद्धि का चिह्न है, अग्नि संकल्प का चिह्न है और सोम अनुभूति का चिह्न है। वेद प्राचीन यूनान के आरफिक (Orphic) और एल्युसिनियन (Eleusinian) मतों के समान रहस्यात्यक धर्म है। श्री अरविन्द के शब्द में, "मैं जो सिद्धान्त उपस्थित करता हूँ, वह यह है कि ऋग्वेद स्वयं एक महान् अभिलेख है जो कि मानव विचार के उस आदि काल से हमारे पास बना है, जिसके ऐतिहासिक एल्युसिनियन और आरफिक रहस्य असफल अवशेष थे, जिस काल से जाति का आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञान, कुछ कारणों से जिनको कि अब निश्चित करना कठिन है, चिह्नों के मूर्त और भौतिक रूप के आवरण में छिपा दिया गया था; जो कि भ्रष्टों से अर्थ को छिपा लेते थे और दीक्षितों को प्रकट कर देते थे।"[1] किन्तु डा० राधाकृष्णन् ने अरविन्द के इस विचार का खण्डन करते हुए लिखा है कि जब हम देखते हैं कि यह मत केवल आधुनिक यूरोपीय विद्वानों के ही मत के विरुद्ध नहीं है, अपितु सायण के परम्परागत भाष्य एवं पूर्व मीमांसा के मत के विरुद्ध है, क्योंकि पूर्व मीमांसा को वैदिक व्याख्या के

---

1. आर्य, खण्ड 1, पृष्ठ 60

लिए प्रमाण समझा जाता है, तो हम श्री अरविन्द घोष के नेतृत्व का अनुसरण करने में हिचकते हैं; भले ही उनका मत कितना ही सुकल्पित क्यों न हो। यह सम्भव नहीं हो सकता कि भारतीय विचार की समस्त उन्नति वैदिक सूक्तों के उच्चतम आध्यात्मिक सत्यों से उतर कर शनैः-शनै गिरती चली जाय। मानवीय विकास के सामान्य नियम के अनुसार यह स्वीकार करना तो सरल है कि परवर्ती धर्म और दर्शन असंस्कृत संकेतों एवं आचार-सम्बन्धी मौलिक विचारों से और प्राचीन मानवीय मस्तिष्क की उच्च आकांक्षाओं से उदित हुए, बजाय इसके कि उनके विषय में यह धारणा की जाय कि प्रारम्भ में प्राप्त पूर्णता से अवनति के रूप में ये उत्पन्न हुए।''[1] डा० राधाकृष्णन् के 'अनुसार वेद के मन्त्रों में 'पहले बाह्य जगत की शक्तियों की पूजा करते-करते उपनिषदों का आध्यात्मिक धर्म उत्पन्न हुआ तो यह बात सरलता से समझ में आ सकती है, क्योंकि धार्मिक उन्नति का स्वाभाविक नियम ऐसा ही है। इस पृथ्वी पर हर जगह मनुष्य बाह्य जगत् से चलकर आभ्यान्तर की ओर आता है। उपनिषदें प्राचीन प्रकृति-पूजा की ओर ध्यान न देकर मात्र वेदों में संकेत रूप में निविष्ट उच्चतम धर्म को ही विकसित करती हैं।'[2]

वैदिक देवों के स्वरूप, महत्त्व एवं विषय विकास की भी अपनी एक कहानी है। यहाँ के वेदों का महत्त्व एवं स्वरूप सदैव परिवर्तनशील रहा है। समष्टि दृष्टि से यदि विकास पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि वैदिक देवतावाद बहुदेववाद की ओर उन्मुख था, कालांतर में एकदेववाद और सर्वेश्वरवाद के रूप में उसकी चरम परिणति होती है। ऋग्वेद का पुरुषसुक्त सर्वेश्वरवाद का पूर्ण परिपक्व स्वरूप प्रस्तुत करता है, वहाँ पर स्पष्ट रूप में लिखा है कि 'उस पुरुष के सहस्र सिर हैं, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पाद हैं अर्थात् उनके सिर, नेत्र तथा पैरों की संख्या की इयत्ता नहीं है। वह इस विश्व के परिमाण से अधिक है। वह विश्व को चारों ओर से घेर कर दस अंगुल अधिक बढ़कर है **'अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम'**, में दशाङ्गुल केवल परिमाणधिक्य का उपलक्षण मात्र है। विश्व के समस्त मरणशील प्राणी उनके केवल एक चतुर्थ अंश मात्र हैं। उसका अमृत त्रिपाद आकाश में है····वह अमरणधर्मा प्राणियों का शासक है तथा उन मरणधर्माओं का भी जो अन्न-भोजन करने से बढ़ते हैं।

1-2 भारतीय दर्शन, पृष्ठ 62-63

पुरुष के विषय में विलक्षण तथ्य यह है—'**पुरुष एवेदं सर्वं यद भूत यच्च भाव्यम्** 10।90।2। अकेला पुरुष ही यह समस्त विश्व है जो प्राचीनकाल में उत्पन्न हुआ तथा आगे भविष्य में उत्पन्न होने वाला है। यह सर्वेश्वरवाद (पैनथीज्म) का सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में कार्यों के प्रौढ़ धार्मिक विकास का सूचक है तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ़ दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है।..................पश्चिम विद्वानों की आलोचना में '**पुरुष एवेदं सर्वम्**' की भावना बहुदेवतावाद (पालीथीज्म) तथा एकदेवतावाद (मोनोथीज्म) के अनन्तर जायमान धार्मिक विकास की सूचना देती है।'

ऋग्वेद के दशम मण्डल में अनेक सूक्तों के पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस प्रकार मुख्य देव या देवाधिदेव की कल्पना दृढ़ मूल हो गई थी, यही मुख्य देव कहीं प्रधानदेव, कहीं हिरण्यगर्भ '**हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत**' तो कहीं पुरुष—'**पुरुष एवेदं सर्वं यच्चभूतं यच्चभाव्यम्** कहीं प्रजापति के नाम से विख्यात हुआ था और परवर्त्तीकाल में यही **सर्वमिदं खलु ब्रह्म** की भावना का प्रेरक तत्त्व बना है।

अब हम संक्षेप में वैदिक देवताओं की विशेषताओं का निर्देश करेंगे जिनसे देवताओं के स्वरूप परिज्ञान में सरलता होगी। क्रमिक विकास की दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान 'द्यौ' देवता का है, जो कि मानवीकृत द्युलोक के देवताओं में प्राचीनतम है। इसका अधिकांशतः उल्लेख पृथ्वी के साथ युग्म रूपों में मिलता है; जैसे—छाया-पृथ्वी और यह इसलिए कि ये दोनों विश्व के माता पिता हैं। ऋग्वेद के छह सूक्तों में द्यौ अधिक विश्व का स्रष्टा (माता-पिता) कहा गया है। ऋग्वेद में एकाकी किसी भी सूक्त में इसका उल्लेख नहीं है। यदि है तो पितृत्व की भावना से केन्द्रित होकर। द्यौ की तुलना मोती मण्डित कृष्ण-वर्ण के अश्व से की गई जो कि स्पष्टतः तारांकित नभोमण्डल का प्रतीक है। द्यौ शब्द का अधिकांश में प्रयोग आकाश के लिए हुआ है, इस अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद में पाँच सौ बार प्रयुक्त हुआ है। पचास बार इसका प्रयोग दिन के अर्थ में हुआ है। कतिपय मन्त्रों में 'द्यौ' को वृषभ कहा गया है। ऐसा वृषभ जो कि रँभाता है। इन स्थलों पर देवता को पशु के रूप में देखा गया है, क्योंकि द्यौ एक गरजने वाला पशु है जो कि पृथ्वी को उर्वर बनाता है। द्यौ

---

1. **वैदिक साहित्य और संस्कृति : बलदेव उपाध्याय, पृ० 179**

के पास वज्र है; द्यौ बादलों के बीच मुस्कराता है, जोकि ज्योतिर्मय आकाश की ओर संकेत करता है। वस्तुत: द्यौ की कल्पना में पशु मानवीकरण और मानव आकार रचना के बन्धन नहीं के बराबर हैं; किन्तु पितृत्व का भाव प्रबल रूप से विद्यमान है। द्यौ शब्द की निष्पत्ति दिव धातु से हुई है, जिसका अर्थ है चमकने वाला जो कि 'देव' शब्द का बोधक अर्थ है।

वरुण—इन्द्र को छोड़कर वरुण अन्य देवताओं में महान् है किन्तु सूक्तों की संख्या के आधार पर यदि उनका मूल्यांकन किया जाय तो वे नीचे के स्तर पर आ जाते हैं। वरुण का मानवीय शारीरिक पक्ष उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि नैतिक पक्ष। वरुण के वर्णन में उनका महत्त्व उनके कार्य से आंका जाता है। वरुण मानवीय रूप में सुख, नेत्र, भुज-द्वय, हाथ और पैर से युक्त हैं। कवि उनके मुख को अग्नि जैसा देखता है। मित्र और वरुण का नेत्र सूर्यदेव हैं। वरुण का स्वर्णिम आवास है और वह स्वर्ग है। वरुण अपने भवन में बैठकर संसार के समस्त कार्य-कलापों का निरीक्षण करते हैं। उनका महत्त्व महान् और उन्नततम है, सहस्र स्तम्भों पर वह आधृत है, उनके घर में सहस्रों द्वार हैं। वरुण के चरों का भी उल्लेख मिलता है, जो कि संसार का निरीक्षण करते हैं। वरुण एक नियामक देवता के रूप में मान्य हैं। वरुण के सम्बोधन में उक्त स्तुतियाँ भावपूर्ण कवित्वमय हैं। वरुण अपराधियों को दण्ड भी देते हैं। वरुण के विषय में यह भी कहा जाता है कि वे ऋतुओं का नियमन करते हैं। वे बारहमासों को जानते हैं—**वे ये दंधु: शरदं मासमादहर्यज्ञभक्तं चाहचम्'** ऋग्वेद में वरुण को जलों का शास्ता बताया गया है, उन्होंने सरिताओं को प्रवाहित किया; ये सरिताएँ वरुण के ऋतु का अनुसरण करती हुई निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं। वरुण की माया के बल से सारिताएँ तीव्र वेग से समुद्र में गिरकर भी उसे भर नहीं पाती हैं। वरुण और मित्र सरिताओं के पति हैं **'आराजमाना महऋतस्य गोपा सिन्धुपती क्षत्रिय यातमर्वाक'** 7.64.2। इसी आधार पर उत्तरकालिक पुराणों में वरुण को जल देवता के रूप में विशेष सम्मान मिलता है। नैतिक शासक होने के नाते वरुण सभी देवताओं से ऊँचे हैं। पापकर्म से और व्रतों के उल्लंघन होने पर वरुण क्रुद्ध होते हैं और ऐसा करने वालों को कठोर दण्ड भी देते हैं। जिन पाशों के द्वारा वरुण पापियों को बाँधते हैं, वे पाश सात और तीन कड़ियों के हैं। वे असत्यवादियों को बाँधते हैं और सत्यवादियों से दूर रहते हैं। वरुण के पाश औषधियाँ भी हैं,

जिनसे मृत्यु को वे जीतते हैं। वरुण अपने उपासकों के प्रति मित्रता रखते हैं। वरुण शब्द वृ धातु से निष्पन्न है। सायण वृ धातु से इसकी निष्पत्ति मानते हुए आवृत करने वाला अर्थ करते हैं अथवा दुष्टों को अपने बन्धन में बाँधने वाला **'वरुण शब्दस्यान्धकारवदावरवाचित्वाम्'** दूसरी जगह तैत्तिरीय संहिता की टीका में अन्धकार की तरह छिपाने वाला—**"अन्धकारेणावरण हेतुत्वाद्रात्रेर्वारुणात्वम्"** लिखा है।

मित्र—मित्र का वरुण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद में एक सूक्त को छोड़कर वे सर्वत्र वरुण के साथ याद किये जाते हैं। वे बोलते हुए मित्र मनुष्यों को एकत्र करते और निर्निमेष दृष्टि से हलवाहों को देखते हैं। वे वरुण के समान ही बलवान और 'अदब्ध' कहे गये हैं। वरुण की एक विशेषता मित्र की भाँति मनुष्यों को एकत्र करने में है। मित्र द्युलोक पृथ्वी को धारण करते हैं। पञ्चजन उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। वे सभी देवताओं को स्थिर रखते हैं। मित्र ऋग्वेद में सूर्यदेव से सम्बद्ध मिलते हैं, मित्र शब्द का अर्थ ऋग्वेद में साथी किया गया है।

सूर्य—ऋग्वेद में सूर्य देव के लिए चौदह सूक्त और देवताओं में सूर्य सबसे अधिक स्थूल है और भौतिक सूर्य के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आकाश में सूर्य का ज्वलन्त प्रकाश मानो अमूर्त अग्नि का मुख है। सूर्य के नेत्र का उल्लेख अनेकशः हुआ है। सूर्यदेव दूरद्रष्टा हैं, सर्वद्रष्टा हैं और निखिल धरा के सर्वेक्षक हैं। वे सभी प्राणियों के भले-बुरे कर्मों को देखते हैं। सूर्यदेव मानव मात्र के लिए उद्बोधन के कारण हैं, वे चर-अचर की आत्मा हैं, उनके रथ को घोड़े खींचते हैं। उनके रथ में सात घोड़े या हरित नाम की सात घोड़ियाँ जोती जाती हैं। सूर्य के रथ का निर्माण वरुण ने किया। सूर्य को माता के नाम पर आदित्य या आदितेय भी कहा गया है। सूर्य के पिता द्यौ हैं। कहीं-कहीं सूर्य को आकाश में उड़ने वाला पक्षी भी कहा गया है। सूर्य आकाश के रत्न हैं; सूर्य एक ज्योतिष्मान् आयुध भी हैं। वे मित्र और वरुण द्वारा आकाश में छोड़े गये ज्योतिष्मान् रथ हैं, सूर्य एक चक्र है। सूर्यदेव अन्धकार के विध्वंसक हैं, सूर्य दिनों को भी नापते हैं। वे बीमारी और दुःस्वप्नों का नाश करते हैं; सभी प्राणी सूर्य पर अवलम्बित हैं।

सविता—सविता देव का नाम लगभग एक सौ सत्तर बार ऋग्वेद में आया है। सविता देव आपादमस्तक स्वर्णिम देव हैं, वे अपने हाथों में स्वर्णिम अस्त्र

लेकर सभी प्राणियों की सहायता करते हैं। वे हिरण्याक्ष, हिरण्यहस्त, हिरण्य-जिह्व हैं, वे हिरण्यबाहु पृथुपाणि भी हैं। वे मधुजिह्व सुजह्वि भी हैं, एक बार उन्हें अयोहनु भी कहा गया है। वे हरि केश हैं, जो अग्नि और इन्द्र का एक गुण है। वे पीतवर्ण की गाती बाँधते हैं, उनके पास स्वर्णिम रथ हैं, वे विवश रूप हैं। इनके रथ को दो चमकीले घोड़े अथवा वभ्रु वर्ण, श्वेत वरणों वाले घोड़े खींचते हैं। ओज और विभूति उनका विशेष गुण है। सविता देव देवताओं को अमरत्व और मनुष्यों को दीर्घायु प्रदान करते हैं। मृतात्माओं को स्वर्ग पहुँचाना भी उन्हीं का काम है। सविता देव अन्य देवों के नेता हैं। इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन्, रुद्र आदि शक्ति सम्पन्न देव भी उनके संकल्प व्रत गति और प्रिय स्वराज्य का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। उनका यशोगान वसु, अदिति, वरुण, मित्र आदि करते हैं। अनेक अन्य देवों की भाँति सविता देव को असुर भी कहा गया है, वे स्थिर विधानों का अनुपालन करते हैं। जल और वायु उनके आज्ञानुसार चलते हैं, वे जलों के नेता हैं। वैदिक कवियों की दृष्टि में सविता देव अधिक स्थूल देवता हैं। सविता मूलतः भारतीय देव हैं।

पूषन्—पूषन् को लक्ष्य कर ऋग्वेद में आठ सूक्त हैं। पूषन् का व्यक्तित्व अस्पष्ट और उनकी मानवीय आकार सम्बन्धी विशेषताएं अल्प हैं, पूषन् के पैर और हाथों का उल्लेख मिलता है। रुद्र की भाँति उनके घुँघराले बाल भी हैं और दाढ़ी भी। उनके हाथ में सुनहरा बर्छा है और वे नौकदार आर और अंकुश अपने पास रखते हैं; उनके रथ के चक्रकोश और आसन का उल्लेख मिलता है, उन्हें सर्वोत्तम सारथी भी माना गया है, अजाश्व उनके रथ को खींचते हैं उनका भोजन दलिया व सत्तू है। पूषन् अपनी माता व ऊषा का प्रेमी है; उसे सूर्य की पुत्री सूर्या का पति कहा गया है। पूषन् का निवास-स्थान द्युलोक में है। पूषन् प्राणियों के साक्षी हैं। द्युलोक व पृथ्वीलोक में गति करते हैं। इन्हें मार्ग या राजपथों का देवता कहा गया है। पूषन् पशु-पालक व बिना हानि पहुँचाये पशुओं को घर पहुँचाने वाले देव हैं; उपासक इसी की उनसे बार-बार प्रार्थना करता है। पूषन् के कुछ गुण अन्य देवों जैसे हैं, वे असुर हैं। वे शक्तिशाली, ओजस्वी, तेजस्वी सबल और निर्बाध हैं। वे मर्त्यों से परे और वैभव में अन्य देवताओं के तुल्य हैं। वे वीरों के शासक और अजेय संरक्षक हैं, विश्व के रक्षक हैं, बुद्धिमान व उदार हैं। पूषन् शब्द का अर्थ पोषक है।

विष्णु—विष्णु ऋग्वेद में संख्या की दृष्टि से चतुर्थ स्थान के अधिकारी हैं और महत्त्व की दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हैं। विष्णु की मानवीकृत विशेषताएँ उनके क्रमण, वृहच्छरीर एवं युवाकुमारत्व आदि विशेषणों से प्रसिद्ध हैं; किन्तु उनकी चारित्रिक विशेषता उनके तीन पद हैं, वे उरुगाय और उरुक्रम भी हैं। विष्णु अपने तीन पदों द्वारा पार्थिव लोकों की परिक्रमा करते हैं। द्युलोक विष्णु का प्रिय आवास है, जहाँ भूरिश्रृंगा गायें विचरण करती हैं। विष्णु के इन्हीं तीन पदों में समस्त भुवन निवास करता है, ये पद मधु से सम्भृत हैं। विष्णु त्रिषधस्थ भी हैं। विष्णु के तीन पद सूर्यपथ के बोधक हैं। विष्णु विष् धातु से निष्पन्न गतिमान अर्थ का बोधक शब्द है। विष्णु की इसीलिए एक विशेषता गति है। इसीलिए उरुगाय, उरुक्रम विशेषणों का प्रयोग इनके लिए हुआ है। विष्णु के चरित्र की दूसरी विशेषता इन्द्र की मैत्री है। विष्णु समस्त युद्धों में इन्द्र के सहयोगी हैं, अतः उन्हें उपेन्द्र भी कहा गया है। विष्णु सुकृत्तर हैं, हत्यारे नहीं हैं, उत्तरदानी हैं, उदार संरक्षक हैं। केवल वे ही पृथ्वी, द्युलोक एवं अशेष भुवनों को धारण किए हुए हैं। परवर्ती साहित्य में अवतारवाद की धारणा का विकास इन्हीं विष्णु से हुआ है।

अश्विनी—संख्या की दृष्टि से इन्द्र, अग्नि, सोम के उपरान्त युगल देवता अश्विनी का स्थान है। ये देवों के वैद्य हैं, जो कि अन्धे को आँखें तथा लँगड़े को चलने की शक्ति प्रदान करते हैं। इनका स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। ये युग्म देव हैं, एक सूक्त का तो प्रयोजन ही यह है कि इनकी तुलना युगल पदार्थों से की जाय; जैसे कि चक्षु, हाथ, पैर या जोड़ों से चलने वाले पशु-पक्षी, कुत्ते, बकरे, हंस और श्येन। अश्विन् युवा हैं, प्रकाशमान हैं, वे सुन्दर हैं, हिरण्य ज्योति वाले हैं और मधुवर्ण हैं। उनके अनेक रूप हैं, वे सुन्दर हैं, कमलों की माला पहनते हैं। वे शीघ्रगामी हैं, मनोजवा हैं, बाज जैसे हैं, शक्तिमान हैं।

मरुत—ऋग्वेद में मरुत को ऊँचा स्थान प्राप्त है, वे रुद्र के पुत्र हैं अतः उन्हें बहुधा रुद्र या रुद्रिया कहा गया है। इन्हें प्रश्नि का पुत्र भी बताया गया है। इसलिए इनके लिए अनेक बार '**प्रश्निमातर**' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वैसे इनका चित्रण एक योद्धारूप में हुआ है। रुद्र अपने हाथ में विद्युत लेकर स्वर्णिम रथारूढ़ होकर विचरते हैं। यह रथ स्वर्णिम पहियों से युक्त है, इसमें शस्त्र रखे हैं। इनके अश्व चितकबरे हैं, एक स्थल पर तो उल्लेख है कि इन्होंने

हवाओं को अश्वों के स्थान पर जोत दिया है। वे सिंह के समान प्रचण्ड एवं भयंकर हैं। ये पर्वत एवं जंगलों को तहस-नहस कर डालते हैं। इनका एक काम जल वर्षा करना भी है। मरुत व्योम के समान उरु अर्थात् व्यापक हैं, वे सूर्य के समान द्युलोक एवं पृथ्वी लोक को अतिक्रान्त किए हुए हैं। इनकी गरिमा अपरिमेय है। इनकी शक्ति का पार किसी ने नहीं पाया है। मरुत युवा है। मरुत के गर्जन का भी अनेकशः उल्लेख मिलता है।

पर्जन्य—ऋग्वैदिक देवताओं में पर्जन्य का स्थान गौण है। केवल तीन सूक्तों में इनका स्तवन हुआ है। पर्जन्य वर्षा के देवता हैं जो कि पृथ्वी को उर्वरा बनाते हैं। जलमय रथ पर आरूढ़ होकर चारों ओर दौड़ता और जलदृति को खोलकर पानी को नीचे वर्षा देता है। धारासम्पात वर्षा के समय वह गर्जन-तर्जन भी करता है। गरजते हुए पर्जन्य वनस्पतियों, दानवों और पापियों को मार गिराते हैं। उनके दारुण अस्त्र से समग्र संसार भयभीत है। वे बात और विद्युत को धारण करते हैं। वृष्टि के देव होने के कारण पर्जन्य-स्वभावतः वनस्पति के उत्पादक और पोषक हैं। ऋग्वेद में पर्जन्य शब्द मेघ का विशेषण है और साथ ही मानवीकृत देव भी है।

इन्द्र—इन्द्र वैदिक भारतीयों के प्रियतम राष्ट्रीय देवता हैं। उनकी महत्ता का ज्ञान इसी से होता है कि ऋग्वेद में लगभग 250 सूक्तों में उनका गुणगान हुआ है। इन्द्र का नाम भारत-ईरानी काल की देन है। इन्द्र का अर्थ अनिश्चित है। इस शब्द से किसी प्राकृतिक दृश्य का बोध नहीं होता है। फलतः इन्द्र का स्वरूप अत्यन्त मानवीय बनकर आया है। इन्द्र प्रधानतः देवता के देवता हैं, गौणतः वे युद्ध के देवता हैं। इन्द्र मध्यमलोक के प्रधान वर्षा हैं। वे वायु में व्याप्त हैं। इन्द्र की शारीरिक विशेषता का भी उल्लेख मिलता है। उनके शरीर, सिर, भुजाएँ और हाथ हैं। वे सोमपान में दक्ष हैं। वे सुशिप्र, हरिकेश, हरिश्मश्रु भी हैं। वे हिरण्यबाहु आयसहस्त हैं। वज्रबाहु भी हैं। उनकी भुजाएँ आजानुलम्बी तथा शक्तिशाली हैं। वज्र उनका शस्त्र है। वह विद्युत ही है। कभी-कभी इन्द्र धनुष-बाण भी हाथ में लेकर आते हैं। शत्रु को पराजित करने में दक्ष हैं, उनका रथ स्वर्णिम है। उनके रथ में सूर्य के या वायु के घोड़े जोते जाते हैं। इन्द्र की सोम-लिप्सा सर्वप्रसिद्ध है। सोम इन्द्र का प्रियतम पेय है। इन्द्र और वृक्ष का युद्ध इन्द्र की शक्ति का प्रतीक है। इन्द्र की जन्म-कथा मिलती है, वे जन्म

लेते हैं; किन्तु जन्म लेते समय वे माँ के गर्भ से ही बोल उठते हैं। यह युद्ध-प्रिय देवता अपने अनेकानेक व्यक्तिगत गुणों के आधार पर अन्य देवों की अपेक्षा देवराज बनने का पूर्णतः अधिकारी है। इन्द्र के विशाल आकार का अनेकशः उल्लेख मिलता है, यदि पृथ्वी दस गुनी हो जाती है तो सम्भवतः वह इन्द्र के बराबर हो पाती। उत्पन्न होने वालों में ऐसा कोई नहीं है जो उनकी समता कर सके। कोई भी व्यक्ति पार्थिव या दिव्य न तो ऐसा उत्पन्न हुआ है और न उत्पन्न होगा; जो उनकी बराबरी कर सके। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि इंद्र आर्यों का राष्ट्रीय देव है। उसमें समस्त विशेषताएँ निहित हैं, वैदिक ऋषि इन्द्र में परमात्मा तत्त्व के दर्शन करते हैं। साथ ही आर्य लोग इन्द्र को देवश्रेष्ठ और महान् शूरवीर मानते हैं। अध्यात्म दृष्टि से इन्द्र परमात्मा थे। अधिदैव दृष्टि से देवश्रेष्ठ और अधिभूत दृष्टि से एक महान् योद्धा थे। परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में इन्द्र को अद्वितीय आत्मा, जीवात्मा, प्राण आदि कहा गया है। वैदिक साहित्य का इन्द्र तत्त्व एक विशिष्ट प्रतिपाद्य तत्त्व है। इन्द्र का नाम अवेस्ता में केवल दो बार आया है। वहाँ वे देवता नहीं अपितु दानव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका स्वरूप भी वहाँ अनिश्चित एवं अधिक स्पष्ट नहीं है। इन्द्र का निजी वैदिक विशेषण वृत्रघ्न भी वहाँ वेरेन्थ्रघ्न के रूप में आया है। हाँ, इन्द्र वहाँ विद्युत् तूफान के देवता न होकर केवल युद्ध के देवता हैं।

रुद्र — यह उत्तरकालीन रुद्र से सर्वथा भिन्न देवता है। ऋग्वेद में इनका स्थान गौण है। इनके निमित्त केवल पूर्णतः तीन ही सूक्त हैं और अंशतः एक सूक्त है। इनका नामोल्लेख विष्णु की भी अपेक्षा कम केवल 75 बार हुआ है। ऋग्वेद में इनकी शारीरिक विशेषताओं में इनके एक हाथ है, इनकी भुजा एवं शारीरिक रचना सुगठित है। इनका रंग बभ्रु है, सुन्दर होंठ हैं। इनके बाल घुँघराले हैं। ये द्युतमाना सूर्य की भाँति देदीप्यमान हैं, ये स्वर्णिम आभूषणों से सुसज्जित हैं, रथारूढ़ भी हैं। रुद्र के शस्त्रों का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। उनके हाथ में वज्र है, उनका विद्युत् कृपाण आकाश से आकर पृथ्वी पर भ्रमण करता है। उनके पास धनुष-बाण, भी है। एक बात उनकी विशेष उल्लेखनीय यह है कि उनका साहचर्य मरुतों के साथ है। वे उनके पिता हैं, मरुतों के विषय में लिखा है कि रुद्र के पुत्र हैं। ऋग्वेद में उन्हें अनुदार देव माना गया है। यही नहीं, ये मृग की भाँति

भीम एवं घातक हैं। वे द्युलोक के वराह हैं, वे वृषभ हैं, वे गृहत् एवं दृढ़वल वालों में बलिष्ठ, अजेय हैं; त्वरित गति भी हैं। वे युवा हैं। इसी प्रकार की उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। वे सरिताओं को धरती पर प्रवाहित करते हैं, गर्जन-तर्जन के साथ सभी चीजों को आर्द्र करते हैं। वे प्रचेतस हैं, कवि हैं, उनका हाथ मृडयाकु है। वे कामों के पूर्ण कर्त्ता हैं, अन्नादि के दाता हैं, वे ही कल्याणकारी शिव हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से उनके प्राकृतिक आधार का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता है, फिर भी वे तूफान के देव माने जाते हैं। अर्थ की दृष्टि से रुद्र की व्युत्पत्ति अनिश्चित है; सामान्यतः रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति रुद् (चिल्लाना) धातु से की जाती है। ग्रासमान एवं पिशल क्रमशः इस धातु से चमकना व लोहित होना अर्थ करते हैं।

उषस्—प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी उषा के निमित्त ऋग्वेद में लगभग 20 सूक्त हैं। तीन सौ बार से अधिक इसका उल्लेख हुआ है। उषा की रचना वैदिक काल की सबसे मनोरम कल्पना है और संसार के किसी भी साहित्य में उषा से अधिक आकर्षक चरित्र नहीं मिलता। उषा अपने शरीर को शुभ्रवस्त्रों से आवृत करके नर्तकी की भाँति अपने वक्षस्थल का प्रदर्शन करती है। माता द्वारा प्रसाधित कुमारी की भाँति वह अपनी छवि को फैलाती है। प्रकाश के वसन को धारण कर वह पूर्व दिशा से उदित होती है। आकर्षक छवि से पूर्ण अद्वितीय सौन्दर्यवती उषा अन्धकार का निवारण कर अपने प्रकाश को सभी को समान रूप से दान करती है। उषा पुराण युवती है। पुरानी होकर भी चिर नवीन है। जैसे वह पहले चमकती थी वैसे ही आज भी। उषा सोए हुए को जगाती है, प्राणि मात्र को द्विपद, चतुष्पद, पक्षी गणों को भी गति देती है। पाँच जनों को प्रबुद्ध करती हुई राजपथों का आविष्कार करती है। सभी के लिए नवजीवन दान करती है। रात्रि के वसन का अपसारण करती है। दुरात्माओं और कलुषित अन्धकार का निवारक है। उसका रथ ज्योतिष्मान् है। सैकड़ों रथों पर आरूढ़ वह रक्त घोड़ों से खींची जाती है। वह एक दिन में तीस योजन मार्ग चल लेती है। उषा का सूर्य से निकट सम्बन्ध है। यज्ञाग्नि नियमतः उषा काल में समृद्धि होती है, अतः वह अग्नि से भी सहज ही सम्बद्ध हो जाती है। उषा देवी की उपासना में उपासकों पर कृपालु होने के लिए अनेकशः प्रार्थनाएँ की गई हैं। धनधान्य, वैभव, पुत्र पौत्रादि के साथ सुख

और दीर्घ जीवन प्रदान करने के लिए भी प्रार्थनाएँ हैं। उषा शब्द 'वस्' (चमकना) धातु से बना है।

अग्नि—पृथ्वी स्थानीय देवों में अग्नि प्रमुख है। इन्द्र के बाद वैदिक देवों में अग्निदेव का ही स्थान है। ऋग्वेद में इनके लिए लगभग 200 सूक्त हैं। अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवों के साथ भी संस्तुत हैं। वैदिक कवियों ने सरल, तीक्ष्ण, हृदयस्पर्शी वाणी में अग्नि का स्तवन किया है। अग्नि मानव मित्र हैं, वह मनुष्य और देवताओं के बीच मध्यस्थ और दूत का काम करता है, अग्नि गृहस्थी का देवता है। अग्नि गृहस्थों के बाल-बच्चों की रक्षा करता है, अतः गृहपति भी कहा गया है। अग्निदेव प्रत्येक गृह के अतिथि भी हैं। अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का भी द्योतक है। अतः अग्निदेव की स्थिति प्रारम्भिक अवस्था की है। वे घृतपृष्ठ, घृत प्रतीक, मन्दजिह्व हैं। अग्नि-घृत लोभ, ज्वाललोभ, हरिकेश, हिरण्यश्यश्रु भी हैं। उनके जबड़े तेज एवं तप्त हैं, उनके दाँत स्वर्णिम अथवा प्रकाशमान हैं। उनकी जिह्वा का अनेकशः उल्लेख मिलता है जो कि तीन या सात है, उनके अश्व भी सप्तजिह्व हैं। अग्नि की उपमा अनेक पशुओं से दी गई है और अचेतन पदार्थों से भी अग्नि की तुलना अनेक बार की गई है। सूर्य की भाँति वे स्वर्णिम हैं। जब अग्निदेव अपनी जिह्वा फैलाते हैं तो वह कुल्हाड़ी की भाँति दीखती है, उन्हें स्वयं रथ भी बताया गया है। अग्नि के प्रकाश का भी सुन्दर वर्णन किया गया है। वे भास्वर एवं भास्वर ज्वालाओं वाले हैं, वर्ण भी उनका भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं और सूर्य की भाँति भासित भी हैं, उनकी प्रभा उषा, सूर्य और मेघ विद्युत जैसी है। वे रात्रि में भी चमचमाते हैं, सूर्य की भाँति अन्धकार को ध्वस्त करते हैं, अग्नि के पथ आदि कृष्ण वर्णों के हैं, उनकी लपटों में समुद्र वीथियों जैसी गर्जन-तर्जन भी है। अग्निदेव विद्युत रथ पर दमकते हैं, ऐसे रथ पर जो कि द्युतिमान, प्रकाशमान, भास्वर, चमकीला, स्वर्णिम और मजुल है। वैदिक ऋषियों के अनुसार अग्नि के पिता द्यौस हैं। यही नहीं, उनका जन्म अरणियों के संघर्ष से भी माना जाता है। इस नाते अरणियाँ भी अग्नि के माता-पिता हैं। यह जब बच्चों के रूप में जन्म लेता है तो अपने माता-पिता को खा जाता है। आकाश में वह सूर्य रूप में चमकता है। पृथ्वी पर कष्ठदण्डों से उत्पन्न होता है तथा जल में वड़वानल के रूप में। अग्नि को वृषभ कहा गया है, क्योंकि जलते समय वह वृषभ नाद जैसी ध्वनि करता है। इसे आकाश का पक्षी कहा जाता है।

क्योंकि तड़ित भी इसी का एक रूप है। अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति संभवतः गत्यर्थक अज् धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है 'गतिमान' जो कि मृताग्नि की गतिशीलता का बोधक है।

सोम—सोम, ऋग्वेद के महान् देवों में से हैं। इसके लिए नवम मण्डल के 114 सूक्त तथा अन्य मण्डलों के 86 सूक्त पूर्णतः लिखे गए हैं। कुछ सूक्तों में अंशतः इसकी स्तुति की गई है। मन्त्रों की अधिकता की दृष्टि से ऋग्वेद में सोमदेव तृतीय स्थान के अधिकारी हैं। सोम का मानवीय विग्रह अधिक विकसित नहीं हो सका है। सोम का वनस्पति रूप अधिक उभर कर आया है। नवम मण्डल में प्रधान रूप में स्थूल सोम का गुणगान अधिक किया गया है। सोम का पाषाणों से सेवन किया जाता है और देवों को यह पेय रूप प्रदान किया जाता है जो कि इसकी बहनें हैं। ये दस कुमारियाँ हमारी दस उंगलियों की प्रतीक भी हैं। सोम अपने पूजकों को यमलोक ले जाता है। यह स्वच्छ एवं विचारों में परिवर्तन भी कर देता है तथा मादकता इसका गुण है। यह वनस्पतियों में शिरोमणि है। इसका घर पर्वत है। मूल उत्पत्ति स्थान स्वर्ग है जहाँ से श्येनपक्षी इसे भूतल पर लाया था। सोम शब्द की व्युत्पत्ति पेषणार्थक 'सु' धातु से है।

पृथ्वी स्थानीय देवों में नदियों का नाम भी सम्मान के साथ लिया जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी स्वयं एक देवी है उसका गुणगान अधिकतर 'द्यौ' के साथ हुआ है। ऋग्वेद में एकाकी पृथ्वी के लिए केवल एक सूक्त है। पृथ्वी का शरीर रूप स्वल्प है, क्योंकि इस देवी में प्राप्त समस्त विशेषताएँ प्रायः भौतिक पृथ्वी में मिल जाती हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि पृथ्वी उपद्रवों से सम्भृत है। वह पर्वतों के भार को सम्भालती है। अन्य औषधियों को धारण करती है। वह पानी बरसा कर धरती को उर्वरा करती है। पृथ्वी का अर्थ है, विस्तृत। इस शब्द की निष्पत्ति प्रथ् विस्तारे धातु से हुई है।

भावात्मक देवता

ये दो प्रकार के हैं—एक तो वे जो मनोभावों के सीधे मानवीकरण हैं, जैसे काम। इस प्रकार के देवता कम हैं और ऋग्वेद के सर्वाधिक परवर्ती सूक्तों में इनका स्थान है, इनका मूल सूक्ष्म विचार की अभिवृद्धि में है। दूसरे वे

बहुसंख्यक देवता हैं जिनके नाम धातुओं में, 'नृ' प्रत्यय लगाकर बने हैं जो कि कर्त्तव्य के बोधक हैं या किसी व्यापार के; जैसे—'द्यावा' और 'प्रजापति'। वेद के गाथेय पात्रों की कल्पना में होने वाले विकास पर ध्यान देने पर विदित होता है कि ये देवता प्रत्यक्षतः भावों के प्रतिरूप नहीं हैं। ये देवता-विशेष अथवा देवता सामान्य के लिए प्रयुक्त विशेषजन्य हैं। यही विशेषण परवर्ती काल में विशेष्य से पृथक् होकर स्वयं देवरूप में स्थित हो गए। ऋग्वेद में कुछ अदिति जैसी देवियाँ और अप्सराएँ भी हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद में आये हुए कुछ देवताओं के स्वरूप का हमने यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया है। वैसे अन्य अनेक देव भी हैं जिनका विस्तार के भय से उल्लेख नहीं हुआ है। इन देवों में विवस्वान, आदित्य, अपानपात् मातरिश्वन् वायु आपः, बृहस्पति, यम विशेष हैं। ऋग्वेद के देवतावाद का अध्ययन करते समय देवता-युग्म तथा देवगणों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। उनका भी यहाँ उल्लेखनीय महत्त्व है।

प्रश्न—वेदों के रचनाकाल को निश्चित करने में विभिन्न विद्वानों ने जो प्रयास किया है, उनका विवेचन कीजिए। साथ ही अपना भी अभिमत लिखिए।

Discuss the age of the Rigveda

—आ० वि० वि० 54, 56, 58, 59, 63

Or

Discuss the age of the Rigveda. Which of the theories regarding the date of the Rigveda appeals to you most ? adduce reason.

उत्तर—वेद भारतीय वाङ्मय की सर्वाधिक प्राचीन एवं अमूल्य निधि हैं; किन्तु वैदिक सभ्यता की ज्योति किस काल में इस पवित्र धराधाम को आलोकित कर उठी; किस समय पावन चरित्र ऋषियों के हृदय में आध्यात्मिक ज्ञान से ओतप्रोत दिव्य सन्देश देने की कामना जाग उठी और अलोक सामान्य गूढ़ार्थ विजृम्भित मन्त्रों की रचना की गई। इन प्रश्नों का उत्तर अथवा उनके प्रणयन की यथार्थ तिथि का अन्वेषण यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

तथापि पाश्चात्य शोधशास्त्रियों के समान हम केवल आनुमानिक प्रणाली द्वारा ही सम्बद्ध सत्य के निकट पहुँच सकते हैं ।

भारतीय आस्तिक विचारधारा के विद्वान् वेदों को अपौरुषेय अनादि एवं शाश्वत मानते हैं; उनकी मान्यता है कि विभिन्न कालों में समाधिकालीन महर्षियों के सहज शुद्ध अन्तःकरण में मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ है । इन महर्षियों ने मन्त्रों का दर्शन किया है, क्योंकि **'ऋषयो मन्त्र दृष्टारः'** ऋषि द्रष्टा होते हैं, स्रष्टा नहीं । इस प्रकार उनके मत में वेदों की रचना का अर्थ होता है ब्रह्म के निःश्वास भूत मन्त्रों का ध्यान-नेत्रों द्वारा साक्षात्कार ।

अब हम प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद रचना-काल के विषय में किये गये विचारों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे । भारतीय विद्वान् पण्डित दीनानाथ शास्त्री चुरेंट ने 'वेदकाल-निर्णय' नामक पुस्तक में ज्योतिष गणना के द्वारा यह सिद्ध किया है कि वेदों का निर्माणकाल आज से लगभग 300000 वर्ष पूर्व का है; किन्तु पाश्चात्य विद्वान इस विश्वास में अपना अभिमत प्रकट नहीं करते हैं । उनका कहना यह है कि वेद ईश्वरकृत नहीं हैं, वे ऋषिकृत हैं उनकी रचना क्रमशः एवं हजारों वर्षों में हुई है । ईसाइयों की धर्म पुस्तकों में सृष्टि का रचना काल लगभग आठ हजार वर्षों का है । इसलिए पाश्चात्य विद्वान वैदिक संस्कृति एवं वैदिक साहित्य को इन आठ हजार वर्षों से ऊपर नहीं ले जाना चाहते हैं, इसलिए वे वेदों के रचना-काल की अन्तिम सीमा अधिक से अधिक चार हजार वर्ष तक मानते हैं । एक बात और भी है कि भारतीय आस्था के अनुसार वेद ईश्वर के निःश्वास से समुद्भूत हैं । उसके विषय में पाश्चात्य विद्वानों का अपना मत है कि जब भाषा का विकास क्रमशः हुआ है फिर वेद के शब्द एव भाषा एक साथ एक रूप में कैसे आ सकते हैं और वह भी सृष्टि के आदि में । भाषा का विकास एक लम्बी जीवन यात्रा की अमर कहानी है । इसलिए पाश्चात्य विद्वानों ने अपने इसी मत के अनुसार ऋग्वेद के समय-निर्धारण का प्रयत्न किया है ।

डा० ए० वेबर ने अपनी 'भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में वैदिक साहित्य को अत्यन्त प्राचीन स्वीकार किया है । ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग से यह आभास मिलता है कि उस काल में आर्य पंजाब में अवस्थित थे । भारतीय सीमा को पार कर धीरे-धीरे पूर्व में गङ्गा की ओर बढ़ने का संकेत उत्तर वैदिक काल में होता है । दक्षिण में ब्राह्मण धर्म के प्रसार के संकेत

हमें महाकाव्यों में उपलब्ध होते हैं अतः यह निश्चित है कि दक्षिण में ब्राह्मण धर्म के प्रसार के पूर्व शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी होंगी। ऋग्वेद की प्रकृति पूजा से उठकर उपनिषद् ग्रंथों के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों तक पहुँचने वाले सिद्धान्तों के विकास में तथा उन पौराणिक धर्म-सिद्धान्तों के विकास में अवश्य ही शताब्दियों की अवधि लगी होगी जिन्हें ईसा पूर्व 300 में मेगस्थनीज ने भारत में प्रचलित पाया था।

मैक्समूलर ने तिथि निश्चय की दिशा में सर्वप्रथम प्रयास किया है। उसने 'प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में इस पर विचार किया। उनका कहना है कि बौद्धधर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया मात्र हैं। अतः इससे कल्पना की जा सकती है कि इससे पूर्व वैदिक साहित्य अवश्य निर्मित हो चुका होगा। अतः समस्त वैदिक साहित्य प्राक् बौद्धकालीन (500 ई० पू० से पहले का) है। वेदाङ्ग अथवा सूत्र साहित्य अवश्य बौद्धधर्म की उत्पत्ति एवं विकास के प्रथम चरण के काल की रचना है। इस सूत्र साहित्य का समय उन्होंने 600-200 ई० पू० निश्चित किया है। उनके विचार से ब्राह्मण साहित्य के विकास में भी 200 वर्ष अवश्य लगे होंगे; अतः ब्राह्मणों का रचना-काल 800 से 600 ई० पू० है। वैदिक संहिताओं का सम्पादन 1000-800 ई० पू० में हुआ होगा। सम्पादन से पूर्व 200 वर्ष तक मन्त्र लोकप्रिय प्रार्थना के रूप में भी रहे होंगे। अतः यह युग 1200-1000 ई० पू० में हुआ होगा। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों की रचना का प्रारम्भ 1000-1200 ई० पू० में हुआ होगा।

L Von Schroeder ने 1500-2000 ई० पू० वेदों का रचना-काल माना है। जेकोबी ने 300 ई० पू० वेदों का समय स्वीकार किया है। जेकोबी का आधार ज्योतिष था, ज्योतिष गणना के आधार पर समय निर्धारण नई बात नहीं थी। लुडविग सूर्यग्रहण के आधार पर इस प्रकार का एक प्रयत्न कर चुका था। ब्राह्मण यज्ञ के लिए समय का निर्धारण आकाश देखकर किया करते थे। इसीलिए ब्राह्मण ग्रंथ एवं सूत्र साहित्य में ज्योतिष विषयक विवेचन मिलते हैं, विशेषतः नक्षत्रों का वर्णन मिलता है। नक्षत्रों के हिसाब से चन्द्र की गति का अध्ययन किया जाता था जिसके आधार पर विभिन्न यज्ञ विभिन्न अवसरों पर किए जाते थे। इसी ज्योतिष के आधार पर प्रो० जेकोबी एवं

बाल गंगाधर तिलक ने वैदिक साहित्य के प्रणयन के विषय में कतिपय नवीन निष्कर्ष निकाले हैं जो इस प्रकार हैं—

That at the period of the Brahmans, the pleiades (कृत्तिका) which at the time formed the starting point of the Nakshatra series, coinicided with the Vernal equinox, but that in the Vedic texts there are also to be found traces of an order Calandar, in which Vernal equinox fell in orion (मृगशिरा), From the calculation of the value of the parcession, however; it appears that about 2500 B. C. the Vernal equinox lay in the pleiades and about 4500 B. C. in orion.

उस काल में नक्षत्र गणना कृत्तिका नक्षत्र से प्रारम्भ होती थी जब कि आज नक्षत्र गणना अश्विनी नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। प्रो० जेकोबी को ब्राह्मणकाल में एक ऐसा वर्णन मिलता है कि उस समय भी कृत्तिका नक्षत्र उदित होता था और वासन्त संक्रांति (Vernal equinox) भी था। अयन गति की गणना के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया कि वह वासन्त संक्रान्ति ई० पू० 2500 में हुई थी। इसी प्रकार वैदिक संहिताओं के अध्ययन करते समय तिलक महोदय ने मृगशिरा नक्षत्र में वासन्त संक्रांति का उल्लेख प्राप्त किया है। अयन गति के आधार पर यह दशा 4500 ई० पू० में सम्भावित है। यह संहिताओं का रचना-काल था। प्रो० जेकोबी भी ब्राह्मण ग्रंथों की रचना के पूर्व संहिताओं के रचना-काल के लिए आनुमानिक कल्पना करते-करते सभ्यता के विकास का उदय-काल 4500 ई० पू० तक स्वीकार करते हैं और तिलक महोदय यह काल ई० पू० 6000 वर्ष स्थापित करते हैं। प्रो० जेकोबी ने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए तत्कालीन प्रचलित एक ऐसी विवाह परिपाटी का उल्लेख किया है, जिसमें वर-वधू ध्रुव नक्षत्र के दर्शन करते और उसके समान ही अपने प्रणय सम्बन्ध के चिरस्थायित्व की प्रार्थना करते हैं। जेकोबी के अनुसार इस वैवाहिकी प्रथा का उद्गम उस काल में हुआ था जबकि ध्रुव नक्षत्र उत्तरी ध्रुव के इतने समीप विद्यमान था कि लोगों को वह स्थिर दिखलाई पड़ता था। इस काल को उन्होंने 3000 ई० पू० का पूर्वार्ध निश्चित किया है। फलतः उनके मत में संहिता काल 4500 ई० पू० से 25[illegible] ई० पू० तक निश्चित होता है।

1907 में एशिया माइनर के वोगारकोई नामक स्थानों में ह्यूगो विकलर को कतिपय मृत्तिका फलक प्राप्त हुए हैं, जिनमें हिट्टाइट के राजा और मितनी के राजा के बीच हुए संधिपत्रों का उल्लेख उपलब्ध होता है। प्रस्तुत संधि उन मृत्तिका फलकों के अनुसार ईसवीय पूर्व चौदहवीं सदी के प्रारम्भ में हुई थी, इन संधि-पत्रों में दोनों राज्यों के देवताओं का आह्वान किया गया है जो कि संधि-पत्रों के संरक्षक थे। इन देवताओं की सूची में अनेक वेबिलोनियन तथा हिट्टाइट के देवताओं के साथ, मित्र, वरुण, इन्द्र तथा मितनी के देवता नासत्यौ का नाम है। एक प्रश्न है कि एशिया माइनर में मितनियों के पास उक्त देवताओं के नाम कैसे पहुँचे ? सुप्रसिद्ध इतिहासकार मेयोर इन देवताओं को उस आदिकाल का बतलाते हैं, जब भारतीयों और ईरानियों की भाषा और धर्म अविभक्त थे। मेयोर महोदय ने यह भी कल्पना की है कि इसी समय आर्यों ने मेसोपोटामियाँ और सीरिया में प्रवेश किया तथा इसी काल में वे उत्तर-पश्चिम भारत में भी बसने लगे। वैदिक ऋचाएँ इस विकास की साक्षी हैं। फलतः उनका आरम्भ ई० पू० 1500 के बाद नहीं हो सकता। पी० गिल्स महोदय की भी यही मान्यता है। जेकोबी, कोनो तथा हिलीब्रान्ट भी उन्हें भारतीय देवता ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि वरुण और मित्र, इन्द्र और नासत्यौ नामक देवता और इनका यह स्वरूप केवल वेद में ही प्राप्त होता है।

पी० ई० जैन्सन के मतानुसार वोगास्कोई में प्राप्त मृत्तिका फलकों पर भारतीय संख्या-चिह्न भी अंकित दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार एशिया माइनर में इन भारतीय वैदिक देवताओं के नाम भी पहुँच सकते हैं, अतः वेदों का अस्तित्व 1400 ई० पू० से बहुत पूर्व का है।

जे० हर्टेल का मत है कि ऋग्वेद का प्रादुर्भाव उत्तर-पश्चिम भारत में नहीं अपितु ईरान में हुआ था और उसका प्रणयन जोरस्टर (500 ई० पू०) के पूर्व नहीं हुआ। G. Huasting शिलालेखों में प्राप्त राजाओं के नाम इस प्रकार घुमाते और मरोड़ते हैं कि वे भारतीय राजाओं के नामों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन तथ्यों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लगभग 1000 ई० पू० में भारतीय आरमेनिया से अफगानिस्तान आये; उनकी मान्यता के अनुसार ऋग्वेद की रचना स्थल यही है, क्योंकि ऋग्वेद में वर्णित

दृश्यों की तुलना वे अफगानिस्तान के दृश्यों से करते हैं। इस प्रकार उन्होंने ऋग्वेद की रचना 1000 ई० पू० के लगभग सिद्ध की है।

ह्विटनी यद्यपि मैक्समूलर के वैदिक साहित्य सम्बन्ध चार कालों को स्वीकार करते हैं; किन्तु छन्द काल का समय वे 2000-1500 ई० पू० में मानते हैं। केजी भी ह्विटनी के मत के अनुयायी हैं। हाग ने वेदांग, ज्योतिष के निम्नलिखित पद्य के आधार पर ऋग्वेद का नवीन रचना-काल निर्धारित किया है—

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावदत्।
सार्पार्धे दक्षिणाकस्तु माघश्रावणायोः सदा॥

प्रस्तुत पद्य के आधार पर हाग ने दो निष्कर्ष निकाले हैं—(1) बारहवीं सदी ई० पू० में भी भारतीयों का ज्योतिष ज्ञान इतना बढ़ा हुआ था कि वे पद्यगत उपलब्धियों से परिचित थे। (2) प्रायः समस्त प्रमुख क्रिया-कलापों का समावेश तब तक ब्राह्मण ग्रंथों में हो चुका था। ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण काल 4100 से 1200 ई० पू० है और संहिता काल 2400 से 4100 ई० पू०। किन्तु प्राचीनतम ऋचाएँ एवं याज्ञिक मन्त्र कुछ समय पूर्व ही लिपिबद्ध हुए होंगे। इस प्रकार वैदिक साहित्य का प्रारम्भ 2400 ई० पू० से माना जा सकता है। ऋग्वेद के प्रणयन का भी यही समय है।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण के एक प्रमाण के आधार पर ऋग्वेद का निर्माण काल 3200 ई० पू० सम्भावित किया है।

सर आर० जी० भाण्डारकर 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में वैदिक काल के निर्णय का प्रयत्न करते हैं। उनकी मान्यता है कि वैदिक असुर एवं असूरियन शब्द में पारस्परिक समता है फलतः उनके मत में वैदिक ऋचाओं का निर्माण काल 2500 ई० पू० में निश्चित होता है।

सिकन्दर के शासन-काल में ग्रीक विद्वानों ने भारतीय राजाओं की वंशावली संगृहीत की थी, उसके अनुसार चन्द्रगुप्त तक 154 राजवंश 6457 वर्षों तक भारत में राज्य कर चुके थे। निश्चय ही इन समस्त राजाओं से पूर्व ऋग्वेद बन चुका था। इस तरह ऋग्वेद का रचना-काल 8000 वर्षों का कहा जा सकता है।

पूना के नारायण मनराव पावगी ने भी भूगर्भ-शास्त्र के आधार पर

9000 वर्ष पूर्व वेद रचना का समय सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार अमलनेस्कार वेदों के रचना-काल को 66000 वर्ष पूर्व तक ले जाते हैं; किन्तु अवेस्ता (800 ई० पू०) की भाषा रचना की समानता के आधार पर वेदों का रचना-काल 800 ई० पू० तक मानने वाले भी हैं। वेद रचना-काल के सम्बन्ध में मैक्समूलर आदि विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुए जी० बूह्लर ने लिखा है कि शिलालेखों, भाषा-साहित्य तथा संस्कृति के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं की अवधि अनेक सदियों की है। इसी प्रकार विन्टरनिट्ज ने विभिन्न मतों का विवेचनात्मक उपसंहार करते हुए लिखा है कि वेदों का काल-निर्धारण करना सम्भव नहीं है और अन्ततः वह 2500 ई० पू० ऋग्वेद का रचना-काल मानता है। ऋग्वेद के निर्माण-काल के विषय में ऊपर कुछ प्रधान एवं अप्रधान मतों का निर्देश किया है। इन सभी विचारों के होते हुए भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते हैं। इसीलिए फ्रेडरिक श्लेगेज ने लिखा है कि संसार में सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। इसका समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। इनकी भाषा भारतीयों के लिए भी उतनी ही कठिन है जितनी विदेशियों के लिए। Enlightenment upon the history of the premitive world so dark until now. वेदों के विद्वान् वेबर ने भी लिखा है वेदों का समय निश्चित नहीं किया जा सकता है, ये उस तिथि के बने हुए हैं जहाँ तक पहुँचने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। वर्तमान प्रमाण राशि हम लोगों को उस समय के उन्नत शिखर पर पहुँचाने में सदा असमर्थ हैं। वस्तुतः जब विभिन्न मतों में इतने वर्षों का विशाल अन्तर है फिर एक मत से कैसे किसी निश्चित समय का संकेत किया जा सकता है। हाँ, इस विषय में ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। मोहनजोदड़ो की लिपियाँ ऐतिहासिक अनुसंधान के द्वारा सम्भव हैं, किसी निश्चित काल-निर्धारण की ओर संकेत करें ? वेद काल-निर्धारण के समग्र मन्थन के उपरान्त इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि वेदों का रचना-काल अब इतना अर्वाचीन नहीं है जितना कि पहले माना जाता था। पश्चिमी विद्वान् भी आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व वेदों का रचना-काल मानते हैं।

प्रश्न—ऋग्वेद के काव्य-सौन्दर्य का संक्षेप में निरूपण कीजिए।

उत्तर—भावुक हृदय में भावों की अनुभूति होती है, वह उन्हें अभिव्यक्त

करना चाहता है। अभिव्यक्ति के साधनों (भाषा, अलङ्कार, छन्द, शैली) पर कलाकार का जितना ही अधिकार होगा, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही अधिक सफल होगी; काव्य के लिए भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों की सत्ता नितान्त अपरिहार्य है। वेदों के काव्य-सौन्दर्य के ऊपर जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि वैदिक ऋषियों की भावोन्मेषिनी प्रतिभा ने जिस ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड की भावना की है, वह अपने भावपक्ष की दृष्टि से अनुपम है, विश्व के काव्य-साहित्य में उसकी तुलना करने वाले काव्य अल्प ही होंगे। मानवता के शाश्वत सिद्धान्त, नैतिकता के उपदेश, दर्शन, आख्यान आदि न जाने कितने तत्त्व हैं जो भावपक्ष के शृंगार कहे जा सकते हैं। यदि एक ओर वेद मन्त्रों में नैतिक उपदेश हैं तो हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि उन नैतिक उपदेशों की अभिव्यक्ति मार्मिक है। यम-यमी, सोम-सूर्या, पुरुरवा-उर्वशी आदि आख्यानों में कितनी मौलिकता के साथ नैतिक उपदेश एवं काव्य-सौन्दर्य की झलक मिलती है। कलापक्षीय तत्त्वों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तो हमें पता चलता है, वैदिक ऋषि अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए तथा पाठक के हृदय में सहज ही अपने भावों की अवतारणा के लिए अलंकारों का भी उपयोग करता है। रस-विधान की योजना में भी अलंकारों को अपनाता है। कोमल कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भरता है कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि वेदों में काव्य का सौन्दर्य पूर्ण रूप से विद्यमान है। श्री बलदेव उपाध्याय 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति' नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि—

"उनके रूपों का भव्य वर्णन कवि की कला का विलास है तो उनके भीतर सुकुमार प्रार्थना के अवसर पर कोमल भावों, हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभि- व्यंजना है। उषा विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है तो इन्द्र विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप वर्णन में स्वभावोक्ति का आश्रय है तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का यह विषद परिचायक चिह्न है, भावों की सरल-सहज अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।"[1]

---

1. **वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 334**

रसविधान

ऋग्वेद के मन्त्रों में यत्र-तत्र वीर एवं शृंगार इन दो रसों का प्राधान्येन परिपाक हुआ है और यदा-कदा हास्य एवं करुण की अस्फुट झलक भी मिल जाती है, जिन्हें पढ़कर पाठक का मनमयूर आह्लादित हो यह कह उठता है कि सृष्टि के आदिकाल का कवि साहित्यिक रसों से अपरिचित न था। इन्द्र की स्तुतिपरक अनेक मन्त्रों में वीररस को पूर्ण परिणति मिलती है। दाशराज्ञ सूक्त में भी वशिष्ठ ने दिवोदास तथा उनके शत्रुओं का सहज भाव से वर्णन किया है। गृत्समद ऋषि ने इन्द्र की अनेक स्तुतियों में इन्द्र की वीरता का विशद् संकेत किया—

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवते हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युत च्युत् स जनास इन्द्र :॥

—ऋ० 2। 12।9

मनुष्य जिस इन्द्रदेव की कृपा के बिना विजय प्राप्त नहीं कर सकता योद्धा लोग अपनी रक्षा के लिए युद्ध के देवता इन्द्र का आह्वान करते हैं। वह विश्व में सर्वश्रेष्ठ है। उसका कोई प्रतिमान नहीं है। वह अच्युतों को भी च्युत कर देता है, वह ऐसा इन्द्र है। वैदिक कवि इन्द्र की जहाँ-जहाँ भी स्तुति करता है वहाँ-वहाँ वह इन्द्र के शारीरिक बल, आकार एवं कार्यों की प्रशंसा करता है, उसके पौरुष की भी स्तुति की जाती है, वहाँ भी हम वीर रस का अनुभव करते हैं ? निःसन्देह वैदिक साहित्य में वीर रस का होना नितान्त आवश्यक था, क्योंकि आर्य एक योद्धा जाति के रूप में हमारे सामने आते हैं। आर्यों का यह काल उनके युद्ध की कहानी है।

ऋग्वैदिक सूक्तों के शृंगार रस की भी अनुपम झांकी मिलती है। सोम-सूर्या, यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी आदि सूक्त इसी प्रकार के हैं, जहाँ शृंगार की भावना का पूर्ण रूप में परिपाक हुआ है। पुरुरवा-उर्वशी प्रणय-प्रसंग में विरहाकुल पुरुरवा की उक्तियों में विप्रलम्भ शृंगार देखा जा सकता है जहाँ वह उर्वशी को सम्बोधन कर कहता है—मेरा वाण तरकश से फेंके जाने में समर्थ होकर लक्ष्मी की प्राप्ति में समर्थ नहीं होता। मैं शक्ति-युक्त होकर शत्रु की गायों का उपभोक्ता नहीं हो पाता; यज्ञ-कर्म या शक्तिमय कार्यों के सम्पादन में असमर्थ रहता हूँ। मेरे योद्धा संग्राम में मेरा सिंहनाद नहीं सुन पाते—

इषुर्न श्रिय इषुधे रसनागोषा शतसा न रंहिः ।
अवीरे क्रतौ वि दविद्यु तन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥

—ऋ० 10/95/

सोम-सूर्या सूक्त में नवदम्पति की परस्पर सुन्दर प्रेमाभिव्यंजना, वर अपनी प्रियतमा के हाथ का चुम्बन करते हुए मधुर स्वरों का उच्चारण आ स्थल भी इसी प्रकार के हैं। यम-यमी सूक्त में भी शृंगार की भावना नि है किन्तु वह पूर्ण परिपाक को प्राप्त नहीं हो सकी है। यदि वह पूर्ण परिपा को प्राप्त भी हो जाती तो कदाचित् धर्मप्राण ऋषियों के लिये दोषपूर्ण होती यमी वहीं पर अपने भाई को प्रेरित करती है और कहती है कि यह देवता की कामना है कि जाति के प्रवर्द्धन की दृष्टि से यम अपनी बहन के स सम्बन्ध स्थापित करे। यदि यम इस बात को स्वीकार नहीं करेगा तो कामार्त्ता हो जायगी। यम बार-बार मना करता है। अन्त में यमी क्षुब्ध हो तुम पुरुषत्वहीन हो, तुम में पुरुषोचित भावनाएँ नहीं हैं और भावुक ह नहीं हो, कहती है—

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम ।
अन्या किलत्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥

—ऋ० 10।10।

वेद-मन्त्रों में कहीं-कहीं हमें हास्यरस का दर्शन भी हो जाता है। म सूक्त एक ऐसा ही सूक्त है, जहाँ मण्डूक की ब्राह्मणों से तुलना की गई ग्रीष्म ऋतु में शान्ति व्रत को धारण किये पड़े रहने वाले मण्डूक ब्राह्मण समान हैं; जो वर्षा ऋतु के आने पर परस्पर प्रसन्न होकर टर्र-टर्र करते एक-दूसरे का अभिनन्दन करते हैं—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं
शाक्तस्येव वदथि शिक्षमाणः
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व
यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥ ऋ० 7।10।

अक्षसूक्त 10।34।1-14 में जुआरी का विलाप हमें करुण-हास्य का करता है। जहाँ वह बड़े ही सरल शब्दों में दयनीय स्थिति का वर्णन हुए कहता है कि दूसरे लोग मेरी स्त्री का स्पर्श कर रहे हैं, माता-पिता, बन्धु अपरिचितों जैसा व्यवहार कर रहे हैं—

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य
यस्या गृधद्वेदने वाज्यक्षः
पिता माता भ्रातर एनमाहुर
न जानीमो नयता बद्धमेतम ॥ —१०।३४।४

अलंकार

सभ्यता के उदय काल में बनने वाली इस कविता में अलंकारों की स्वर्णिम छटा विद्यमान है। कहीं भी कवि ने बलात् अलंकारों को लादने की चेष्टा नहीं की है अपितु सहज स्वाभाविक रूप में ही अलंकार आविर्भूत हुए हैं, जिनसे अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों में प्रभावात्मकता का आविर्भाव होता है। ऋग्वेद में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक एवं समासोक्ति जैसे अर्थालंकारों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। श्री बलदेव उपाध्याय ने ऋग्वेदीय उपमा के सम्बन्ध में लिखा है—"अलंकारों की रानी उपमादेवी का नितान्त भव्य मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव है। आनन्द से सिक्त हृदय कवि की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध करती है।"[1]

ऋग्वेदीय उपमा का एक मनोहारी निदर्शन प्रस्तुत है—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सन मे धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषाहस्त्रेव निरणीते अप्सः ॥
—ऋ० 1।124।7

भ्रातृहीना स्त्री जैसे पिता आदि के अभिमुख गमन करती है, गतभर्त्तका जैसे धन प्राप्ति के लिए घर आती है, उषा भी वैसा ही करती है। जैसे पत्नी पति की अभिलासिनी होकर सुन्दर वस्त्र पहनती हुई हास्य द्वारा अपनी दन्तराशि प्रकाशित करती है उसी प्रकार उषा भी करती है।

इन्द्र की स्तुति में कितनी सामान्य उपमा का सुन्दर उल्लेख किया है; सायंकाल गोचर भूमि से लौटने पर गाय की बछड़े के प्रति ममता की छवि अंकित करते हुए लिखता है—

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणां
त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०334

वाश्रा इब धेनवः स्यन्दमाना

अज्जः समुद्रमव जग्मुराप ॥ ऋ० 1।32।2

इन्द्र ने पर्वत पर आश्रित मेघ का वध किया था, विश्वकर्मा या त्वष्टा ने इन्द्र के लिए दूरवेधी वज्र का निर्माण किया था। जिस तरह गाय वेगवती होकर अपने बछड़े की ओर जाती है, उसी तरह धारावाही जल संवेग समुद्र की ओर गया था—

"यहाँ 'वाश्रा धेनवः' की उपमा से सायंकाल चरागाहों से लौटने वाली अपने बछड़ों के लिए उतावली से जोरों से रँभाती हुई और दौड़ती हुई गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने झूलने लगता है। जोरों से बहने वाले प्रवाहित होने वाले जल के लिए इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान नहीं हो सकता।"[1]

रूपकों की दृष्टि से भी ऋग्वेद के मन्त्र पर्याप्त सम्पन्न हैं। सूर्य आकाश का स्वर्णिम मणि है—(**दिवोरुक्म उरुचक्षा उदेति**—ऋ० 7।63।4) सूर्य वह रंगीन प्रस्तर है जो आकाश में प्रतिष्ठित है (**मध्येदिवोनिहितः पृश्निरश्मा** ऋ० 7।63।4) अतिशयोक्ति अलंकार की दृष्टि से ऋग्वेद का वह मन्त्र सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जिसमें यज्ञ-शब्द-काव्य परक अर्थ का सायण, पतंजलि एवं राजशेखर निर्देश करते हैं—

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महोदेवो मर्त्या आविवेश ॥ ऋ०—4।58।3

इस यज्ञात्मक अग्नि के चार शृंग हैं अर्थात् शृंग स्थानीय चार वेद हैं। इसके सवनरूप प्रातः, मध्याह्न और सायं तीन पाद हैं। ब्राह्मोदन एवं प्रवर्ग्य स्वरूप दो मस्तक हैं। छन्द स्वरूप सात हाथ हैं। ये अभीष्ट वर्षी हैं। यह मन्त्र, कल्प एवं ब्राह्मण द्वारा तीन प्रकार से बद्ध हैं। ये अत्यन्त शब्द करते हैं। वे महान् देव मर्त्यों के मध्य में प्रवेश करते हैं। दूसरे पतंजलि के अर्थ के अनुसार वह महादेव शब्द है क्योंकि उसकी चार सींगें चार प्रकार के शब्द (नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात) भूत, वर्तमान, भविष्य ये तीनों काल तीन पैर हैं, दो सिर दो प्रकार की भाषाएँ नित्य तथा कार्य हैं। प्रथमादि

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 338

सात विभक्तियाँ सातों हाथ हैं। शब्द तीन प्रकार हृदय, गला और मुख से बद्ध हैं। अर्थ की वृष्टि करने वाला होने के कारण शब्द वृषभ है। एक दूसरे अर्थ में यह महादेव सूर्य है, जिसकी चारों दशायें चार सींगे हैं, तीन पैर तीन वेद हैं, दो सिर हैं रात और दिन, सप्त किरणें ही उसके सात हाथ हैं। यह सूर्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बद्ध है अथवा ग्रीष्म, वर्षा, शीत ऋतुओं का उत्पादक है। इसलिए वह त्रिधाबद्ध है। व्यतिरेक अलंकार का भी एक सुन्दर उदाहरण अत्यधिक प्रसिद्ध है जिसके पूर्वार्द्ध में अतिशयोक्ति अलंकार भी निहित है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

—ऋ० 1.164.20

सुन्दर पंख वाले, मित्रभाव से सर्वदा साथ रहने वाले दो भिन्न पक्षी एक ही वृक्ष पर आश्रय लेते हैं, जिनमें से एक तो स्वादपूर्ण फलों को खाता है और दूसरा बिना खाये ही विराजमान रहता है। पक्षिद्वय उपमान में जीवात्मा तथा परमात्मा उपमेय का निगरण होने से अतिशयोक्ति है। उत्तरार्द्ध में पक्षियों के भिन्न स्वभाव होने के कारण व्यतिरेक अलंकार है। अतिशयोक्ति अलंकार परक एक चरण हम और भी यहाँ दे सकते हैं—अग्नि अपनी प्रभा से आकाश को छू रहा है—'**मध्ये दिवो निहितः प्रश्निरश्मा ।**'' (ऋ० 5.47.3) वेद में अक्षर एवं शब्दों की पुनरावृत्ति भी हुई है, जो अनुप्रास अलंकार का मूलाधार है; जैसे—**रक्षाणो अग्नेतवरक्षणेभीराक्षाणे** (4.3.14), **प्रतार्यग्ने प्रतर न आयुः** (4.12.6), **अब्जा गोजा ऋतुजा आर्द्रजा ऋतभू** (4.40.5), इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के ऋषि अनुप्रास अलंकार से मूलतत्व-भाषा सौन्दर्य एवं ध्वन्यात्मकता को भी पसन्द करते थे। इसी प्रकार कहीं-कहीं पदों के आरम्भ में शब्द की पुनरावृत्ति भी हुई है; जैसे—**हस शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदषिद तिथिर्दुरोणसत्** (4.40.5) तथा **दद्ऋचा सनियतेददन्मेधा मृतायते** (5.27.4) और ''**दिवाभिपित्वेऽवसागमिष्ठा प्रत्यर्वातिदाशुषेशंभविष्ठा**'' (5.76.2)। इन पिछले दो मन्त्रों में यमक की प्रतीति होती है। कहने का आशय यही है कि समग्र वैदिक साहित्य में अलंकार सौन्दर्य प्रतिष्ठित है भले ही अलङ्कारों की संख्या सीमित ही क्यों न हो।

वैदिक साहित्य ऋषियों की कमनीय कल्पना अपने में अद्वितीय है। कभी

कोमल कल्पना है तो कभी कठोर कल्पना। कल्पना के जितने भी रूप—दृश्य कल्पना, ध्वनि कल्पना, स्पर्श कल्पना, क्रिया कल्पना, घ्राण कल्पना, रस कल्पना आदि हैं, वे सभी वैदिक साहित्य में विद्यमान हैं। इस दृष्टि से वैदिक उषा सूक्त अद्वितीय सूक्त है। जहाँ कवि कल्पना से उन्मुक्त उड़ान भरकर अपनी कला का प्रदर्शन किया है। उषा का मानवी रूप अपने में अनुपम है जिस रूप को देखकर कवि भाव-विभोर हो, कह उठता है—

हे प्रकाशवती उषा ! तुम कमनीय कन्या की तरह आकर्षमयी बनकर अभीष्ट फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मितवदना युवती के समान अपने वक्ष को निरावरण करती हो—

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम् ॥
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाति ॥

—ऋ० 1।123।10

उषा सूक्त के सम्बन्ध में विचार करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने भाव निम्न प्रकार व्यक्त किए हैं—

"वे भाव की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्य भावना मण्डित हैं। प्रातःकाल अरुणिमा से मण्डित, सुवर्णच्छटा से विच्छुरित प्राचीन भोमण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक के हृदय में सौन्दर्य की भावना का उदय नहीं होता ? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेम भरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्यच्छटा पर रीझ उठता है। उषा मानवी के रूप में कवि हृदय के नितान्त पास आती है। यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणी मात्र होती, इस विश्व से परे ऊर्ध्वलोक से अपनी दिव्य छवि छहराती रहती, मानव जगत् के ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने में ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय में केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं। जब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि हम अपनी पृथक् सत्ता को सर्वथा निर्मूल न कर प्रकृति की सत्ता के भीतर नरसत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं तब अनन्यता की भावना जन्म लेती है। इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में, कभी गृहिणी के रूप में और कभी माता के रूप में देखता है; बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनुभव करता है। उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की

प्रतिमा न होकर कवि के लिए आन्तरिक सुषमा का भी प्रतीक बन जाती है।[1] प्रस्तुत उद्धरण से ऋग्वैदिक कवियों की कल्पना अलंकार, भाव-भाषा सभी का संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। ऋग्वैदिक मन्त्रों में प्रकृति का आलम्बन एवं अलंकृत दोनों ही रूपों में आकलन हुआ है।

वैदिक साहित्य ही समग्र परवर्ती साहित्यिक विधाओं का स्रोत है। क्या गीतिकाव्य, क्या खण्डकाव्य, क्या गद्यकाव्य कथा, आख्यायिका, नाटक आदि सभी के मूल ऋग्वेद में ढूँढ़े जा सकते हैं। विन्टरनिट्ज ने भी लिखा है कि गीति-काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण जिनमें कि प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णित है तथा Flower Language जिनकी विशेषता है, ऐसे सूक्तों में सूर्य, पर्जन्य मरुत, उषा सम्बन्धी सूक्त हैं। सर्वाधिक सुन्दर सूक्त उषा सूक्त है। जहाँ वह नर्त्तकी के समान सुन्दर वस्त्र धारण करती है। गर्व से अपने वक्ष का प्रदर्शन करती हुई वह अवतरित होती है। वह स्वर्ग के द्वार खोलती है Again and again her charms are compared with those of woman invitings love. नाटक एवं एकांकी नाटकों के मूलतत्व आख्यान साहित्य से देखे जा सकते हैं, अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने नाटकों का उद्गम इन्हीं आख्यानों से माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से ऋग्वेद विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है।

प्रश्न—ऋग्वेदीय दार्शनिक भावना का निरूपण करते हुए अन्य वेदों में प्राप्त दार्शनिक तत्वों का संकेत कीजिए। —आ० वि० वि० 1968

उत्तर—ऋग्वेद में हमें आत्मा-परमात्मा, सुख-दुःख, सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्म आदि के सम्बन्ध वैदिक ऋषियों की मान्यताओं से परिचय मिलता है। वैदिक ऋषि सांसारिक कष्टों से परिचित था; इसलिए कष्टों के निवारण के लिए, दीर्घ-जीवन के लिए वह उपासना करते हुए देखा जाता है। वैदिक ऋषि ज्ञान और सुख की प्राप्ति के कारण से भी परिचित थे, इसलिए आत्मा-परमात्मा के ऐक्य की कामना यत्र-तत्र दृष्टिगत हो जाती है।

ऋग्वेद में '**ऋत**' (सत्य और अविनाशी सत्ता) की भी सुन्दर कल्पना है। ऋतु के कारण ही जगत् की उत्पत्ति हुई है, ऋतु ही सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ था—

ऋतं च सत्यं चाभींद्धात् तपसोध्यजायत ।ऋ० 10।190।10

---

1. **वैदिक साहित्य और संस्कृति, 342**

संसार के शाश्वत नियमों की प्रतिष्ठा करने वाला भी 'ऋत' ही है। प्रत्येक प्राकृतिक तत्त्व सूर्य-चन्द्र और विभिन्न देव 'ऋत' से ही प्रेरित हैं, 'ऋत' ही संसार का नियामक है। इस प्रकार 'ऋत' के रूप में एक तत्व की कल्पना ऋग्वेद ऋषियों की अपनी विशेषता है।

ऋग्वेद में अनेक देव अन्ततः एक देव के ही विभिन्न रूप हैं। ऋग्वेद विश्व के एक नियन्ता से परिचित है, अनेकता में एकता, भिन्नता में अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में एक मौलिक तत्त्व है। इसी देव को वैदिक ऋषियों ने प्रजापति, हिरण्यगर्भ और पुरुष आदि के नामों से पुकारा है। ऋग्वेद दशम मण्डल का एक सूक्त ही हिरण्यगर्भ की स्तुति का प्रतिपादन करता है। यह सूक्त गम्भीर अध्यात्मिक भावनाओं से भरपूर है। "यह हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होने पर समस्त प्राणियों का एकमात्र अधिपति हुआ। यह इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को धारण करने वाला है। यज्ञादिकों में उन्हीं के प्रसादन के लिए हम हवि का होम करते हैं—

हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋ 10।121।1

यह हिरण्यगर्भ समस्त प्राणियों का प्राणदाता है। अमरत्व तथा मृत्यु छाया के समान उससे अधीन रहती है—

या आत्मदा बलदा यस्य विश्वमुपासते प्रशिषंयस्य देवा यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः। कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —ऋ 10-121।2

इसी हिरण्यगर्भ से सभी देव आसीष की कामना करते हैं। वह प्राणिमात्र का स्वामी है। हिमालय, समुद्र और भूमि उसकी महिमा के प्रतीक हैं। दिशाएँ प्रदिशाएँ उसकी भुजाएं हैं। 'उसके माध्यम से आकाश प्रकाशमान है, पृथ्वी स्थित है और स्वर्ग-लोक प्रतिष्ठित है। उसी ने अन्तरिक्ष में रजलोक की माप की है। सूर्य उदित होकर उसी के उपर प्रकाश करता है। वह देवताओं का प्राण है और पृथ्वी का जनयिता है। वह हमारा नाश न करे। वह सत्यधर्मा है। उसने दिवलोक को उत्पन्न किया। उसी से सुप्रकाश-जल की उत्पत्ति हुई।"—ऋग्वेद 10।121।4—9

ऋग्वेद में ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की भी कल्पना मिलती है। इसकी सबसे सुन्दर कल्पना पुरुष सूक्त (10।90) तथा अदिति सूक्त (1।89) में मिलती

है। वह सहस्र शीर्ष पुरुष है, वह हजार नेत्रों वाला, हजार पैरों वाला है, वह चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर परिणाम में दश अंगुल से अधिक है। जो कुछ वर्तमान है, जो उत्पन्न हो चुका है और भविष्य में होगा, वह सब पुरुष ही है—

पुरुष एवेदं सर्व यद भूतं यच्च भव्यम् । (10।9।2)

इस सम्पूर्ण सूक्त में सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई है। अदिति सूक्तों में ऋषि कहता है कि अदिति ही आकाश है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है और अदिति पिता तथा पुत्र है; अदिति समस्त देवता है; अदिति पंचजन है, जो कुछ उत्पन्न है और होने वाला है वह सब अदिति है—

अदितिर्योरदितिरन्तरिक्ष
अदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना
अदितिजतिमदिर्जतिनित्वम्—ऋ० 1।89।10

"पुरुष, सत् हिरण्यगर्भ, एक देव आदि सभी परवर्ती युग के ब्रह्म की ओर संकेत करते हैं। जब तक वैदिक ऋषियों की दृष्टि समीप थी, उन्हें ऐसी सत्ताओं और विभूतियों का आभास हुआ, जो ससीम रहीं। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों की विभूतियाँ ससीम थीं। शीघ्र ही उन ऋषियों को असीमता का ज्ञान होकर रहा। अनेक ससीम होते हैं, एक असीम होता है। वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि में व्यक्तिशः शक्ति, क्षमता और कर्मण्यता थी। उसी शक्ति, क्षमता और कर्मण्यता का वृहत्तम संयोजन जिस सत्ता में हुआ; वही 'एकवेद' ब्रह्म हुआ। ब्रह्म की एक शक्ति सभी शक्तियों का उद्‌गम बनी। ब्रह्म के जिन गुणों का आकलन किया गया, उनसे उसकी असीमता का आभास मिला। जो कुछ ससीम है, उसका समन्वय उसी ब्रह्म में है। केवल ब्रह्म असीम है।" इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि ब्रह्म की कल्पना ऋग्वेद में ही पूर्ण परिपक्व हो चुकी थी।

ऋग्वेद में विश्व की उत्पत्ति रूपी पहेली का समाधान भी किया गया है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (10।129) इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह सूक्त अद्वैत तथा आध्यात्मिक भावना की अनुपम अभिव्यंजना करता है। इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है, ? इसके मूल में कौन-सा तत्त्व है? सर्वप्रथम किस तत्त्व की उत्पत्ति हुई ? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहता है कि—"उस समय न तो सत् था और न असत् ही। आकाश भी विद्यमान नहीं था और न ही उससे

ऊपर का अन्तरिक्ष था। किसने उसे आवृत कर रखा था ? वह कहाँ था और किसके आश्रय में रहता था ? क्या वह आदिम काल का गहन और गम्भीर जल था—

नासवसीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो वो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्न
अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥1॥

मृत्यु भी नहीं थी, अतः अमरता की भावना भी नहीं थी। रात्रि और दिन भेदक प्रकाश भी नहीं था। वह एक ही उस समय बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित रहने वाला ब्रह्म विद्यमान था। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अन्ह आसीत्प्रकेत।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्वान्यन्न परः किं चनास ॥2॥

उस समय अन्धकार था, प्रारम्भ में यह सब एक अर्णव समुद्र के रूप में था, प्रकाशरहित, ऐसा अंकुर जो भूसी से आच्छन्न था; उस एक ही उत्पत्ति ताप से हुई थी।

तम आसीत्तमसा गू नहमग्रे
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुछयेनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥3॥

प्रारम्भ में प्रेम ने उसे आविर्भूत किया जो मानस से उत्पन्न हुआ बीज था, कवियों ने अपने हृदय में अनुसन्धान के पश्चात् बुद्धि द्वारा असत् के साथ सत् के बन्धन का पता लगाया—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृद प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥4॥

उनकी किरण सर्वत्र व्याप्त थी, वह ऊपर थी अथवा नीचे थी ? बीज को धारण करने वाले थे, शक्तियाँ भी थीं, आत्मशक्ति नीचे और इच्छाशक्ति ऊपर थी—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम् ।
अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥5॥

तब फिर ज्ञाता कौन है; किसने इसकी यहाँ घोषणा की, किससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई ? देवगण इसकी उत्पत्ति के अनन्तर आये । तब फिर कौन जानता है कि सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई—

को अद्धा वद क इह प्र वोचन् ।
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥
अवाँग्देवा अस्य विसर्जनेना ।
था को वेद यत आबभूत ॥6॥

कौन जानता है कि सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई ? जिससे इस सृष्टि का विकास हुआ, उसने इसे बनाया या नहीं बनाया; सर्वदर्शी, सर्वव्यापी वही यथार्थ रूप से जानता है अथवा क्या वह भी नहीं जानता—

इदं विसृष्टियत आबभूव
यदि वादधे यदि वा न ।
योधअन्याध्यक्षः परमे व्योमन् ।
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥7॥

इस सूक्त में सृष्टि को उत्पत्ति के विषय का एक अत्यन्त उन्नत सिद्धान्त प्राप्त होता है । आरम्भ में न तो सत् था और न ही असत् । सत् भी उस समय अपने अभिव्यक्त रूप में नहीं था । केवल इसीलिए हम उसे असत् नहीं कह सकते, क्योंकि वह एक निश्चित सत्ता है जिससे सब सत् पदार्थ आविर्भूत हुए । पहली पंक्ति में हमारे सिद्धान्तों की अपूर्णता प्रदर्शित की गई है । परम सत्ता को, जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में है, हम सत् अथवा असत् किसी भी रूप में ठीक-ठीक नहीं जान सकते । वह ऐसी सत्ता है जो अपनी ही सामर्थ्य से बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित है । उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु उसके परे नहीं थी । इन सबका आदिकरण समस्त विश्व से प्राचीन है

जो सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और नक्षत्रों से युक्त है। यह काल की, देश की, आयु, मृत्यु और अमरता आदि सबकी पहुँच के बाहर और उनसे परे है। वह एक है, अद्वितीय है, वही अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता के रूप में विभिन्न रूप धारण करता है। वह एक है किन्तु कवि उसे अनेक नामों से पुकारते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

—ऋ० 1।164।46

यास्क ने भी जगत् के मूल में एक शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है जो ईश्वर है, अद्वितीय है और उसी की अनेक रूप में स्तुति की जाती है— **महाभाग्यात् देवताया एक-एक आत्मा-बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवति।—निरुक्ति— 7।4।8,9**

वृहद्देवता भी निरुक्त के इसी कथन का समर्थन करता है (1।61—65)। ऋग्वेद में सर्वव्यापी ब्रह्म सत्ता का यत्र-तत्र निरूपण है। ऋग्वेद में आत्मा के सम्बन्ध में प्राचीनतम मान्यता इस रूप में मिलती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकसीतिः॥

—ऋ० 1।164।20

अर्थात् दो पक्षी संयुक्त रूप में मित्रवत् एक वृक्ष की शाखा पर बैठे हैं। उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा न खाते हुए केवल देखता रहता है। अथर्ववेद 10।7।31 मन्त्र में यही धारणा व्यक्त की गई है। इसमें खाने वाला पक्षी आत्मा और द्रष्टा पक्षी परमात्मा है। इस ब्रह्म को वैदिक ऋषियों ने अपने हृदय में ढूँढ़ निकाला है—

सतः बन्धुमसति निरविन्दन्।
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥—ऋ० 10।129।4

ऋग्वेदीय दार्शनिक मान्यताएँ ही परवर्ती काल में विकसित होती हैं। अथर्ववेद के काल में वैदिक मनीषी पुरुष और ब्रह्म की एकता से परिचित हो चुके थे—

---

1. **राधाकृष्णन्: भारतीय दर्शन**, पृष्ठ 92।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
ये वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठ ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनु संविदुः ।—अ० 10।7।17

"जो पुरुष में ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं। जो परमेष्ठी प्रजापति और ज्येष्ठ ब्रह्म को जानते हैं, वे स्तम्भ को पूर्णतः जानते हैं।" अथर्ववेद तथा ब्राह्मण युगीन दार्शनिक मान्यताओं का मूल्यांकन करते हुए डा० रामजी उपाध्याय[1] ने लिखा है कि—"उस युग में आत्मा की अमरता की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।"[2] ब्राह्मण-साहित्य में स्वर्ग-नरक के अतिरिक्त मुक्ति की कल्पना मिलती है। इसके अनुसार जो पुरुष देवताओं के लिए यज्ञ करता है, वह उतना उच्च लोक नहीं पाता, जितना आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला।[3] जो पुरुष वेद पढ़ता है, वह बार-बार मरने से छुटकार पा जाता है और उसे ब्रह्म के साथ एकत्व की प्राप्ति होती है।[4] ज्ञान से मनुष्य उस स्थान पर पहुँचता है, जहाँ पूर्ण रूप से निष्कामता होती है।[5] शतपथ ब्राह्मण में संभवत मुक्ति पाने के लिए अमरत्व की कल्पना मिलती है। मरने के पश्चात् मुक्ति पा लेने पर सम्यक् जीवन की सिद्धि होती है।[6]

उपनिषद् काल में वैदिक दार्शनिक विचारों की परिपक्वता मिलती है। परमसत्ता, जगत् का स्वरूप, सृष्टि की समस्या, व्यक्ति का विश्लेषण, व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य, उसका आदर्श, कर्म, मोक्ष-बन्ध तथा पुनर्जन्म विषय विचार उपनिषदों में मिलते हैं। इन्हीं, औपनिषदिक मान्यताओं को परवर्ती षड्-दर्शनों में अंगीकार किया गया है। उपनिषद् साहित्य के दार्शनिक विचारों का हम अन्यत्र विश्लेषण करेंगे, वही देखें।

---

1. भारत की संस्कृति साधना, पृ० 259-260
2. ऋग्वेद 5।35।3, 10।16।1-6, 10।58।1-2, अथर्ववेद 12।3।17
3. ऐतरेय ब्राह्मण 11।2।6
4. वही 10।5।6
5. शतपथ ब्राह्मण 10।5-4, 16
6. वही 10।4।310

तृतीय अध्याय

यजुर्वेद

प्रश्न—यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं का निर्देश करते हुए उनके वर्ण्य-विषय की सर्वाङ्गीण समीक्षा कीजिए।

Give the details of the different recensions of the Yajurveda and the nature of their subject-matter. —आ० वि० वि० 61, 62

Or

How many Samhitas of the Yajurveda preserved ? How are they inter-related ? —आ० वि० वि० 58

उत्तर—यजुर्वेद संहिता अध्वर्यु पुरोहितों की प्रार्थना पुस्तक है। ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का अभिधान यजु है। कहा भी है "**अनियिताक्षरावसानो यजुः**" तथा "**गद्यात्मको यजुः।**" महाभाष्य की भूमिका में पतंजलि ने यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाओं का उल्लेख किया है—"**एकशतमध्वर्यु-शाखा।**' कहने का आशय यही है कि इस वेद की अनेक शाखाओं का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। लेकिन आज हमें यजुर्वेद की केवल पाँच शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। (1) काठक अथवा कठ लोगों की शाखा, इस शाखा के अनुयायी यूनानी आक्रमण के काल में पंजाब में रहते थे, उसके पश्चात् वे काश्मीर में रहने लगे और उनका वर्तमान निवास काश्मीर है। (2) कपिष्ठल कठ शाखा—यह शाखा आंशिक रूप में जीर्ण-शीर्ण स्थिति में मिली है। (3) मैत्रायणी संहिता मैत्रायणीय परम्परा की संहिता है; इसका दूसरा नाम कालाप भी है। इस शाखा के अनुयायी उस काल में नर्मदा से दक्षिण की ओर प्रायः सौ मील तक एवं नासिक से बड़ौदा तक बसे हुए थे। आज भी गुजरात एवं अहमदाबाद में इनका अस्तित्व प्राप्त होता है। (4) तैत्तिरीय शाखा अथवा आपस्तम्भ संहिता—पहले इस शाखा के अनुयायी नर्मदा के दक्षिण में रहते थे इसकी एक उपशाखा का नाम हिरण्यकेशिन् भी है। उपर्युक्त चारों संहिताओं में परस्पर

प्रथम अध्याय

वैदिक साहित्य का परिचय

प्रश्न—वैदिक साहित्य का संक्षिप्त किन्तु सर्वाङ्ग पूर्ण वर्णन कीजिए।

Make a brief but comprehensive survey of the Vedic Literature, i. e. the Samhitas, Brahmans, Aranyokas, Upanisadas, Kalpasutras and Miscellaneous works covered under different schools of the vedas. —आ० वि० वि० 53, 62

Or

What is the meaning of the term Veda ? Give a brief ideo of the literature covered by that term. —आ० वि० वि० 58

Or

Describe the extent of the literature covered by the term Veda. —आ० वि० वि० 59

Or

Describe briefly the main divisions of Vedic Literature.
—आ० वि० वि० 65

उत्तर—प्राचीनतम भारोपीय साहित्य का एक अंश संगीतमय कविता के रमणीय कलेवर में भावपूर्ण अर्थसौष्ठव, परिष्कृत भाषा तथा छन्द की श्रुति-मधुर ध्वनि से विश्व को गौरव-गरिमा प्रदान कर आध्यात्मिक ज्ञान की सुधा-धारा प्रवाहित कर रहा है। भारतीय आध्यात्मिक जीवन एवं उसके सांस्कृतिक विकास तथा समुत्कर्ष के अध्ययन के लिए भी वैदिक साहित्य कोश-ग्रन्थ प्रमाणित हो चुका है। भारतीयों के अन्तरतम का परिपूर्ण ज्ञान करने के लिए सहस्राब्दियों से प्रचलित इस साहित्य का जब तक रसास्वादन नहीं कर लिया जाता, तब तक वह ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। वेद भारतीय परम्परा में प्राचीन-तम और सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले ग्रन्थ हैं। मनुस्मृतिकार ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

"धर्मं जिज्ञास्यमानानां प्रमाणं परमं श्रुति ।"

धर्म-विषयक जिज्ञासा के समाधान के लिए श्रुति ही प्रमाण है ।

"वेदोऽखिलो धर्म मूलम्" "सर्वज्ञानमयो हि सः"

चातुर्वर्न्यं त्रयो लोकाश्चत्वाराश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयन्ति ।।

वेद धर्म का मूल और समस्त ज्ञान से युक्त है । चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य इन सबका परिज्ञान वेद से होता है। ऊपर के उद्धरणों से भारतीय जीवन में वेदों की महनीय महत्ता का स्वतः आभास मिल जाता है ।

वेद शब्द 'विद' धातु से बना है, लैटिन भाषा में विद् धातु को Videre धातु कहा जाता है । इसी लैटिन धातु से अंग्रेजी का Idea शब्द निकला है। वैसे वेद शब्द के अर्थ बोध के लिए अंग्रेजी का Vision शब्द अधिक समीचीन है जिसका अर्थ है 'दर्शन' । क्योंकि भारतीय परम्परा उन ऋषियों, महर्षियों को मन्त्रदृष्टा ऋषि कहती है, जिन्होंने वेद मन्त्रों का मनन किया है । ऋग्वेद के एक मन्त्र[1] में ऐसा भाव मिलता भी है "ऋषियों ने अपने अन्तःकरण में जो वाक् (वेदवाणी) प्राप्त की, उसे उन्होंने समस्त मानवों को पढ़ाया।" यास्क ने भी निरुक्त में लिखा है–"**मन्त्रा मननात्, छन्दा सिछादनात्** तथा ऋषि **दर्शनात् स्तोमान ददर्श**" अर्थात् ऋषियों ने मन्त्रों को देखा किन्तु आज प्रचार-लब्ध वेद शब्द का व्युत्पत्ति-लक्ष्य अर्थ '**ज्ञान**' है । विन्टरनिट्ज ने भी अपना आशय इसी अर्थ में व्यक्त किया है जहाँ वे "The knowledge Par excel-lence" तथा "The sacred the religious knowledge लिखते हैं ।"

यदि वेद तथा वैदिक साहित्य शब्द का सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन करें, उस स्थिति में जब हम वेद शब्द का अर्थ ज्ञान करते हैं जैसा कि आज सर्वसम्मत विचार है तब वेद और विद्या दोनों ही समान धातु से निष्पन्न शब्द प्रतीत होते हैं इसलिए मूलतः विद्या और वेद शब्द में समानार्थक[2] ही हैं । इस दृष्टि से वेद शब्द का समानार्थक प्रयोग आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि शब्दों प्राचीन

---

1. ऋग्वेद 10।71।3

मंगलदेव : भारतीय संस्कृति का विकास ।

साम्य है। इन्हें कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा कहा जाता है। (5) वाजसनेयी संहिता—यह शाखा यजुर्वेद की पाँचवीं शाखा है जो शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस शाखा का नाम याज्ञवल्क्य वाजसनेयी के नाम पर पड़ा है जो कि इसके प्रथम आचार्य हैं। इसकी दो शाखाएँ मिलती हैं—एक, कण्व; दूसरी माध्यन्दिनीय। इस प्रकार विद्वानों ने इस यजुर्वेद के दो भेद माने हैं—एक, कृष्ण यजुर्वेद एवं दूसरा, शुक्ल यजुर्वेद।

वाजसनेयी संहिता

इस संहिता में चालीस अध्याय हैं। पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि इसके अन्तिम पन्द्रह अध्याय परवर्ती काल की रचना हैं। दूसरे कुछ विद्वान् 22 अध्यायों को पीछे की रचना मानते हैं। वस्तुस्थिति में कुछ भी हो, हम तो यही कहेंगे कि प्रारम्भिक पच्चीस अध्याय विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन अध्यायों में अनेक प्रकार के वृहदाकार यज्ञों से सम्बद्ध वैनिक ऋषियों की प्रार्थनाओं का संकलन है। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में चन्द्र दर्शन एवं पोर्णमासी आदि के लिए मन्त्र संकलित हैं। तृतीय अध्याय में दैनिक अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह है। चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक अग्निष्टोमादि सोमयज्ञों एवं पशुबलि सम्बन्धी मन्त्र मिलते हैं। इन सोमयज्ञों की परम्परा में कुछ यज्ञ ऐसे हैं जो कि एक दिन में समाप्त होते हैं और कुछ अनेक दिनों तक चलते हैं। वाजपेय यज्ञ एक दिन में समाप्त होने वाले यज्ञों में प्रधान है। यह यज्ञ मूल रूप में योद्धाओं एवं राजाओं द्वारा संपादित किया जाता था। इस यज्ञ में सोम के साथ सुरापान भी चलता था परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में प्रस्तुत सुरापान का नियमों द्वारा बहिष्कार किया है। इन अध्यायों में राजाओं से सम्बन्धित एक राजसूय यज्ञ का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। प्रस्तुत दो प्रकार के सोमयज्ञों की प्रार्थनाओं का संग्रह नवम एवं दशम अध्याय में किया गया है। एकादश अध्याय से अष्टादश अध्याय तक अग्निचयन के हेतु की गई विभिन्न प्रार्थनाओं एवं विविध याज्ञिक नियमों का संग्रह है। अग्नि चयन का क्रम वर्ष-भर तक चलता रहता है। इसके निमित्त निर्मित होने वाली अग्निवेदिका का भी वर्णन इसमें मिलता है। प्रस्तुत वेदी की रचना 10800 ईंटों से की जाती थी और उनका आधार पंख फैलाए हुए पक्षी के समान होता था। वेदी के सबसे नीचे स्तर पर पाँच याज्ञिक पशुओं के मस्तक रखे जाते थे और उनके शरीर जलाशय में फेंक दिए

जाते थे। अग्नि पात्र एवं ईंटों को पकाने की विधि भी अत्यन्त समारोह के साथ सम्पन्न की जाती थी। विन्टरनिट्ज ने लिखा है—

It is built of 10800 bricks in the form of a large bird without spread wings. In the lowest stratum of the alter the heads of five sacrificial animals are immerged and the bodies of the animals are thrown into water of which the clay of the manufacture of the bricks and the fire pan is taken.

19-20 अध्याय में सौत्रामणि उत्सव के प्रयोग का विधान है। यह एक विशेष याज्ञिक उत्सव था जिसमें सोमपान के साथ सुरापान का भी प्रयोग किया जाता था—"**सौत्रामण्यां सुरां पिवेत्**" का निर्देश कुछ इसी प्रकार का है। यह सुरा इन्द्र-अश्विनकुमार आदि को आहुति द्वारा प्रदान की जाती थी। इस यज्ञ का विधान सफलता के अभिलाषी ब्राह्मण, खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के इच्छुक राजा तथा विजयाभिलाषी, वीर, समृद्धि के अभिलाषी वैश्य के लिए किया गया था। 22 से 25 अध्याय तक अश्वमेध यज्ञ का प्रार्थनाओं का संकलन है। शक्तिशाली राजा विजेता और सर्वभौम सम्राट ही इसका अनुष्ठान किया करता था। 22वें अध्याय में प्रस्तुत संहिता के पूर्वार्द्ध की समाप्ति हो जाती है। 26 से 40 अध्याय पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में नवीन संग्रह हैं। 26 से 35 अध्याय तक खिल सूक्त हैं। खिल का अर्थ है, परिशिष्ट। 30वें अध्याय में यद्यपि कोई प्रार्थना नहीं है तथापि इसमें पुरुष मेघ यज्ञ में बलि के उपयुक्त व्यक्तियों की गणना की गई है। यह यज्ञ विषम देवताओं की तुष्टि के लिए किया जाता था, इसमें एक सौ चौरासी व्यक्तियों की बलि चढ़ाई जाती थी जिनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं। इसमें पुरोहित वर्ग के लिए एक ब्राह्मण, राजा के लिए योद्धा, मरुत् देवों के लिए वैश्य, संन्यासी के लिए एक सूद्र, अन्धकार के लिए एक चोर, नरक के लिए एक हत्यारे, पाप के लिए एक हिजड़े, वासना के लिए एक नर्तकी, कोलाहल के लिए एक गायक, नृत्य के लिए एक भाट, गान के लिए एक अभिनेता, मृत्यु के लिए एक शिकारी, द्यूत के लिए जुआरी, निद्रा के लिए एक अन्धे व्यक्ति, अन्याय के लिए एक धोबिन, कामना के लिए एक रंगरेज स्त्री, यम के लिए एक बन्ध्या, उत्सव के आमोद के लिए एक गंजे पुरुष की

बलि दी जाती थी।[1] विन्टरनिट्ज ने भी अपने इतिहास में इनका इस प्रकार वर्णन किया है—

To priestly dignity a brahman, to royal dignity a warrior, to the muruts a vaishya, to ascenticism, a shudra, to darkness a thief, to hell a murderer, to evil a cunuch, to lust a harted, to noise a singer, to dancing a barn, to singing an actor, to death a hunter, to dice a gambler, to sleep a blind man, to injustice a deaf man, to lusture a fire lighter; to sacrifice a washer woman, to desire a female dyes, to yama a barrau woman, to the joy of festival a luleplayer, to cry a fluteplayer, to earth acripple, to heaven a bold headed man and so on. इतना वर्णन होने पर भी एक बात विचारणीय यह है कि इतने वर्गों के व्यक्ति एक साथ एकत्र कैसे होंगे; अतः अनुमान यही किया जा सकता है कि वह एक प्रतीकात्मक यज्ञ था जो पुरुषमेध यज्ञ कहा जाता था। सम्भव तो यह भी है कि यह यज्ञ किया ही नहीं जाता था, याज्ञिक रहस्यवाद तथा सिद्धान्त मात्र था। 31वाँ अध्याय भी इसी प्रकार का है। इसमें पुरुष सूक्त संगृहीत है। ऋग्वेद के समान इसमें भी उल्लेख मिलता है कि पुरुष की बलि से ही विश्व की सृष्टि होती है। 32वां अध्याय अपने स्वरूप एवं विषय वर्णन की दृष्टि से एक उपनिषद् के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस अध्याय में प्रजापति का पुरुष और ब्रह्म से अभेद दिखलाया गया है। 43वें अध्याय के 6 मन्त्र भी उपनिषद् की कोटि में आते हैं। इन्हें शिवसंकल्पोपनिषद् के नाम से अभिहित किया जाता है। 32वें अध्याय से 34वें अध्याय तक की प्रार्थनाएँ सब मेघ यज्ञ में प्रयुक्त होती थीं, यह एक महान् यज्ञ था जिसमें यज्ञकर्त्ता यजमान पुरोहित को अपना सर्वस्व याज्ञिक दक्षिणा के पुरस्कार में अर्पण कर देता था, स्वयं जीवन के शेष क्षणों को अरण्य में व्यतीत करने के लिए वानप्रस्थी हो जाता था। 35वें अध्याय में अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध ऋचाएँ हैं जिन्हें ऋग्वेद से ग्रहण किया गया है। 36 से 39 अध्याय तक मे प्रवर्ग्ययज्ञ उत्सव की प्रार्थनाओं का संकलन है। इस यज्ञ के अवसर पर यज्ञ की अग्नि पर एक

---

1. यजुर्वेद, अध्याय 30, मन्त्र 5-21

कढ़ाह खूब गर्म किया जाता था (यह एक प्रकार से सूर्य को प्रतीक समझा जाता था) इस कढ़ाव में दूध गर्म करके अश्विनीकुमारों को समर्पित किया जाता था। यह उत्सव एक रहस्यात्मक कृत्य था। इस उत्सव के अन्त में यज्ञ-पात्र इस रूप में रखे जाते थे कि मनुष्य की आकृति का निर्माण होता था। दूध के बर्तन से सिर बनाया जाता था, बालों के स्थान पर कुशा (घास) की स्थापना की जाती थी। दो छोटे दूध के प्याले रखकर कानों का निर्माण होता था, दो स्वर्णिम पंक्तियों से आँखें बनाई जाती थीं; दो कटोरों से एड़ियों का निर्माण होता था। इस आकृति पर डाला गया माँस मज्जा तथा दुग्ध मिश्रित मधु रस का काम देता था। वाजसनेयी संहिता का 40वाँ अध्याय पुनः एक उपनिषद् के रूप मे आता है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है जो ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है।

वाजसनेयी संहिता की विषय-सामग्री को देखने से स्पष्ट होता है कि अन्तिम अध्याय परवर्ती काल के ही हैं। कृष्ण यजुर्वेद का वर्ण्यविषय वाजसनेयी संहिता के पूर्वार्द्ध तक ही सीमित रहता है, जो वाजसनेयी संहिता के अन्तिम अध्यायों का परवर्ती सिद्ध करने का एक पुष्ट प्रमाण है।

कृष्ण यजुर्वेद की विषय-सामग्री लगभग शुक्ल यजुर्वेद से मिलती-जुलती है, अतः शुक्ल यजुर्वेद के विवेचन से कृष्ण यजुर्वेदीय विषय-सामग्री का अभ्यास मिल जाता है। क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान की विधियाँ भी लगभग समान ही हैं। चरण व्यूह आदि ग्रन्थों में कृष्ण यजुर्वेद की 75 शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु आज केवल चार शाखाएँ ही उपलब्ध हैं, उनके नाम क्रमशः (1) तैत्तिरीय शाखा, (2) मैत्रायणी शाखा, (3) कठशाखा (4) कपिष्ठलकठ शाखा।

तैत्तिरीय शाखा—इस संहिता का दक्षिण में अत्यधिक प्रचार है, सुरक्षित सम्बद्ध साहित्य की दृष्टि से यह शाखा सर्वाधिक सम्पन्न है, क्योंकि इस शाखा ने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् श्रौतसूत्र आदि को पूर्णतः सुरक्षित बनाये रखा है। प्रस्तुत संहिता सात काण्ड, चौबालिस प्रपाठक तथा छः सौ इकत्तीस अनुवादों में विभक्त है। इसमें शुक्ल यजुर्वेद के समान ही राजसूय, बाजपेय, याजमान, पौरोडाश आदि यज्ञों का विशद् वर्णन मिलता है।

मैत्रायणी शाखा—कृष्ण यजुर्वेद की यह शाखा गद्य-पद्य उभयनात्मक है। इस संहिता में चार काण्ड हैं। पहले काण्ड में ग्यारह प्रपाठक, दूसरे काण्ड

तेरह, तीसरे काण्ड में सोलह तथा चौथे काण्ड में चौदह प्रपाठक हैं। प्रथम प्रपाठक में दर्श, पूर्णमास अध्वर, आधान पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय यज्ञ का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में काव्य, दृष्टि, राजसूय आदि का वर्णन है। तृतीय काण्ड मे अग्निचिति, अध्वर, विधि सौत्रामणी के अनन्तर अश्वमेघ यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ काण्ड खिल काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें राजसूय आदि यज्ञों का वर्णन है। इस सम्पूर्ण संहिता में 2144 मन्त्र हैं जिनमें से ऋग्वेदीय ऋचाओं की संख्या 1701 है।

कठ संहिता—पतंजलि के भाष्य की **"ग्रामे ग्रामे कलापकं काठकं ल प्रोच्यते"** की पंक्ति से प्राचीन काल में इस शाखा के प्रचार का अनुमान किया जा सकता है। इस संहिता में पाँच खण्ड हैं, जो क्रमश: (i) इठिमिका, (ii) मध्यमिका, (iii) ओरमिका, (iv) नाज्यानुवाक्य, (v) अश्वमेधाद्यनुवचन। इसी विभाग के उपरान्त भी [इस शाखा में स्थानक अनुवचन, अनुवाक्य तथा मन्त्र नामक विभाग मिलता है। तदनुसार इस शाखा में चालीस कथानक, एक सौ तेरह अनुवचन, आठ सौ तेतालीस अनुवाक्य तथा 3091 मन्त्र हैं। प्रस्तुत शाखा में समग्र रूप से दर्श, पोर्णमास, अग्नि होत्र, अधान काम्नइष्टि, निरुड़, पशुबन्ध, बाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, चातुर्मास्य, सौत्रामणी और अश्वमेधादि यज्ञों का वर्णन है।

कपिष्ठल कठ शाखा—चरणव्यूह के अनुसार चरक शाखा के अन्तर्गत ही इस शाखा का उल्लेख मिलता है। कपिष्ठल एक ऋषि-विशेष हैं जिनका पाणिनी ने अपने अष्टाध्यायी नामक व्याकरण ग्रंथ में **"कपिष्ठलो गोत्रे"** 8।3।91 सूत्र में स्मरण किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने को **'अहं च कपिष्ठलो वाशिष्ठं"** कहा है। प्रस्तुत शाखा जीर्ण-शीर्ण रूप से अधूरी उपलब्ध हुई है। यह संहिता काठक संहिता से पर्याप्त भिन्न है, यद्यपि मूल ग्रन्थ काठक शाखा के समान ही है; परन्तु स्वरांकन पद्धति ऋग्वेद से मिलती है। यह ऋग्वेद के समान ही अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इस संहिता के प्रथम अष्टक में आठ अध्याय हैं। द्वितीय-तृतीय अष्टक खण्डितावस्था में प्राप्त हुए हैं। चौथे-पाँचवें अष्टक में मन्त्र यत्र-तत्र खण्डित ही हैं। कुल मिलाकर कहने का आशय यही है कि प्रस्तुत शाखा जीर्ण-शीर्ण रूप में ही प्राप्त है।

कृष्ण यजुर्वेद की चारों संहिताओं में केवल स्वरूप की ही नहीं अपितु

वर्णित विषय-वस्तु में भी पर्याप्त समानता है और यह होना भी चाहिए; क्योंकि विभिन्न शाखाओं का मूलभूत वेद तो एक ही है।

प्रो० विन्टरनिट्ज यजुर्वेद के असंख्य विधि-विधानों को सर्वथा अर्थहीन मानते हैं। यह भी लिखते हैं कि यजुर्वेदोल्लिखित यज्ञ विधियाँ केवल अर्थ-हीन शब्दों का समूह है। परस्पर सम्बन्ध-रहित वस्तुओं का समन्वय है। इन्हीं सम्बन्ध-रहित विषयों से यह वेद भरा हुआ है। इसी प्रकार के कुछ विचार लिनोपोल्ड वन श्रोदर भी लिखता है—

We may indeed often doubt-whether these are the Productions of intelligent people and in this connection, it is very interesting to observe that these bare and monotonous variation of one and the same idea are particularly characteristics of the writings of persons in the stage of imbecility.

हमें इस विषय में सन्देह होना स्वाभाविक है कि ये रचनाएँ किसी बुद्धिमान व्यक्ति की हैं। इस सम्बन्ध में अन्वेषण करना अत्यन्त मनोरंजक लगता है कि एक ही प्रकार के विचार होने पर शून्य, तुल्यभेद और बुद्धिहीनता की स्थिति में भी उन लेखकों की कला में एक विशेष चमत्कारपूर्ण गुण था। यही नहीं, वह इसके बाद उन्मत्त पुरुषों द्वारा लिखे हुए लेखों के कुछ उद्धरण भी देता है जो कि बहुत कुछ अंशों में यजुर्वेद की रचनाओं से समानता रखते हैं; किन्तु हाँ, मेरे विचार से उनकी इस आलोचना का अभिप्राय पुरोहितों की उस मनः कल्पना से है जो असंख्य यज्ञ के विधि-विधानों को असीम अभिचार मन्त्रों एवं विधियों द्वारा स्वयं सम्पादित करते हैं।

यजुर्वेदीय धार्मिक दृष्टिकोण ऋग्वेद से भिन्न नहीं है; फिर भी इस वेद में देवताओं के स्वरूप में कुछ परिवर्तन मिलता है; उदाहरणार्थ—प्रजापति को जहाँ ऋग्वेद में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, वहाँ इस वेद में उसकी एक प्रधान देवता के रूप में प्रतिष्ठा हो जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद के रुद्र ने यजुर्वेद में शिव, शंकर एवं महादेव का अभिधान ग्रहण कर लिया है। इस वेद में असुरों का प्रयोग भी राक्षसादि के लिए हुआ है। ऋग्वेद की भाँति देव या शक्तिशाली व्यक्तित्व के लिए नहीं। ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में अप्सराएँ महत्त्व प्राप्त हैं। विष्णु भी इस वेद ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक

महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हो गये हैं। ऋग्वेद में सूर्य पूजा का नाम नहीं है जबकि यजुर्वेद में यह धर्म का प्रधान अङ्ग बन जाती है। ऋग्वेद में देवता ही आराध्य है परन्तु यजुर्वेद में देवता पूजा से दूर याज्ञिक क्रिया-काण्ड में निरत हो जाते हैं।

यजुर्वेद में कुछ आध्यात्मिक प्रहेलिकाएँ भी उपलब्ध हैं। वाजसनेयी संहिता के तेईसवें अध्याय में ऐसी प्रहेलिकाओं की एक विशाल संख्या दृष्टिगोचर होती है जो उस काल में धर्म के एक अङ्ग की रचना करती थी। इसमें देवताओं को प्रभावित एवं प्रसन्न करने की उत्कृष्ट भावना के दर्शन होते हैं जिससे परवर्ती काल में विकसित होकर देवताओं के विविध नामान्तर एवं उपाधि भेद को जन्म दिया है। 'विष्णुसहस्रानामा' एवं 'विश्वसहस्र नाम' आदि स्तोत्र इसी एकान्त देवतानिष्ठा के परिणाम कहे जा सकते हैं।

प्रो० विन्टरनिट्ज स्वाहा, स्वधा एवं वषट् जैसे तान्त्रिक शब्द प्रयोगों का बुद्धिहीन उच्चारण मानते हैं; परन्तु भारतीय परम्परा में इन शब्दों का विनियोग चिरकाल से विविध एवं विशिष्ट अर्थों में होता आया है जिसका भारतीय दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति ही वास्तविक मूल्यांकन कर सकता है।

यजुर्वेद का मूल्यांकन करते समय हम कह सकते हैं कि साहित्यिक दृष्टि से जो कुछ इसका महत्त्व है, वह तो है ही; किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के निगूढ़ दार्शनिक तत्त्व एवं उपनिषदों के रहस्य के परिज्ञान के लिए तथा भारतीय धर्म शास्त्र, साधारण धर्मशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भी वह वेद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जो भारतीय धर्मशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र का अध्ययन करना चाहता है, उसके लिए ये संहिताएँ अपरिहार्य हैं। श्री पाण्डेय एवं जोशी अपने वैदिक साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—"यजुर्वेद संहिता में प्राप्त होने वाली ये रचनाएँ चाहे कितनी ही शून्य क्यों न हों, पाश्चात्य विद्वानों को चाहे कितनी ही अर्थहीन क्यों न लगती हों किन्तु जब उन्हें हम किसी साहित्य की रचनाओं के रूप में पढ़ते हैं तो वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। जो विद्यार्थी केवल भारतीय रूप में ही नहीं अपितु धर्म के सामान्य-विज्ञान के रूप में उनका अध्ययन करता है, वह भी उन्हें विशिष्ट उद्गम के रूप में माने बिना नहीं रह सकता और इस प्रकार ये रचनाएँ धर्म के विद्यार्थी के लिए रुचिकर प्रसाद रूप कही जा सकती हैं। कोई भी विद्यार्थी जो धर्म के इतिहास के

उद्गम का उसके विकास का और उसके महत्त्व का अन्वेषण करना चाह
है, उसे इसके माध्यम से विशिष्ट होना होगा तभी इनकी रस-माधुरी
आश्वादन प्राप्त होगा। धर्म के इतिहास की परम्परा में यह संहिता
विशाल इतिहास के अनेक रुचिकर अध्यायों में से एक विशिष्ट प्रकरण कह
जा सकती है। यजुर्वेद संहिता के ज्ञान के बिना हम ब्राह्मण ग्रन्थों के
छिपे हुए दार्शनिक तत्त्व को नहीं समझ सकते और उपनिषदों के ज्ञान के बि
हम भारतीय संस्कृति को नहीं समझ सकते तथा भारतीय संस्कृति के ज्ञान
बिना हम भारतीयता का स्वाभिमान नहीं रख सकते। इस प्रकार यजु
संहिता भारतीयों के अवान्तर कालीन धार्मिक और दार्शनिक विचार-परम्प
के ज्ञान के लिए आधारशिला कही जा सकती है और यह सर्वथा अ
रित्याज्य है।"[1]

प्रश्न—शुक्ल एवं कृष्ण यजुर्वेद के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट कीजिए

What is the significance of the terms Krishna and Suk as applied to Yaju. ——आ० वि० वि०

Or

Point out the difference between Sukla Yajurveda an Krishna Yajurveda and give a brief outline of the literature included in both of them.

Or

Describe origin of the two different school—the blac and the white of Yajurveda and their development und the term. ——'शाखा'

उत्तर—यजुर्वेद संहिता अध्वर्यु पुरोहितों की प्रार्थना पुस्तक है। यजु
शब्द की व्याख्याएँ आपाततः भले ही भिन्न प्रतीत हों; किन्तु वे साधारणतः ए
ही लक्षण की ओर उन्मुख हैं। **शेषेयजुः** शब्द का अभिप्राय ही यही है कि ऋ
एवं साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का ही अभिधान यजुर्वेद है। कहा जा
है—**"गद्यात्मको यजुः"** गद्यमय वैदिक रचना यजुर्वेद है। दूसरे शब्दों

1. वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० 107

"अनियताक्षरावसानो यजुः" नियम व नियमित अक्षरों की स्थिति से रहित यजुर्वेद है अर्थात् गद्य-पद्य मिश्रित रचना ही यजुर्वेद है। यजुर्वेद के विभाजन की दृष्टि से महाभाष्याकार पतंजलि नामक आचार्य ने यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा, "एकशतमध्वर्यु शाखा" का निदेश किया है। स्कन्दपुराण में एक सौ सात शाखाओं का उल्लेख मिलता है। मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ नौ शाखाओं का उल्लेख है। शौनक चरण व्यूह में 83 यजुर्वेद की शाखाओं का उल्लेख मिलता है; किन्तु दुर्भाग्यवश कराल काल के गाल में कवलित हो जाने के फलस्वरूप आज 5 या 6 शाखाएँ ही उपलब्ध होती हैं जिनमें छठी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में आधी मिलती है।

यजुर्वेद का एक अन्य विभाजन कृष्ण एवं शुक्ल के नाम से मिलता है। उपर्युक्त यजुर्वेद की 6 शाखाओं में से, (1) मैत्रायणी, (2) तैत्तिरीय, (3) काठक, (4) कपिष्ठल; ये चार कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत मानी जाती हैं। (1) वाजसनेयी संहिता एवं (2) कण्व संहिता शुक्ल यजुर्वेद की शाखाएँ हैं। प्रश्न यहाँ पर यह उठता है कि उपर्युक्त कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के विभाजन एवं अभिधान का आधार क्या है?

अध्ययन करने पर हमारे समक्ष अनेक विद्वानों के मतों के साथ-साथ एक आख्यानिका भी इस विभाजन से सम्बद्ध मिलती है। अन्य कारणों और आधारों के उल्लेख करने से पूर्व हम आख्यानिका का निर्देशन कर देना आवश्यक समझते हैं। प्रस्तुत कहानी साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलती है। पुराणों में इसका विशिष्ट रूप में उल्लेख मिलता है। महीधरकृत 'यजुर्वेद-भाष्य भूमिका' में भी इसका उल्लेख मिलता है। व्यास के शिष्य वैशम्पायन तथा उनके शिष्य याज्ञवल्क्य थे। एक दिन वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से क्रुद्ध हो उठे, गुरु ने अपने शिष्य को जो कुछ पढ़ाया है, उसे वमन कर देने को कहा अन्यथा गुरुजी शाप दे देंगे, शाप के भय से भीतयोगी याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुर्वेद का वमन कर दिया। गुरु वैशम्पायन के आदेश से उनके अवशिष्ट शिष्यों ने तैत्तिरीय का रूप धारण कर उस वान्त यजुष् का भक्षण किया; यही उद्वान्त ज्ञान तैत्तिरीय संहिता है। तैत्तिरीय संहिता अपनी सहयोगी, मैत्रायणी कपिष्ठल और काठक से अधिक सम्बद्ध है। ये चारों शाखाएँ एक दूसरी शाखा में परस्पर संश्लिष्ट हैं। तैत्तिरीय शाखा का एक नाम आपस्तम्ब शाखा या आपस्तम्ब

संहिता भी है। पाँचवीं शाखा को वाजसनेयी शाखा कहते हैं, याज्ञवल्क्य ने भी अपने मान और ज्ञान की रक्षा के लिए सूर्यदेव को तपस्या से सन्तुष्ट करके शुक्ल यजुर्वेद को प्राप्त किया। सूर्य ने अश्व का रूप धारण कर योगी को यह ज्ञान दिया था, अतः इस संहिता का नाम **वाजसनेयी संहिता** प्रसिद्ध हुआ। यही नहीं, यह ज्ञान मध्य दिन में दिया गया था अतः इस संहिता को **माध्यन्दिनी** शाखा भी कहते हैं तथा **सूर्य** का प्रकाश पड़ने के कारण शुक्ल नाम पड़ा। दूसरी ओर प्रकाशाभाव होने के कारण कृष्ण नाम हुआ। तित्तिरों ने ज्ञान का भक्षण किया था; अतः वह दूसरी संहिता तैत्तिरीय कहलाई। "वाजसनेयी संहिता से पाठक और माध्यन्दिन शाखाओं की दो धाराएँ निकलती हैं" और वे दोनों धाराएँ परस्पर एक-दूसरे से बहुत ही कम अंश में भिन्न हैं, ऐसा भी विद्वानों का मत है। यह तो रही आख्यानिका तथा तत्सम्बद्ध विभाजन और उनका नामकरण; किन्तु इस विभाजन के अन्य कुछ आधार भी मिलते हैं जिनका हम संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

विभिन्न स्थलों पर प्राप्त उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि वेद के दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे—(1) ब्रह्म सम्प्रदाय (2) आदित्य सम्प्रदाय। शतपथ ब्राह्मण में आदित्य सम्प्रदाय का यजुर्वेद शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है तथा आदित्य सम्प्रदाय का प्रतिनिधि यजुर्वेद है "**आदित्यनीमामिशुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते**" तो दूसरी ओर ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है; यह शुक्ल कृष्णात्व विभेद मूलतः यजुर्वेद के स्वरूपाधीन है। यजुर्वेद की विषयवस्तु का विश्लेषण करने पर हम उसमें वर्श, पौर्णमासादि अनुष्ठान एवं यज्ञ आदि के लिए आवश्यक मन्त्रों का ही संकलन पाते हैं। (1) यज्ञ एक शुभ कर्म है, शुभ वस्तुओं के लिए पवित्र वर्ण श्वेत का अभिधान यत्र-तत्र मिलता है, अतः इस संहिता का नाम शुक्ल यजुर्वेद है। (2) इस यजुर्वेद में ऋचाओं का व्यवस्थित संकलन है, इसलिए भी इसे शुक्ल अभिधान प्राप्त है। (3) इस संहिता में ब्राह्मणात्मक गद्य का सर्वथा अभाव है अर्थात् विषय के स्पष्टीकरण के लिए गद्यभाग का इसमें अभाव है। दूसरी ओर कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ सन्नियोजक ब्राह्मणों का भी सम्मिश्रण है अर्थात् मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्ण-यजु के कृष्ण अभिधान का कारण है। इस प्रकार इस संहिता में गद्य-पद्य, मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों का मिश्रण है। इसलिए डा० मंगलदेवजी ने लिखा है—

"ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं मन्त्र और ब्राह्मणों के भागों के सम्मिश्रण के कारण यजुर्वेद के एक भेद कृष्ण और इसके सम्मिश्रण से रहित होने के कारण दूसरे भेद को शुक्ल कहा जाने लगा है। दोनों में कृष्ण यजुर्वेद प्राचीन और शुक्ल यजुर्वेद नवीन समझा जाता है।"

जहाँ तक कृष्ण यजुर्वेद की सञ्ज्ञा का प्रश्न है, उसमें पर्याप्त मात्रा में अव्यवस्था-सी मिलती है जहाँ तक कि कहीं-कहीं काण्ड और प्रपाठक एक साथ ही वर्णित है और कहीं-कहीं अलग-अलग भी। यह तो पहले ही लिख चुके हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण का एकत्र मिश्रण ही यजुर्वेद के कृष्ण अभिधान का कारण है। तुलनात्मक अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि शुक्ल यजुर्वेद सुसम्पादित, व्यवस्थित एवं स्पष्ट है कि दूसरी ओर कृष्ण यजुर्वेद अधिकांश में असम्पादित अव्यवस्थित एवं अस्पष्ट। इस प्रकार का भी विद्वानों ने शुक्ल एवं कृष्ण शब्दों का व्याख्यान किया है।

एक भारतीय विद्वान् का तो यह भी मत है कि रावण कृत वेदभाष्य जिस यजुर्वेद में समाविष्ट हो गया है वह यजुर्वेद ही कृष्ण यजुर्वेद है और मीमांसक यज्ञ के आधार पर भी इस विभाजन को मानते हैं।

श्री मेकडोनल (Macdonell) महोदय ने लिखा है कि कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद का भेद इसलिए है कि शुक्ल यजुर्वेद स्पष्ट है, विषय की दृष्टि से निर्मल है, पाठक की बुद्धि को चमत्कृत कर आकर्षित करता है, फलतः वह शुक्ल यजु के नाम से अभिहित किया जाता है; किन्तु इसके विपरीत कृष्ण यजुर्वेद विषय साङ्कर्य, गद्य-पद्य तथा मन्त्र ब्राह्मण की उभयात्मक प्रवृत्ति के कारण पाठक की बुद्धि को व्यमोहित कर उसे कुण्ठित बना देता है; अतः वह कृष्ण यजुर्वेद है।

डा० मंगलदेवजी ने इस विषय पर एक अपना विशिष्ट मत दिया है, वह भी विशेष रूप से दर्शनीय है—

'हमारे मत में एक और कारण भी हो सकता है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं का विस्तार प्रायेण दक्षिण भारत में और शुक्ल यजुर्वेद का उत्तर भारत तथा मनु के आर्यावर्त्त में है। स्वभावतः कृष्ण यजुर्वेद के साहित्य पर जितना प्रभाव वैदिकेतर धारा का है, उतना शुक्ल यजुर्वेदीय साहित्य पर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण यजुर्वेद की उक्त प्रवृत्ति के विरोध में 'शुद्ध' वैदिक धारा के पक्षपात या अभिनिवेश के कारण ही शुक्ल यजुर्वेद का प्रारम्भ हुआ होगा, बहुत कुछ उसी तरह जिस तरह वर्तमान काल में समन्व-

यात्मक पौराणिक धर्म के विरोध में आर्यसमाज का प्रारम्भ हुआ । शुद्ध धारा के कारण ही कदाचित् 'शुक्ल' और 'कृष्ण' का प्रचलन होने लगा ।" वैदिकेतर धारा को अधिक स्पष्ट करने के लिए डाक्टर साहब एक मन्त्र का उद्धरण भी देते हैं, वह इस प्रकार है—

> गिरिसुताय धीमहि । तन्नो गौरी प्रचोदयात् ।
> तत्कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय धीमहि ।
> तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात ॥
>
> (मैत्रायणी संहिता 2.9.1 तथा काठक संहिता 17.11)

यहाँ कार्तिकेय, स्कन्द और गौरी इन पौराणिक देवी-देवों का उल्लेख स्पष्टतः वैदिकेतर धारा के प्रभाव का द्योतक है ।

अन्त में हम पाश्चात्य आलोचक प्रवर इतिहासकार विन्टरनिट्ज के विचारों के उद्धरण के साथ ही इस प्रश्न को समाप्त करते हैं । उनका कहना है—हो सकता है कि यह विभाजन पुरोहित के लिए महत्त्वपूर्ण हो किन्तु वर्तमान समय में इस विभाजन का कोई महत्त्व नहीं है । इस वेद की कृष्ण तैत्तिरीय संहिता की अपेक्षा शुक्ल वाजसनेयी संहिता का प्रचुर प्रचार है ।

प्रश्न – वैदिक कर्मकाण्डीय संहिता की विषय-सामग्री का निरूपण कीजिए।

Discuss the nature of the subject-matter of the liturgical Vedic Samhitas.

उत्तर —वैदिक धर्म में यज्ञों को जो महत्त्व प्राप्त है, वह अन्य किसी कार्य को नहीं । वेदों की पूर्णतः प्रवृत्ति एवं उनका अवसान यज्ञों में जाकर ही होता है । यही कारण है कि यहाँ के प्रत्येक सुखद एवं दुःखद कार्य में वेदों की ऋचाओं के माध्यम से यज्ञ अवश्य ही किया जाता है । भारतीय संस्कृति में गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक के सभी कार्यों में यज्ञों का आवश्यक विधान है । यहाँ किसी भी प्रकार का प्रसन्नतादायक समारोह, उत्सव आदि कुछ भी हो, उसमें यज्ञ का होना परमावश्यक समझा जाता था । इसीलिए यहाँ के जीवन में कर्मकाण्ड एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । जहाँ तक यज्ञ का प्रश्न है, प्रत्येक वेद में यज्ञ का महत्त्व स्वीकार किया गया है । अथर्ववेद में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में यज्ञ को विश्व की नाभि कहा गया—"अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।" ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है—संसार की उत्पत्ति ही

व से हुई है वही संसार का प्रथम धर्म भी था —"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।" यजुर्वेद में भी सर्वश्रेष्ठ यज्ञ को माना है, यज्ञ को ही प्रजापति व विष्णु माना है—"यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म प्रजापतिर्वै यज्ञः, विस्णु वै यज्ञः।" आशय यही है कि वैदिक धर्म एवं वैदिक संस्कृति में यज्ञ का प्रमुख स्थान है।

आचार्य सायण ही नहीं अपितु अन्य सभी वैदिक आचार्यों ने वेद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय यज्ञ को माना है। सायण ने तो इसी कारण वेदों का अर्थ ही कर्मकाण्डपरक दिया है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि यज्ञ क्रियाओं के सुव्यवस्थित रूप में सम्पादन के लिए ही ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व संहिताओं का संकलन हुआ है। वैदिक यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा ये चार ऋत्विज प्रमुख रूप से होते हैं। यज्ञ के अवसर पर देवता-विशेष की प्रशंसा में मन्त्रों का सविधि उच्चारण करते हुए देवता आह्वान करने वाला होता नामक ऋत्विज होता है। होता के लिए अभीष्ट मन्त्रों का संकलन ऋग्वेद में है। यजुर्वेद संहिता का सङ्कलन अध्वर्यु नामक ऋत्विज के प्रयोग के लिए हुआ है। अध्वर्यु का कार्य है, यज्ञों को विधिवत् सम्पादित करना। सामवेद संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए हुआ है। उद्गाता का कार्य है कि वह यज्ञों में आवश्यक मन्त्रों को स्वर सहित उच्च गति से गान करे। यज्ञ में होने वाले विघ्नों के निवारण के लिए अथर्वसंहिता का निर्माण हुआ है। इस संहिता के मन्त्र यज्ञ संरक्षक ब्रह्म नामक ऋत्विज के लिए हैं। विशेषतः ब्रह्मा नामक ऋत्विज का कार्य यज्ञ का निरीक्षण करना है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वैदिक संहिता का प्रमुख विषय यज्ञ एवं कर्मकाण्ड ही है। तथापि एक बात विशेष रूप से स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों के संग्रह का उद्देश्य केवल कर्मकाण्ड ही न था अपितु उनके पीछे साहित्यिक सौन्दर्य व अन्य तत्त्व भी थे; परन्तु साम तथा यजुर्वेद में मन्त्रों का संग्रह व्यावहारिक दृष्टि से ही किया गया था जिनमें यज्ञ एवं कर्मकाड का प्राधान्य था। इसीलिए कर्मकाण्ड का विशिष्ट प्रतिपादन यजुर्वेद में हुआ है। डा० मंगलदेवजी ने इस वेद के विषय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है –

"यजुर्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रिया से है, यह तो उसके नाम से ही स्पष्ट है। 'यजुष्' और 'यज्ञ' दोनों शब्द 'देव पूजा संगति कारण दानेषु"

इस धातु से निकलते हैं। निरुक्तकार यास्क ने भी कहा है— **यजुभिर्यजन्ति** 13।7 तथा '**यजुर्यजते**' 7।12। यजुर्वेद संहिता का याज्ञिक कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही सिद्धान्त यजुर्वेद के शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का तथा प्राचीन भाष्यकारों का है।"[1] इस वेद का संग्रह कर्मकाण्डपरक धर्म की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए हुआ था। ह्विटने ने लिखा है, "प्रारम्भिक वैदिक काल में यज्ञ अभी तक बन्धनरहित भक्तिपरक कर्म था, जो किसी विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहित वर्ग के सुपुर्द नहीं था, न उसके छोटे-छोटे ब्यौरे के लिए कोई नियम बनाये गये थे, यज्ञकर्ता यजमान की ही स्वतन्त्र भावना के ऊपर आश्रित होते थे और उनमें ऋग्वेद तथा सामवेद के ही मन्त्रों का उच्चारण रहता था जिससे कि यजमान का मुख, हाथों से देवताओं के निमित्त हृदय की भावना से प्रेरित होकर आहुति देते समय बन्द न रहे।...ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, कर्मकाण्ड ने भी अधिकाधिक औपचारिक रूप धारण कर लिया और अन्त में एक सर्वथा निर्दिष्ट एवं सूक्ष्म रूप में यजमान के क्षण-क्षण के व्यापार को प्रकट करने वाले मन्त्र भी स्थिर कर दिये गये जो व्याख्या करने, क्षमा-प्रार्थना करने एवं आशीर्वाद देने के संकेत रूप में प्रयुक्त किए जाने लगे।.... ...इन यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों के संग्रह का नाम ही यजुर्वेद हुआ, जिसका 'यज्' धातु से 'यज्ञ करना' अर्थ होता है। ... यजुर्वेद की रचना इन्हीं मन्त्रों से हुई है, जो कुछ भाग में गद्य और कुछ भाग में पद्य के रूप में है और जिन्हें भिन्न-भिन्न यज्ञों में उपयुक्त होने योग्य क्रम में रखा गया है।[2]

यदि हम यजुर्वेद की विषय-सामग्री का परीक्षण करें तो हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वह केवल यज्ञ एवं कर्मकाण्ड की गाथा का ही गायक है। यजुर्वेद का शुक्ल भाग तो कर्मकाण्ड का मानो आगार है। बलदेव उपाध्याय के वैदिक साहित्य और संस्कृति नामक ग्रन्थ में लिखा है 'यजुर्वेद में मुख्य रूपेण वैदिक कर्मकाण्ड का प्रतिपादन है। इसलिए इनकी संहिताएँ Liturgical Vedic Samhita के नाम से विख्यात हैं।'[3] वास्तव में विद्वान लेखक का कथन ठीक है क्योंकि वाजसनेयी संहिता में चालीस अध्याय हैं। इसमें प्रथम 25 अध्यायों में बड़े-बड़े यज्ञों से सम्बन्धित

---

1. भारतीय संस्कृति का विकास
2. डा० राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन 58 से उद्धृत।
3. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 182।

मन्त्र हैं जिनमें यांत्रिक क्रियाओं का निर्देश है। यज्ञों का वर्णन है। इनमें से प्रथम व द्वितीय अध्याय में दर्शपौर्णमासेष्टिनामक यज्ञपरक मन्त्र हैं। इन्हीं मन्त्रों में पिण्डप्रितृयक्ष-परक मन्त्र भी हैं। तृतीय अध्याय में दैनिक यज्ञ तथा चातुर्मास्य यज्ञ से सम्बद्ध मन्त्र हैं। चौथे से आठवें अध्याय में सोमयाग तथा पशुवलि सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं के प्रेरक मन्त्र हैं। वाजपेय, राजसूय यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्र नौवें तथा दसवें अध्याय में हैं। ग्यारहवें से लेकर अठारहवें अध्याय तक सौत्रामणी नामक विशाल यज्ञ तथा तत्सम्बद्ध विभिन्न क्रियाओं का वर्णन है। बाईस से लेकर पच्चीसवें अध्याय में अश्वमेध यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। 25 से लेकर 40 तक के अध्याय अर्वाचीन हैं किन्तु उनमें भी यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र ही हैं। हाँ केवल चालीसवें अध्याय का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से न होकर ज्ञानकाण्ड से है इसलिए इस अध्याय को ईशोपनिषद् कहते हैं।

यजुर्वेदीय अन्य शाखाओं में भी यज्ञों का विस्तार से वर्णन है। शुक्ल यजुर्वेद के अध्ययन से कृष्ण यजुर्वेद की विषय-सामग्री का अधिकांश परिचय मिल जाता है। इसका आशय यही है कि कृष्ण यजुर्वेद में भी शुक्ल यजुर्वेद की तरह ही यज्ञों का, वैदिक कर्मकाण्ड का सर्वाङ्गीण विवेचन है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा में शुक्ल यजुर्वेद के समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय राजसूय आदि अनेक यज्ञानुष्ठानों की विधियाँ हैं। इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता में भी दर्श पूर्णमास, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय यज्ञों का वर्णन है। कंठ संहिता की भी विषय-सामग्री कर्मकाण्डीय ही है जिनमें पुरोडाश, अध्वर, पशुबन्ध, वाजपेय राजसूय, प्रायश्चित, सौत्रामणी, काम्य, इष्टि, अग्निचयन अश्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है। बल्देव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है कि "कृष्ण यजुर्वेद की चारों मन्त्र संहिताओं में केवल स्वरूप की ही एकता नहीं है, प्रत्युत उनमें वर्णित अनुष्ठानों तथा तन्निष्पादक मन्त्रों में भी अधिक साम्य है।" आशय यही है कि शुक्ल एवं कृष्ण यजुर्वेद कर्मकाण्डीय विषय-सामग्री का उपास्थापन करने के कारण कर्मकाण्डपरक वेद हैं। इस वेद में केवल यज्ञ ही नहीं, यज्ञ की वेदी, पात्र, आसन समिधा, हविष्य आदि उपकरणों का भी सर्वाङ्गीण विवरण मिलता है जिसका निर्देश हम यजुर्वेद के परिचय में कर चुके हैं। वस्तुतः यह कर्मकाण्डीय वेद हैं। इसीलिए डा० मंगलदेवजी ने भारतीय संस्कृति का विकास

नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ऋग्वेद संहिता के विपरीत यजुर्वेद संहिता का क्रम विशिष्ट याज्ञिक कर्मकाण्ड के क्रम को लक्ष्य में रखकर ही निर्धारित किया गया है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि वैदिक ऋषियों ने भारतीय धर्मप्राण जनता के लिए कर्मकाण्ड एवं यज्ञ को आवश्यक एवं अपरिहार्य कर्त्तव्य माना था; इसीलिए उन यज्ञों को व्यवस्थित रूप में सम्पादन के लिए वैदिक संहिताओं का सृजन अथवा दर्शन किया था। चारों ही वैदिक संहिताओं में यद्यपि कर्मकाण्डीय तत्त्वों का सन्निवेश है; किन्तु प्राधान्येन यजुर्वेद संहिता में विशद् विवेचन किया गया है। वैदिक संहिताओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान इसी संहिता को दिया गया है। डा० मंगलदेव जी ने लिखा है कि "समस्त वैदिक साहित्य में यजुर्वेद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मनुष्य जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म और उपासना तीन सीढ़ियाँ हैं। इनमें कर्म की सीढ़ी या कर्मकाण्ड का प्रतिपादन विशेषत: यजुर्वेद ही करता है। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड में अन्य वेद भी अपना-अपना स्थान रखते हैं, तो भी उसका प्रधान आधार यजुर्वेद ही कहा जा सकता है। सुप्रसिद्ध वैदिक ग्रन्थ निरुक्त में ऋग्वेद आदि से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विजों का वर्णन करते हुए कहा है– "**यज्ञस्य मात्रां विमिमीत: एक:। अध्वर्यु:। अध्वर्युरध्वस्यु:। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्यनेता।**" (निरुक्त 1।8) इसका अभिप्राय यही है कि यज्ञ की सारी इतिकर्त्तव्यता को यजुर्वेद ही बतलाया है। इसीलिए यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विक् 'अध्वर्यु' को सारे 'यज्ञ का चलाने वाला' या 'यज्ञ का नेता' कहा जाता है।[1] इन्हीं सब कारणों से यजुर्वेद को कर्मकाण्डीय संहिता (Liturgical Vedic Samhita) कहा जाता है।

---

1. "आनुपूर्व्या कर्मणगां स्वरूपं यजुर्वेदे समाम्नातम्। तत्रतत्र विशेषापेक्षयामपेक्षिता याज्यापुरोनुवाक्यादय: ऋग्वेदे:, समाम्नायन्ते। स्तोत्रादीनि तु सामवेदे। तथा सतिभित्तिस्थानीयो यजुर्वेद, चित्रस्थानीयावितयौ। तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्।"

"सायणकृत कठ संहिता भाष्य की उपक्रमणिका।"

चतुर्थ अध्याय

अथर्ववेद

प्रश्न—अथर्ववेद के रचनाक्रम एवं वर्ण्य-विषय का सर्वाङ्गीण विवेचन कीजिए।

How do the contents of the Atharvaveda fit in with the ideology implied by the term 'Veda' ?

Or

प्रश्न—अथर्ववेद का रचना-काल बताइए।

उत्तर—भारतीय विश्वास के अनुरूप वर्तमान जीवन को सुखमय बनाने के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है, उन सभी की सिद्धि के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों का विधान अथर्ववेद में है। अथर्ववेद की रचना ब्रह्मा नामक यज्ञ के ऋत्विज के लिए हुई है। ब्रह्मा का प्रधान कार्य यज्ञ के अनेक विधानों का निरीक्षण तथा सम्भावित भूलों का परिमार्जन करना है। ऐतरेय ब्राह्मण का भी कहना है कि वचनों के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत करती है तो दूसरे पक्ष का संस्कार मन से ब्रह्मा करता है। आशय यही है कि यज्ञ के सर्वाङ्गीण संस्कार के लिए ही अथर्ववेद की रचना हुई है। पुरोहित को राज्य में सामाजिक, राजनैतिक शान्ति के लिए अथर्ववेद की जानकारी आवश्यक है।

अथर्ववेद का अर्थ है, अथर्वों का वेद अथवा अभिचार मन्त्रों का ज्ञान (The knowledge of magic formulae)। प्राचीन समय में अथर्वन् शब्द से पुरोहित का बोध होता था। प्रोफेसर विन्टरनिट्ज के अनुसार अथर्वन् काल इण्डो-ईरानियन काल से भी पूर्ववर्ती है। क्योंकि अवेस्ता के अथर्वन अथवा अग्नि पूजक भी भारतीय अथर्वन् ऋषियों के समकक्ष ही है। इन भारतीय प्राचीन पुरोहितों को कुछ समय बाद अभिचार का पुरोहित कहा जाने लगा

था। अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक नामों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिरो अथर्वाङ्गिरस वेद आदि नाम मुख्य हैं, किन्तु इनमें प्राचीनतम नाम अथर्वा रस है जिसका अर्थ अथर्वों और अंगिराओं का वेद। इस वेद के अनेक म अथर्वण अङ्गिरस ऋषियों के द्वारा देखे गये थे। इसीलिए इस वेद अथर्वाङ्गिरस कहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अथर्वण में रोग नाश सुखोत्पादक मन्त्र हैं जबकि अङ्गिरस में अभिचार—मारण, मोहन, उच्चा वशीकरण सम्बद्ध मन्त्र संगृहीत हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कह स हैं कि अथर्ववेद में रोग निवारक, शत्रु विनाशक अभिचार मन्त्र तथा शापों भी पर्याप्त वर्णन है।

पतंजलि ने अपने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में "नवधाऽऽथर्वणो वे लिखकर अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। किन्तु आज इन शाखाओं में से केवल दो शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं, जिनके नाम हैं (1) शौ (2) पिप्पलाद। इस वेद की शौनक शाखा में बीस काण्ड, सात सौ तीस सू तथा 6 हजार के लगभग मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में से लगभग 1800 म ऋग्वेद संहिता के हैं। यद्यपि पाठान्तर कहीं-कहीं मिल जाता है; किन्तु ऋ दीय मन्त्रों का ज्ञान हमें हो ही जाता है। क्योंकि अथर्ववेद का बीसवाँ का कुछ ही अंशों को छोड़कर पूर्णतः ऋग्वेद के मन्त्रों से निर्मित है। इस संहि का 18वाँ एवं 19वाँ काण्ड परवर्ती कहा जाता है। यदि हम कहें कि अथ वेद का अंश ऋग्वेद से गृहीत है तो अनुपयुक्त न होगा। यही नहीं, अथर्व की आधी ऋचाएँ ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती-जुलती हैं। ऋग्वेद से हुई ऋचायें पहले, आठवें और दशवें मण्डल की हैं। अथर्ववेद के प्रथम काण्डों में छोटे-छोटे सूक्त मिलते हैं। द्वितीय काण्ड के प्रत्येक सूक्त में नियम चार-चार ऋचाएँ मिलती हैं। द्वितीय काण्ड के प्रत्येक सूक्त में 5, तृतीय 6-6, चतुर्थ में 7-7 ऋचाएँ मिलती हैं। पाँचवें काण्ड के सूक्तों में कम कम आठ और अधिकतः 18 ऋचाएँ मिलती हैं। छठे काण्ड में 142 सू हैं जिनके प्रत्येक सूक्त में कम से कम तीन-तीन ऋचाएँ हैं। सातवें काण्ड 118 सूक्त हैं जिनमें अधिकांश सूक्त एक-एक, दो-दो ऋचाओं वाले हैं। आठ काण्ड से लेकर चौवहवें काण्ड तक तथा सत्रहवें और अठारहवें काण्ड में बड़े सूक्त हैं जिनमें सबसे छोटे सूक्त में 21 ऋचाएँ तथा सबसे बड़े सूक्त में ऋचाएँ। 15वाँ एवं 16वाँ काण्ड ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति गद्यमय है। उपर्यु

निर्दिष्ट सूक्तों के क्रम निर्धारण में एक विशेषता यह है कि समान विषयक सूक्तों की योजना आस-पास की गई है। इन सूक्तों को हम तीन वर्गों में विषय-वस्तु के आधार पर रख सकते हैं।

प्रथम वर्ग—इस काण्ड से लेकर 7वें काण्ड तक विभिन्न विषयों के छोटे-छोटे सूक्त हैं—

द्वितीय वर्ग—आठवें काण्ड से लेकर 12वें काण्ड तक—इसमें विभिन्न विषयों के बड़े-बड़े सूक्त हैं। इन्हीं में से 12वें काण्ड के आरम्भ में पृथ्वी सूक्त जिसमें राजनीतिक तथा भौगोलिक भव्य-भावना का अंकन है।

तृतीय वर्ग—तेरहवें काण्ड से अठारहवें काण्ड तक इस वर्ग में विषय की कता परिलक्षित होती है। तेरहवाँ काण्ड आध्यात्म भावना से भरा हुआ है। चौदहवें काण्ड में केवल दो लम्बे सूक्त हैं जिनमें विवाह-संस्कार का प्राधान्येन वर्णन है। पन्द्रहवाँ काण्ड व्रात्यकाण्ड है जिनमें व्रात्य के यज्ञ सम्पादन का आध्यात्मिक वर्णन है। सोलहवाँ काण्ड दुःस्वप्न नाशक नामक मन्त्रों का सुन्दर-म संग्रह है। सत्रहवें काण्ड का अन्यतम सूक्त 'अभ्युदय के लिए भव्य प्रार्थना भरा हुआ है। 'अठारहवाँ काण्ड श्राद्धकाण्ड है जिसमें पितृमेध यज्ञ सम्बन्धी त्रों का सुन्दरतम संग्रह है अन्तिम दो काण्ड तीनों वर्गों में नहीं आते हैं सीलिए वे खिलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि मूलग्रन्थ रचना के उपरान्त जोड़े गये हैं। 19वें काण्ड में 72 सूक्त तथा 53 मन्त्र हैं। इनमें भेषज्य, राष्ट्रवृद्धि तथा आध्यात्म विषयक मन्त्र हैं। अन्तिम 20वें काण्ड में मन्त्र संख्या 998 है जो कि विशेषतः सोमयाग-परक तथा ऋग्वेद से गृहीत हैं।

अथर्ववेद की विषय-सामग्री का यदि हम समष्टि-दृष्टि से विवेचन करें तो म कह सकते हैं कि अथर्ववेद में चित्रित संस्कृति मानव समाज के उदय काल सम्बन्ध रखती है जिसमें तत्कालीन मानव भावनाएँ, क्रियाएँ, अनुष्ठान था विश्वासों का समग्र चित्रण विद्यमान है। इस वेद की शत्रु विजय, रोग-निवारण, भूत-प्रेत विनाश, जादू-टोना आदि से सम्बद्ध समस्त भावभूमि अपनी ता नहीं रखती है। अनेकानेक बीमारियों को दूर करने वाले मन्त्रों को देख र तो हम इसे आयुर्वेद का प्राचीनतम ग्रन्थ भी कह सकते हैं। अब हम मशः इसकी विषय-वस्तु का विशद् विवेचन करेंगे।

अथर्ववेद की समग्र विषय-सामग्री को हम तीन विशिष्ट वर्गों में रख सकते हैं—(1) आध्यात्मिक विषयक सामग्री इसमें ब्रह्म, परमात्मा एवं चतुरा श्रम एवं वर्णों का विवेचन लिया जा सकता है। (2) अधिभूत प्रकरण में राज राज्यशासन, संग्राम, शत्रु वाहन आदि विषयों को ले सकते हैं। (3) अधिदेव वर्ग में अनेक देवता, यज्ञ तथा काल आदि के विषय की सामग्री रख सकते हैं विशेषतः इस वेद में आयुर्वेदीय मन्त्र हैं, जिन्हें **भैषज्यानि सूक्त** कहते हैं। दूस दीर्घ आयु की कामना-विषयक मन्त्र हैं. जिन्हें **आयुस्यानि सूक्त** कहा जाता है तीसरे प्रकार के वे मन्त्र हैं जिनमें हल, कृषि आदि से सम्बद्ध भावनाएं उन्हें **पौष्टिकानि सूक्त** कहा जाता है। चौथे प्रकार के वे मन्त्र हैं, जिनमें प्रा श्चितादि का विचार किया गया है। पाँचवें प्रकार के विवाह एवं प्रेम-विषय मन्त्र हैं। राजाओं से सम्बद्ध मन्त्रों को **राजकर्माणि** कहा गया है। वे भी इ वेद में पर्याप्त हैं। पृथ्वी का मनोरम वर्णन एवं उदात्त भावनाएँ भूमि सूक्त तथा आत्मा-परमात्मा एवं दार्शनिक विचारों को **ब्रह्मण्यानि** सूक्तों के अन्तर समाहित किया गया है। अनेक स्फुट विषयों पर भी अनेक सूक्त मि जाते हैं।

भैषज्यानि सूक्त—अथर्ववेद के लिए बहुत बड़े अंश में रोगों की चिकित्स से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र हैं। ये मन्त्ररोग को देवता मानकर अथवा रोग के कारणभूत असुरों को लक्ष्य करके कहे गये हैं। आज भी जनसामान्य की आस्थाओं में असुरों का प्रभाव रोगों पर स्वीकार किया जाता है। कुछ मन्त्र औषधि की, कुछ औषधिलता की और कुछ जल की प्रशंसा करते हैं। कौशि सूत्र में मन्त्रों की सहायता से किये जाने वाले जादू-टोनों का विशेष वर्ण है। रोगों के लक्षण तथा उनके कारण उत्पन्न शारीरिक बिकारों का वि वर्णन यहाँ पर मिलता है। अतः ये औषधिशास्त्र के इतिहास की दृष्टि महत्त्वपूर्ण हैं। ज्वर के विषय में अनेक मन्त्र दिये गये हैं। इनमें तक्म Takm नामक ज्वर को असुर के समान वर्णित किया है। यह ज्वर मनुष्यों को पी बना देता है तथा आग के समान तीव्र ज्वाला से लोगों को भस्मीभूत कर दे है। इसीलिए तन्त्रों में ज्वर से प्रार्थना की गई है कि वह कहीं अन्यत्र गा हो जाय। अच्छा हो कि वह मूंजवत् वह्लिक तथा महावृष नामक सुदूर प्रा में चला जाए। इसी प्रकार कास, गंडमाला, यक्ष्मा, दन्तपीड़ा आदि रोगों त उनकी औषधि का वर्णन सुन्दर चित्रोपम भाषा में किया गया है। ये

गीतिकाव्य की दृष्टि से सुन्दरतम हैं। डाक्टर विन्टरनिट्ज अथर्ववेद में उल्लिखित भावनाओं की तुलना जर्मन के जादू के गीतों से करते हैं। वे केवल गीतों में ही साम्य प्रतिपादित नहीं करते हैं, अपितु विभिन्न कीटाणुओं, रोगों के कारण पिशाच एव राक्षसों के विचारों में भी समता प्रतिपादित करते हैं। भारत में जिन्हें गन्धर्व व अप्सरा कहा गया है, वे जर्मन में Spirits and Ewes and Fairies हैं। नदी व वन उनके घर हैं। अथर्व की तरह जर्मन गीतों में भी इन्हें घर छोड़कर पेड़ व नदी पर रहने के लिए बाध्य किया जाता था। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में कीटाणुओं का सर्वाङ्गीण विवेचन है जो कि हमारी अन्तड़ी, सिर, पसली, आंख, नाक, कान, दांतों के संधिस्थल, पर्वतों, जंगलों, पेड़-पौधों, जानवरों के शरीरों जल आदि में रहते हैं। अथर्व में रोगों की संख्या 99 तक बताई गयी है। आशय यह है कि आयुर्वेद विषयक अथर्ववेद पर्याप्त विषय-सामग्री है।

आयुष्य सूक्त—अथर्ववेद में स्वास्थ्य एवं दीर्घ जीवन सम्बन्धी प्रार्थनाओं को आयुष्य सूक्त कहा गया है। आयुष्य सूक्त में प्राप्त होने वाले मन्त्रों का प्रयोग विशेषत: पारिवारिक उत्सवों में किया जाता है। जैसे शिशु के मुण्डन के समय; युवक के प्रथम क्षौरकर्म के समय; यज्ञोपवीत के समय। इन सूक्तों में सौ शरद ऋतु पर्यन्त जीने के लिए, अनेक विधि रोगों से मुक्ति के लिए पुनः प्रार्थनाएँ की गई हैं।

पौष्टिक सूक्त—पौष्टिक सूक्तों में गड़रिए, कृषक, व्यापारी अपनी-अपनी समृद्धि के लिए प्रार्थनाएँ करते हैं। यही नहीं, इन सूक्तों में मकान बनाने के लिए, हल जोतने के लिए, बोने के लिए, शस्य की उत्पत्ति एवं वृद्धि के लिए कीड़ों के नाश के लिए मन्त्र हैं तथा इसी प्रकार के अन्यान्य मन्त्र यहाँ पर मिलते हैं। इन सूक्तों में काव्यात्मकता की दृष्टि से वर्षागीत सुन्दरतम हैं।

शृङ्गार सूक्त—इन्हें प्रसाद भी कहा जाता है जो कि अथर्ववेद के चतुर्थकाण्ड में 23 सूक्त से 29 वें तक सात अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, द्यावा, पृथ्वी, मरुत, भव और शर्व, मित्र और वरुण देवों को लक्ष्य कर कथित है। सूक्तों में प्रसन्नता, आशीर्वाद, भय से सुरक्षा तथा बुराई से बचने के लिए प्रार्थनाएँ हैं।

प्रायश्चित सूक्त—इन सूक्तों में प्रायश्चित का विधान तथा विभिन्न अप-

राधों के निवारक मन्त्र भी हैं। विशेषतः इनमें पाप के लिए ही नहीं अपितु यज्ञ तथा उत्सवों में गलती हो जाने के लिए प्रायश्चित का विधान है। जाने या अनजाने का स्वीकार किया हुआ पाप, मानसिक पाप, ऋण न देना विशेषतः द्युत ऋण का न देना, नियम विरुद्ध विवाह आदि के लिए भी प्रायश्चित है। नक्षत्रों के कुप्रभाव को दूर करने के लिए भी मन्त्र हैं। अपशकुन एवं दुःस्वप्नों के अपसारण के लिए उनकी प्रार्थनाएँ की जाती हैं।

स्त्री कर्माणि—अथर्ववेद में विवाह एवं प्रेम का निर्देश करने वाले पति-पत्नी में अनुराग को विकसित करने की प्रार्थना सम्बन्धी मन्त्र भी हैं। इन्हें स्त्री कर्माणि या प्रेम सूक्त कहा जाता है। इन मन्त्रों में कुछ सामाजिक व शान्तिपूर्ण तत्वों से भरे हुए हैं। कुछ विवाह एवं शिशु प्राप्ति से सम्बन्धित हैं जो कि हानिरहित जादू मन्त्र हैं। इन मन्त्रों द्वारा वधू वर को वर वधू को प्राप्त करता है। वर-वधू के लिए शुभाकांक्षा है। गर्भिणी, भ्रूण, नवजात की रक्षार्थ भव्य प्रार्थनाएँ हैं। विशेषतः 14वाँ काण्ड इन्हीं भावनाओं से आपूर्ण है। अथर्ववेद में कुछ इस प्रकार के मन्त्र भी हैं जिनमें सपत्नीक को वश में करने के लिए जादू-टोना का सहारा लिया जाता है। ये मन्त्र वस्तुतः अंगिरा वर्ग के हैं। इनमें इन्द्रजाल और अभिशाप, वशीकरण आदि के मन्त्र हैं। अतः इन्हें अभिचार सूक्त भी कहा जाता है।

राजकर्माणि सूक्त—अथर्ववेद में कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जिनमें राजाओं का वर्णन है, जिनके अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का चित्र मिल जाता है। इन मन्त्रों में शत्रु विजय के लिए प्रार्थनाएँ हैं। अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन है राजपुरोहित का उल्लेख है। राजा के निर्वाचन का भी यही संकेत, मिलता है, जिनमें वरुण स्वयं आता है। दुन्दुभी सूक्त सुन्दरतम एक सूक्त है। अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त भूमि विषयक सुन्दरतम एक सूक्त है। इसके विषय में बल्देव उपाध्याय लिखते हैं—

"भाषा तथा भाव की दृष्टि से नितान्त उदात्त भाव प्रवण तथा सरस है। पृथ्वी की महिमा का यह वर्णन स्वातंत्र्य के प्रेमी तथा स्वच्छन्दता के रसिक आथर्वण ऋषि का हृदयोद्गार है। इस शैली का प्रौढ़ काव्य, उच्च कल्पना तथा भव्य भावुकता वैदिक साहित्य में भी अन्यत्र दुर्लभ है। इस सूक्त में आथर्वण ऋषि से 63 मन्त्रों में मातृत्वरूपिणी भूमि की समग्र पार्थिव पदार्थों

की जननी तथा पोषिका के रूप में महिमा उद्घोषित की है तथा प्रजा को समस्त बुराइयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने तथा सुख-सम्पत्ति की वृद्धि के लिए प्रार्थना की हैं। इस सूक्त में मातृभूमि की बड़ी ही मनोरम कल्पना की गई है। मातृभूमि का रुचिर वर्णन देशभक्ति की प्रेरणा का मधुर विलास है 'मातृभूमि' एक सजीव रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होती है—

'मातृभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (12।1।12) अर्थात् मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ, बड़ी ही उदात्त भावना का प्रेरक मन्त्र है।''[1]

याज्ञिक सूक्त—अथर्ववेद के अन्तिम भाग में कुछ यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र भी हैं। पहले यह वेद वेदत्रयी के अन्तर्गत न था। हो सकता है, कर्मकाण्डीय भारत भू के ऋषियों ने अभाव में इसे वेद ही स्वीकार न किया हो। अतः इस अभाव को दूर करने के लिए इस प्रकार के मन्त्रों का दर्शन किया गया हो। ऋग्वेद के यज्ञपरक मन्त्रों के समान ही यहाँ भी कुछ मन्त्र मिल जाते हैं। विशेषतः दो आप्रीसूक्त ऋग्वेद के सदृश ही हैं। सोलहवें काण्ड का गद्यांश यजुर्वेद से मिलता-जुलता है, जिसमें जल की भी प्रशंसा की गई है। 18वें काण्ड में मृत्यु सम्बन्धी अन्त्येष्टि क्रिया एवं पितृ-पूजा सम्बन्धी मन्त्र हैं। ऋग्वेद यम-सूक्त के मन्त्र परिवर्द्धन के साथ यहाँ भी पाए जाते हैं। 20वें काण्ड में सोम-पान के मन्त्र हैं।

कुन्ताप सूक्त—अथर्ववेद में 20वें काण्ड में कुछ सूक्त विचित्र ही हैं जो कि कुन्ताप सूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनमें यज्ञ सम्बन्धी-दान स्तुति, राजकुमारों के औदार्य की प्रशंसा, पहेलियाँ एवं उनके समाधान हैं।

दार्शनिक सूक्त—इन सूक्तों में ईश्वर एवं रक्षक के रूप में प्रजापति, अन्तिम द्वैत सत्ता तथा दार्शनिक शब्द ब्रह्म, तप, असत्, प्राण, मन आदि का वर्णन है; किन्तु ये विवरण इतने स्पष्ट नहीं हैं जितने कि परवर्ती काल में उपनिषदों में हैं। ऋग्वेदकालीन दार्शनिक विचार परम्परा अभी तक विशिष्ट रूप में पल्लवित नहीं हो पाई है। वास्तविक रूप में दार्शनिकता का पल्लवन उपनिषदों में ही है। इसलिए अथर्ववेद के दार्शनिक मन्त्र मध्यकाल के प्रतिनिधि भी स्वीकार्य नहीं हैं। Deusson ने इन सूक्तों के सम्बन्ध में लिखा है कि They stand not so much inside the great of development, as

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 225।

rather by its side. इसलिए कहा जा सकता है कि अथर्व इन दार्शनिक विचारों का उद्भावक नहीं है अपितु उपभोक्ता है। इन मन्त्रों को दार्शनिक कहने की अपेक्षा रहस्यवादी कहना अधिक समीचीन होगा। वैसे ये मन्त्र अथर्ववेद के सबसे बाद के हैं। इनमें भी बहुत से मन्त्र व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हैं। विन्टरनिट्ज ने लिखा है—

इन सूक्तों में न तो सत्य के "जिज्ञासुओं के समाधान हैं और न ही विश्व की निगूढ़ पहेलियों का समाधान ही इन सूक्तों में निहित दार्शनिकता दम्भ मात्र है। इन सूक्तों में सामान्य विचारधारा को ही रहस्यमय बनाकर दिखाया गया है।"

It is not the yearing and searching for truth, for the solution of dark iddles of the Universe, which inspires the authors of these hymns, but they too, are only conjurers who pose as philosophers by misusing the well known philosophical expression in an ingenious or rather artificial wele of fooish and non-sensical plays of fancy, in order to create an impression of the mystical, the mysterious, what at the first glance appears to us as profundity, it often in reality nothing by empty mystery mongeriny, behind which there is more nonsense than profound sense.

इन सूक्तों में निरर्थकता इतनी अधिक है जिसकी कोई सीमा नहीं किन्तु हम विन्टरनिट्ज के उपर्युक्त विचारों से असहमत हैं। क्योंकि हो सकता है कि इन सूक्तों में अपने मूल रूप में इतनी अधिक विकसित दार्शनिक मान्यताएँ न रही हों जितनी कि आज इस तर्क-प्रधान, विवेचन-प्रधान, बुद्धिवादी अनुसंधित्सु प्रवृत्ति के विद्वानों में है। आज भी हमें इस प्रकार के दार्शनिक मिल जाते हैं, जो कि आत्मा को मनुष्य में मानने के सिद्धान्त प्रवर्तन का अनुवर्तन नहीं करते हैं अपितु उस सिद्धान्त को असम्बद्ध एवं गूढ़ रूप में प्रतिपादित करते हैं। कुछ भी हो, हम इतना तो कह ही सकते हैं कि अथर्ववेदीय दार्शनिक सूक्तों में आध्यात्मिक विचारधारा के सुन्दर एवं उन्नत रूप की कल्पनाएँ निहित हैं।

रोहित सूक्त—कुछ ऐसे सूक्त भी हैं जिनमें अनेक स्फुट विषयों का प्रति

पादन किया गया है। ऐसे सूक्तों को रोहित सूक्त कहा गया है। रोहित (रक्त) सूक्तों में रोहित वर्ण सूर्य को Creative Principle कहा है। सूर्य ने द्यावा-पृथ्वी की स्वतः रचना की है एवं सबका रक्षक भी है। स्वर्गीय राजा रोहित को पृथ्वी के राजा के रूप में बताया है। **वरुण, मित्र, रोहित की प्रशंसा की** है। इन्द्र एवं अन्य देवों को वृषभ के रूप में प्रस्तुत किया है। अनेक प्रकार से गौ की प्रशंसा की है। गौ ही एकाकी अमरता है। वह मृत्यु के समान पूजनीय है। जो ब्राह्मण गोदान करता है, उसे सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ मिल जाते हैं। गाय, बैल एवं ब्रह्मचारी की काफी प्रशंसा की गई है। ब्रह्म को व्रात्य कहा गया है। अन्तरिक्ष स्थानीय व्रात्य, रुद्र एवं महादेव हैं, व्रात्य सम्भवतः पूर्वी जन-जाति थी। ये ब्राह्मणवाद से पृथक् थे, समूहों में घूमते थे, लड़ाकू एवं पशु पालक थे, इनके अपने पृथक् रीति-रिवाज एवं सम्प्रदाय आदि थे। कोई भी व्रात्य की सम्भवतः यहाँ स्तुति भी है। श्री बलदेव उपाध्याय ने इस व्रात्य की समस्या के समाधान में कुछ विचार व्यक्त किये हैं—"परन्तु अथर्ववेदीय व्रात्य-काण्ड में निर्दिष्ट व्रात्य का तात्पर्य क्या है ? आचार-विचार से रहित तथा नियम की शृंखला से न बद्ध होने वाले व्यक्ति का द्योतक होने के कारण 'व्रात्य' शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ—'ब्रह्म' जो जगत् के नियमों की शृंखला में न बद्ध है और न जो कार्य-कारण की भावना से ही ओतप्रोत है। इसी ब्रह्म के स्वरूप का तथा उससे उत्पन्न सृष्टि क्रम का व्यवस्थित वर्णन इस काण्ड में विस्तार के साथ किया गया है।"

अथर्ववेदीय विषय सामग्री का हमने यथासम्भव परिचय देने का प्रयास किया है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि यह संहिता लौकिक-पारलौकिक दोनों ही प्रकार की सामग्री का संग्रह-ग्रन्थ है।

पैपलाद शाखा—अथर्ववेद की एक अन्य शाखा है जिसका नाम है पैपलाद। वह शाखा 1870 में कश्मीर से महाराज रणवीरसिंह को अपने पुस्तकालय में शारदा लिपि में भोजपात पर लिखी मिली थी। उन्होंने इसे Pro. Roth को भेंट किया था। रॉथ की मृत्यु के उपरान्त यह 1895 में ट्यूबिंजन यूनि-वर्सिटी को प्राप्त हुई। वहाँ के अधिकारियों ने इसकी 1901 में अमेरिका से

1. **वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 229**

फोटो सहित प्रकाशित किया है। इसके अन्य संस्करण भी मिले हैं किन्तु पैप्पलाद शाखा एवं शौनक शाखा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। केवल ब्राह्मण पाठ तथा अभिचार कर्म अवश्य अधिक है। इसलिए यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अथर्ववेद का रचनाकाल—अथर्ववेद का रचनाकाल ऋग्वेद की अपेक्षा परवर्ती है। यद्यपि अथर्ववेद के भाषा, छन्द वही ऋग्वेदीय हैं तथापि अथर्ववेद की भाषा में विकास के लक्षण होते हैं। इसी विकास के कारण अथर्ववेद की भाषा व छन्द यह सिद्ध कर देते हैं कि रचना अवान्तर कालीन है। यही नहीं, अथर्ववेद में वर्णित भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दशा से भी यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकालीन अवस्था के बाद के चित्र हैं। क्योंकि इस वेद के समय में आर्य दक्षिण-पूर्व में आकर गंगा के प्रदेश के निवासी बन गए थे। चीता (Tiger) जो कि पूर्वी देश का प्राणी है, ऋग्वेद में वर्णित नहीं है, अथर्व-वेद में वर्णित है। वर्णित ही नहीं है, व्याघ्रचर्म को राजा धारण करता है। इसका भी उल्लेख यहाँ मिलता है। चातुर्वर्ण्य का ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र में ही उल्लेख मिलता है परन्तु अथर्व में ब्राह्मण की शक्ति तथा गरिमा विशिष्ट रूप से गाई गई है। ब्राह्मण इस वेद में भूदेव पद पर आसीन हो गए हैं। ब्राह्मणों ने अपने ज्ञान व कला-कौशल से समाज में आदरणीय स्थान बना लिया था।

अथर्ववेद में प्राप्त वैदिक देवताओं का व्यक्तित्व भी अथर्व को परवर्ती सिद्ध कर देता है। अथर्व में इन्द्र, अग्नि आदि देव ऋग्वेदीय ही हैं, किन्तु उसका पुराना व्यक्तित्व समाप्त हो गया है। अब तो उनके स्वरूप एवं कार्य पूर्णतः भिन्न मिलते हैं। ऋग्वेदीय देव प्रकृति के प्रतीक थे; किन्तु अथर्ववेद में यह प्रतीकात्मकता समाप्तप्रायः है। अब तो वे देव-विशेष के रूप में राक्षसों, शत्रुओं के संहार एवं रोगों के विनाश के लिए आहूत किए जाते हैं। अथर्ववेद के आध्यात्मवादी एवं सृष्टि सम्बन्धी सूक्त भी उसे परवर्ती सिद्ध करते हैं क्योंकि इन सूक्तों में निहित दार्शनिकता लगभग उपनिषद् कालीन-सी है। विन्टरनिट्ज ने लिखा है कि—

We already find in these hymans as a fairly developed philosophical terminology and a development of pantheism standing on a level with philosophy of upnishadas.

श्री बलदेव उपाध्याय भी अथर्ववेद को ऋग्वेद से अर्वाचीन मानते हुए लिखते हैं कि "अथर्व में बहुत से अध्यात्मवाद तथा सृष्टिवाद से सम्बद्ध सूक्त भी उसे पीछे की रचना सिद्ध कर रहे हैं। सूक्तों का अध्यात्मवाद उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्त की कोटि में आ जाता है और इनका प्रयोग भी इन्द्रजाल के अवसर पर भूतों और पिशाचों को भगाने के उद्देश्य से किया जाता है। इन प्रमाणों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट है कि अथर्व संहिता की रचना का समय ऋक् संहिता के निर्माण काल से अवश्यमेव पीछे का है।"

वेद के लिए प्राचीन साहित्य में प्राप्त त्रयी शब्द के आधार पर इसकी प्राचीनता पर प्रश्नवाची चिन्ह अङ्कित किया जाता है; ठीक है कि यह उन तीनों वेदों के समान प्राचीन नहीं है, तथापि इस वेद की हम प्राचीन सिद्ध कर सकते हैं। भले ही त्रयी में ऋक्, यजु एवं साम का ही उल्लेख हो। भले ही गृह्यसूत्रों में अथर्ववेद की अपेक्षा तीनों वेद तथा वेदांग, इतिहास, पुराण को पवित्र कहा गया हो। भले ही बौद्ध साहित्य में त्रयी विद्या में निपुण ब्राह्मण की चर्चा हो; किन्तु कृष्ण यजुर्वेद विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषदों से अथर्व का उल्लेख है। **"सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्"** इस कथन से हम अथर्व को वेद त्रयी के समकक्ष प्रतिपादित कर सकते हैं। अतः इस दृष्टि से इसे नवीन नहीं कहा जा सकता है। पातंजलि महाभाष्य के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि अथर्ववेद महाभाष्य से पूर्ववर्ती है। यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता में अथर्ववेदीय अभिचार मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। मन्त्रों में भी समानता मिलती है। यद्यपि ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में अथर्व का नाम नहीं है किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस वेद का दो बार नाम आया है। शतपथ ब्राह्मण से भी इनकी सत्ता का आभास मिल जाता है। शांखायन और आश्वलायन स्रोत सूत्रों में अथर्व का नामोल्लेख हुआ। वाचस्पति के गुरु जयन्तभट्ट ने इस अवस्था का शतपथ ब्राह्मण में खण्डन किया है कि अथर्ववेद का चार वेदों में स्थान नहीं है—**"अथ तृतीय अहनि इति उपक्रम्य अश्वमेघे पारिप्लवाख्याने सोऽयमथर्वणो वेदः भूतये।"** छान्दोग्योपनिषद् में 3.3 में और तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख किया गया है। यह परवर्ती रचना है; किन्तु परवर्ती रचना होते हुए भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि यह नितान्त

1. **वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 236**

परवर्ती रचना है क्योंकि अथर्व में कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जो ऋग्वेद के अधिकांश भाग से प्राचीन हैं। अथर्ववेद के अनेक मन्त्र उस प्रागैतिहासिक काल के हैं जिसमें कि ऋग्वेद के प्राचीन अंश हैं। वस्तुतः अथर्ववेद एक काल की रचना नहीं है अपितु ऋग्वेद की तरह इसमें भी विभिन्न युगों के अंश सम्मिलित हैं। यद्यपि बाद के कुछ मन्त्र ऋग्वेद के आदर्श बने हैं। "कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि अथर्ववेद संहिता में प्राप्त होने वाला पाठान्तर ऋग्वेद संहिता में प्राप्त होने वाले पाठों की अपेक्षा पीछे के काल की कल्पनाएँ हैं, तथापि इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अथर्ववेद संहिता मे प्राप्त होने वाले सूक्त, ऋग्वेद संहिता में प्राप्त होने वाले सूक्तों की अपेक्षा बाद के काल की रचनाएँ हैं। इतना तो निश्चित है कि अथर्ववेद के सूक्तों में हमें अनेक ऐसे भी सूक्त मिलते हैं जो ऋग्वेद के विशाल सूक्तों की अपेक्षा बाद के काल के हैं। अथर्ववेद संहिता की इन्द्रजाल से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएं यदि अधिक प्राचीन नहीं हैं, तो कम से कम इतनी प्राचीन अवश्य हैं जितना कि ऋग्वेद संहिता में प्राप्त होने वाली यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ हैं। अथर्ववेद के अनेकानेक स्थल प्राचीनतम ऋग्वेद के मन्त्रों की ही भाँति प्रागैतिहासिक काल में नयनोन्मीलन करते हैं; किन्तु इसे अथर्ववेद का काल कहना पर्याप्त नहीं है और युक्तिसंगत भी नहीं है। ऋग्वेद संहिता की भाँति अथर्ववेद संहिता के संग्रह में भी ऐसे अनेक स्थल प्राप्त हो जाते हैं जो शताब्दियों से परस्पर एक-दूसरे से भिन्न हैं।"[1]

ओल्डनवर्ग का कथन है कि जादू के प्राचीनतम मन्त्र गद्यमय हैं, अतः सारे ऐन्द्रजालिक मन्त्र ऋग्वेद के आदर्श पर पद्यबद्ध कर दिए गए हैं। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अथर्ववेद वेदत्रयी के उपरान्त की रचना है; किन्तु कुछ मन्त्र प्रागैतिहासिक काल के भी हैं।

प्रश्न – अथर्ववेद के वर्ण्य-विषय का उल्लेख करते हुए उनकी ऋग्वेद से तुलना कीजिए।

—आ० वि० वि० 58

Give a brief account of the contents of the Atharvaveda compare with that of the Rigveda.

—आ० वि० वि० 53, 57, 58, 59, 64

---

1. वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० 124।

Or

State the main of difference between the language and subject matter of the Rigveda and there of the Atharvaveda.

—आ० वि० वि० 55

Or

Only both works (the Rigveda and the Atharvaveda) together give us a real idea of the oldest poetry of the Arynn Indians. Examine this statement, giving a comparative note on the subject-matter of both the Vedas.

Or

"Atharvaveda is inferior to the other Vedas and it is not of the same antiquity as the Rigveda." Critically examine the statement.

Or

"अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा कम महत्त्व का है और न यह उतना प्राचीन है जितना ऋग्वेद।" इस उक्ति की समीक्षा कीजिए।

—आ० वि० वि० 1968

उत्तर—दोनों वेदों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय हम उनके नाम, समय, स्थान, विचार आदि सभी पर दृष्टिनिक्षेप करना आवश्यक समझते हैं। अथर्ववेद शब्द का अर्थ है, The Knowledge of Magic Formulae. मौलिक रूप से अथर्वन शब्द का अर्थ है—Fire Priest, अवेस्ता का Fire people इस अथर्वन शब्द के समकक्ष है; वहाँ भी अग्नि पुरोहित अग्नि पूजक बने हैं। भारतीय साहित्य में उपलब्ध अथर्वाङ्गिरस शब्द इस वेद का प्राचीनतम अभिधान है, जिसका अर्थ है, अथर्वों तथा अंगिराओं का वेद। अंगिराजन भी अथर्वों के वर्ग के ही हैं। दोनों के अभिचार मन्त्रों में भी विशेष अन्तर नहीं है। अथर्वन् शब्द का अर्थ है, रोगनाशक। इसलिए अथर्वन् ऋषियों में मन्त्र रोगनाशक हैं जबकि आङ्गीयस में शत्रुओं, प्रतिद्वन्द्वियों एवं दुष्ट मायावियों के प्रति अभिशाप मन्त्र है। अतः अथर्ववेद उक्त दोनों प्रकार की अभिचार विधि की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद शब्द का तात्पर्य है, ऋचाओं का वेद। ऋचा से अभिप्रायः है; गेय गद्य का। ऋग्वेद संहिता में ऋचाओं में ज्ञान राशि सम्भृत है जो कि वेदों को लक्ष्य कर कही गई है। अथर्व में अभिचार एवं रोगनाशक मन्त्र हैं।

ऋग्वेद की रचना प्राचीनतम समय में हुई थी जबकि अथर्ववेद अपेक्षाकृ अर्वाचीन है। इसलिए दोनों वेदों की विषय-सामग्री में भी मौलिक अन्त मिलता है। ऋग्वेद की अधिकांश रचना सरस्वती नदी के तट पर हुई थी जबकि अथर्ववेद की रचना गंगा के मैदान में।

विद्वानों की एक विचारधारा इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने के लि यह भी विश्वास व्यक्त करती है कि ऋग्वेद के विस्तृत मन्त्रों का संग्रह अथर्ववेद है जो कि परवर्तीकाल में यथासम्भव उपायों में संग्रह किया गया है विद्वानों का कहना है इसलिए वेदत्रयी में इसका नाम नहीं है। वैसे तो कु विद्वान् विषय-वस्तु के आधार पर इन दोनों वेदों का परस्पर सम्बन्ध स्थापि करते हुए अथर्व को ऋग्वेद का पूरक वेद मानते हैं। बलदेव उपाध्याय लिख हैं कि—

"काव्य की दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक माना जाता है। ऋग्वे को प्राचीनतम काव्य का निदर्शन मानना एक स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है; पर वह गौरव अथर्ववेद को भी प्रदान करना चाहिए। ऋग्वेद अधिकांश में आधि दैविक तथा अध्यात्म-विषयक मनोरम मन्त्रों का एक चारु समुच्चय है, अथर्ववेद आधिभौतिक विषय पर रचित मन्त्रों का एक प्रशंसनीय संग्रह है काव्य की दृष्टि से दोनों में उदात्त भावना से मण्डित तथा मानव हृदय को स्पर्श करने वाले सुचारु गीतिकाव्यों का वृहत् संग्रह है। दोनों मिलकर आ के प्राचीनतम काव्य-कला के रुचिर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं; यह संशयहीं सिद्धान्त हैं।"[1]

अब हम संक्षेप में दोनों ही वेदों की विषय-सामग्री का पर्यालोचन करें। अथर्ववेद की समग्र विषय-वस्तु को हम अध्यात्म विषयक, अधिभूत विषय अधिदैव विषयक इन तीन विभागों में विभक्त कर सकते हैं। अध्यात्म विष वस्तु की दृष्टि से इस वेद में ब्रह्म, परमात्मा, चारों आश्रम, चारों वर्णों उल्लेख है तो अधिभूतपरक वर्णन में राजा, राज्य शासन, युद्ध, शत्रु, वाह राज्याभिषेक आदि हैं। आधिदैविक दृष्टि से नाना देवता एवं नाना यज्ञों वर्णन है। ऋग्वेद में भी इन तत्वों का सर्वथा अभाव हो, यह कदापि स्वीक नहीं है। वैसे अथर्ववेद में कुछ सूक्त रोग, रोग लक्षण, चिकित्सा जड़ी-

1. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 230।

आदि का वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार के सूक्तों को भैषज्य सूक्त कहते हैं। इन सूक्तों की इस वेद में प्रधानता है। कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जिनमें दीर्घ आयु की कामना है। पारिवारिक उत्सव एवं संस्कारों का उल्लेख है। इन सूक्तों को आयुष्य सूक्त कहते हैं। इन सूक्तों का भी इस वेद में बाहुल्य है। तीसरे सूक्त इस प्रकार के भी हैं जिनमें सार्वजनिक वैभव एवं पुष्टि की कामना है गृहनिर्माणपरक मन्त्र हैं। ऐसे सूक्तों को पौष्टिक सूक्त कहा गया है। आठ-दस सूक्तों में इन्द्र, वायु आदि कुछ देवों को लक्ष्य कर आशीर्वाद, भय से रक्षा, बुराई से बचने के लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है। कुछ ऐसे भी सूक्त हैं, जिनमें विवाह एवं प्रेम सम्बन्धी मन्त्र हैं, सपत्नी को वश में करने के उपाय, मारणमोहन-उच्चाटन, वशीकरण के मन्त्र भी हैं। कुछ सूक्त राजा एवं राज्य-शासन से सम्बद्ध हैं। अस्त्र-शस्त्र का रोचक वर्णन है। इन्हें राज-कर्माणिसूक्त कहा गया है। एक सूक्त में मातृभूमि की मनोरम कल्पना है। वैदिक ऋषियों के भावोच्छ्वासों का यह पृथ्वी सूक्त सुन्दरतम एक उदाहरण है। ब्रह्म, यज्ञ, जल, मृत्यु सूक्तों के साथ कुछ रहस्यवादी सूक्त भी हैं। दूसरी ओर, ऋचाओं के वेद ऋग्वेद में विभिन्न प्राकृतिक देवों की भव्य-उपासना है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में इन्हीं देवों से सुख-समृद्धि की कामना की गई है। दूसरी ओर यज्ञों का भी विस्तार से वर्णन है। ब्रह्म विद्या विषयक सूक्तों की भी एक सुन्दर परम्परा है। ऋग्वेद के अध्ययन से तात्कालिक सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधारा एवं मान्यताओं का संकेत भी मिलता है। दान स्तुतियों में राजकुमारों का वर्णन है। आख्यान साहित्य का प्रारम्भिक रूप भी दर्शनीय है। एक मन्त्र में वर्ण-व्यवस्था अर्थात् चारों वर्णों का उल्लेख है। ऋग्वेद में आयुर्वेदीय विचार पहेलियाँ आदि सभी कुछ हैं जिनका पल्लवित रूप हमें अथर्ववेद में मिलता है।

ऋग्वेद के मुक्त आकाश में हमें विशाल देवताओं के भव्य दर्शन होते हैं जो प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक एवं प्रतिनिधि हैं। गायक मुक्त कण्ठ से उनकी स्तुति करता है, उन्हें बलि देता है क्योंकि वे शक्तिशाली हैं और उन उपासकों के सहायक हैं, उनकी अभीष्ट पूर्ति करते हैं। दूसरी ओर अथर्ववेद में पैशाचिक शक्तियाँ हैं जो कि मनुष्य के लिए रोग एवं विपत्ति लाती हैं। इनके विरुद्ध अभिचारकर्त्ता अपने अभिचार एवं अभिशापों का प्रयोग करता है और उनका

निवारण करता है। हम ऊपर दोनों वेदों की विषय-सामग्री का अध्ययन कर चुके हैं जिसमें उनका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट हो जाता है। एक बात यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि ऋग्वेद में मन्त्रों की उपयोगिता वैदिक यज्ञों के लिए ही है जबकि अथर्ववेद में मन्त्र को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। मन्त्र में स्वयं शक्ति है। दूसरे शब्दों में कहें तो मन्त्र आत्मा में निहित शक्ति के उद्भावन की कुंजी हैं। अतः उनका प्रयोग वैदिक यज्ञ के आश्रय के बिना स्वातन्त्र्येण भी किया जा सकता है। अथर्ववेद की यह एक मौलिकता है।

दूसरी विशेषता अथर्ववेद में यह भी मिलती है कि यहाँ भावनाएँ पर्याप्त विकसित हो चुकी हैं। इसीलिए कुछ विद्वान् अथर्ववेद में यज्ञ का विधान नगण्य प्रतिपादित करते हैं; किन्तु मेरे विचार से अथर्व में यज्ञ का विधान नगण्य अथवा उपेक्षणीय है, यह कदापि स्वीकार्य नहीं; क्योंकि ऋग्वेदीय यज्ञ-याग का यहाँ भी विधान दिया गया है परन्तु यज्ञ का सम्बन्ध अभिचार के साथ विशेषतः सम्बद्ध कर दिया गया है। इन यज्ञों का उद्देश्य जहाँ एक ओर स्वर्गोपलब्धि था वहीं दूसरी ओर सांसारिक अभ्युदय तथा शत्रु पराजय भी था। यहाँ यज्ञ एकमात्र शक्ति का आश्रय बन गया था। इस प्रकार अथर्व में यज्ञ की भावना में स्वल्प विकास है, भौतिक माध्यम से मानव स्तर पर पहुँच गया है। एक बात और अथर्व में यह है कि यहाँ स्वल्प व्ययसाध्य यज्ञादि का सम्पादन है जब कि ऋग्वैदिक यज्ञ व्ययसाध्य उच्च वर्ग के लिए ही थे। आशय यह है कि अथर्ववेद में हम यज्ञ के स्वरूप, विधान तथा मान्यता आदि में पूर्व वेदों की अपेक्षा पर्याप्त मौलिक अन्तर एवं विकास प्राप्त करते हैं।[1]

इस प्रकार विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि अथर्ववेद में भौतिक तत्त्वों का प्राधान्य है, जबकि ऋग्वेद में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक। यदि दोनों वेदों की विषय-सामग्री का एक साथ अध्ययन करें तो दोनों ही परस्पर पूरक प्रतीत होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जनजीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन जीवन। ऋग्वेद आचारों-विचारों का धरातल नितान्त उच्चस्तरीय, संस्कृत, शिष्ट एवं श्लाघनीय है जबकि अथर्ववेद प्राकृतजन के विश्वासों, आचारों-विचारों का, रहन-सहन का, अलौकिक शक्ति में दृढ़-विश्वास का, भूत-प्रेत आदि अदृश्य शक्तियों पर पूर्ण आस्था का एक कोशग्रन्थ है। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि "अथर्ववेद को एक दीर्घकाल तक वेद के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं हुई

यद्यपि हमारे मतलब के लिए ऋग्वेद के बाद इसी का महत्त्व है क्योंकि ऋग्वेद के ही समान यह भी स्वतन्त्र विषयों का ऐतिहासिक संकलन है। यह वेद बिल्कुल एक भिन्न ही भाव से ओत-प्रोत है, जो परवर्ती युग की विचारधारा की उपज है। यह उस समझौते के भाव की देन है जिसे वैदिक आर्यों ने इस देश के आदिवासियों द्वारा पूजे जाने वाले नये देवी देवताओं के साथ समन्वय करने के विचार से अंगीकार कर लिया था।"[1]

कुल मिलाकर हम श्री बलदेव उपाध्याय के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि "ऋग्वेद तथा अथर्व के मन्त्र दोनों मिलकर वैदिक युग के धार्मिक विधि विधान का स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। प्राकृतजन तथा संस्कृतजन— दोनों जनों का विचार धरातल इन ग्रन्थों में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अतएव ये दोनों एक-दूसरे के पूरक माने जा सकते हैं।"[2]

---

1. भारतीय दर्शन, पृ० 58
2. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 234

पंचम अध्याय

सामवेद

प्रश्न—सामवेद के वर्ण्य-विषय एवं रचना-क्रम का पूर्ण विवेचन कीजिए।

उत्तर—वैदिक संहिताओं में सामवेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है । वृहद्देवता का तो यहाँ तक कहना है कि जो व्यक्ति साम को जानता है वही वेद रहस्य का ज्ञाता हो सकता है "**सामानि यो वेत्ति स वेद तत्वम् ।**" गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी स्वयं ही घोषणा की है—"**वेदानां सामवेदोऽस्मि**" इस गीता के कथन से भी सामवेद की महत्ता का संकेत होता है । आशय यह है कि वेदों में सामवेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा वह सामगायन परम्परा अर्वाचीन न होकर प्राचीनतम है ।

साहित्य में 'साम' शब्द का अर्थ दो रूपों में मिलता है । एक तो ऋचाओं के ऊपर गाये जाने वाले गान **साम** शब्द से अभिहित किये जाते हैं और कभी-कभी ऋग्वेद के मन्त्रों के लिए भी **साम** शब्द का प्रयोग किया जाता है। सामवेद का संकलन उद्‌गाता नामक ऋत्विज् की आवश्यकताओं के लिए किया गया है। सामवेद के मन्त्रों को उद्‌गाता तारस्वर से आवश्यकतानुसार गान करता है । निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि साम शब्द से हमें उन गानों को ग्रहण करना चाहिए जो ऋचाओं पर भिन्न-भिन्न स्वरों पर गाये जाते हैं क्योंकि जैमिनीय सूत्र तथा वृहदारण्यकोपनिषद् के निम्न सूत्र इसी आशय के द्योतक हैं—"**गीतिषु सामाख्या**" जे०; सू०; का **साम्नो गति स्वर इति हो वाच**" छ० उ० । गीति ही साम हैं, स्वर ही साम का स्वरूप है ।

भारतीय विद्वानों के अनुसार सामवेद की कभी एक **सहस्र** शाखाएँ रही हैं । पुराण भी सामवेद की एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख करते हैं । पतंजलि का भी "**सहस्रवर्त्मा सामवेद**" वाक्य सुपरिचित ही है । महर्षि शौनक ने चरण व्यूह परिशिष्ट में इस विषय का निर्देश करते हुए लिखा है कि सामवेद की

1000 भेद होते हैं जिनमें से अनेक अनध्याय के समय पढ़े जाने के कारण इन्द्र के द्वारा अपने वज्र-प्रहार से नष्ट कर दिये गए **"सामवेदस्य किल सहस्र भेदाः भवन्ति एष अनध्याययेषु अधीयानः ते शतक्रतु वज्रेणाभिहतोः।"** आज भी अनेक ग्रन्थों के पर्यालोचन करने पर तेरह शाखाओं के नाम देखने को मिलते हैं, साथ ही उन तेरह आचार्यों के नाम भी, किन्तु वर्तमान में केवल तीन आचार्यों की तीन शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं—(1) कौथमीय, (2) राणायनीय, (3) जैमिनीय। वैसे तो पुराणों में उत्तर-पूर्व के प्रदेशों को सामागान का स्थान बताया गया है; किन्तु व्यवहारतः आज ठीक इसके विपरीत दक्षिण तथा पश्चिम भारत में इन शाखाओं का प्रचुर प्रचार है।

कौथुम शाखा इन तीनों शाखाओं में सर्वाधिक उपादेय एवं प्रसिद्ध है। इस शाखा के दो भाग हैं :—

(1) पूर्वार्चिक, (2) उत्तरार्चिक। इन दोनों भागों में केवल उन्हीं ऋचाओं का वर्णन किया गया है जो ऋग्वेद में उपलब्ध होती हैं। दोनों भागों की समस्त ऋचाएँ 1810 हैं। इनमें से कुछ की पौनः-पुण्येन आवृत्ति हुई है। इस प्रकार की ऋचाओं को पृथक् करने पर मौलिक ऋचाओं की संख्या 1549 शेष रह जाती है और इनमें से 75 को छोड़कर समस्त ऋचायें ऋग्वेद संहिता अष्टम एवं नवम मण्डल से ली गई हैं। प्रस्तुत ऋचाओं की रचना अधिकांशतः गायत्री एवं प्रगाथ (गायत्री जगती का मिश्रित स्वर) छन्द में हुई है। यह सर्वथा सत्य है कि इन छन्दों की रचना में आने वाले पद्य और गीत अपने मूल रूप में गान किये जाने के उद्देश्य से ही बनाये गये हैं। इसीलिए सामवेद में प्राप्त ऋग्वेदीय मन्त्रों का उच्चारण भी कुछ भिन्न हो गया है। इस वेद का मुख्य वस्तु स्वर है जो कि उद्‌गाता नामक ऋत्विज के लिए आवश्यक तत्त्व है। ऊपर निर्दिष्ट ऋग्वेद में उपलब्ध न होने वाली 75 ऋचाओं में से कतिपय ऋचाएँ अन्य संहिताओं की हैं। कुछ धर्म-ग्रन्थों की हैं एवं कुछ की उपलब्धि पाठान्तर के साथ ऋग्वेद में ही हो जाती है। थूडर आफ्रेचड (Theodor Aufrecht) का कथन है कि सम्भवतः यह पाठान्तर स्वेच्छाकृत है। इसका कारण सांकल्पिक एवं आकस्मिक परिवर्तन ही सम्भव है। सम्भव है कि संगीत की दृष्टि से कुछ शब्दों का अंग-भंग करके उन्हें आवश्यकता के अनुरूप गठित किया गया हो। यही कारण है कि सामवेद में पाठत्व की ओर ध्यान

न देकर गेयतत्त्व की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है । सामवेद संहिता की परम्परा में जो विद्वान् उद्‌गता पुरोहित होने की कामना से शिक्षा लेना चाहता था उसे, सर्वप्रथम आर्चिक की सहायता से संगीत की शिक्षा में दीक्षित होना पड़ता था । इसके पश्चात् उसे कुछ उत्तरार्चिक के स्तोत्रों को कंठस्थ करना अनिवार्य होता था । यह पद्धति उसे उद्‌गाता पुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित कर देती थी ।

सामवेद संहिता के पूर्वार्चिक में 650 ऋचाएँ (गीत) हैं, जिनमें याज्ञिक अवसर पर प्रयुक्त होने वाले विभिन्न साम संगृहीत हैं । साम शब्द का वास्तविक अर्थ स्वर या गीत है; किन्तु ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाए जाने वाले गीत ही वस्तुतः साम शब्द के द्वारा अभिहित होते हैं । पूर्वार्चिक के प्रथम प्रपाठक में अग्नि विषयक ऋक् मन्त्रों का संग्रह है; अतः इसे आग्नेय काण्ड कहते हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक ऐन्द्र पर्व कहलाता है, क्योंकि यहाँ इन्द्र की स्तुतियाँ हैं । पञ्चम में सोमपरक स्तुतियाँ हैं; अतः इसे पवमान पर्व कहा जाता है । षष्ठ प्रपाठक आरण्यक पर्व के नाम से प्रसिद्ध है ।

सामवेद संहिता के उत्तरार्चिक में 400 गीत (Chants) हैं । इन गीतों में से प्रत्येक गीत में प्रायः तीन-तीन ऋचाएँ हैं । कहीं-कहीं दो-दो या चार-चार ऋचाएँ भी मिलती हैं । इन्हीं गीतों से यज्ञों के अवसर पर गाये जाने वाले स्तोत्रों का निर्माण हुआ है । जहाँ पूर्वार्चिक में ऋचाओं का क्रम छन्द एवं देवताओं के आधार पर हुआ है वहाँ उत्तरार्चिक में यज्ञों के आधार पर उनका क्रम निर्धारित हुआ है । उत्तरार्चिक में 9 प्रपाठक हैं; आदि के 5 प्रपाठकों में दो-दो अर्ध या अध्याय हैं; किन्तु अन्तिम प्रपाठकों में तीन-तीन अध्याय हैं। इनमें छोटे-छोटे मन्त्र समूह पाये जाते हैं । इस उत्तरार्चिक का साहित्यिक महत्त्व पूर्वार्चिक की अपेक्षा कम है; क्योंकि इसके अधिकांश मन्त्र प्रथम आर्चिक की पुनरावृत्ति मात्र हैं । इसके अतिरिक्त पूर्वार्चिक में इस प्रकार की अनेक योनि (ऋचाएँ), ताल एवं लय हैं जो उत्तरार्चिक में प्राप्त नहीं होते, फिर उत्तरार्चिक को पूर्वार्चिक का परिष्कृत रूप भी माना जा सकता है । उत्तरार्चिक के समस्त मन्त्रों की संख्या 1225 है । उत्तरार्चिक के सम्बन्ध में विन्टरनित्ज़ का कहना है कि—

We may compare tbe Uttararchika a to song book in

which the complete text of the songs is given, while it is presumed that melodies are already known.

पूर्वार्चिक के बाद में ही उत्तरार्चिक की रचना हुई है; क्योंकि आर्चिक में अनेक योनियाँ (ऋचाएँ) एवं स्वर हैं जो कि उत्तरार्चिक के (Chants) में नहीं हैं तथा उत्तरार्चिक में कुछ स्तोत्र ऐसे भी हैं जिनके स्वर के विषय में आर्चिक शिक्षा नहीं देता। अतः विण्टरनिट्ज के शब्दों में Uttararchika is essential completion of the Aarchika.

वास्तव में **"गीतिषु सामाख्या"** इस जैमिनी वाक्य के अनुसार गीति ही साम है; और गीति के प्राण हैं स्वर, गीतों का प्रणयन भी सामवेद की ऋचाओं पर आधारित था **"ऋचि अध्युढम सामगीयते"** ऋचाओं को इसी कारण सामगन की योनि या मूलाधार माना जा सकता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है जिस प्रकार सूर एवं तुलसी के पदों को संगीत के रागों में गाया जाता है। ऋचाएँ पदों के समान हैं और उनके साम रागों के तुल्य। सामवेद की ऋचाओं को संगीत में परिणत करने के लिए, कुछ पद जोड़े जाते हैं जिन्हें स्तोभ कहा जाता है; यथा—हाऊ, होई, और हो, ओह इत्यादि। ये स्तोभ कुछ इस प्रकार के अक्षर एवं पद हैं जैसे आलाप के लिए गेय पदों में राग-रागिनी गान करने वाले गायक जोड़ देते हैं। डा० पाण्डेय एवं जोशी ने लिखा है कि—अक्षरों के सम्पूर्ण आयाम, अक्षरों की पुनरावृत्तियाँ और अक्षरों की मिथ्या कल्पनाओं के साथ-साथ 'औहोबा', 'हाउआ' आदि वे शब्द जिन्हें स्तोभ कहा जाता है, साम विकार के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो 6 प्रकार के होते हैं—

(1) विकार, (2) विश्लेषण, (3) विकर्षण, (4) अभ्यास, (5) विराम (6) स्तोभ। सामगान के भी पाँच भाग होते हैं—

(1) प्रस्ताव—इसका गान प्रस्तोता करता है।

(2) उद्गीथ—इसका गान उद्गाता नामक ऋत्विज् करता है।

(3) प्रतिहार—इसका गान प्रतिहार नामक ऋत्विज् करता है।

(4) उपद्रव—इसका गान भी उद्गाता नामक ऋत्विज् करता है।

(5) निधन—इसका गान प्रस्तोता, उद्गाता एवं प्रतिहर्त्ता नामक तीनों ऋत्विज् मिलकर करते हैं।

सामवेद संहिता में स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वर उच्चारण की दृष्टि से उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित तीन प्रकार के हैं और संगीत की दृष्टि से सात प्रकार के हैं; उनके नाम इस प्रकार हैं—मध्यम, गान्धार ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत एवं पञ्चम। इस संहिता में गेय पदों के ऊपर एक दो-तीन आदि से सात तक के अङ्कों द्वारा संगीत के स्वरों का निर्देशन किया जाता है।

पूर्वार्चिक में प्रथम से पाँचवें अध्याय तक की ऋचाएँ ग्राम गान हैं और षष्ठ अध्याय की ऋचाएँ अरण्य गान कही जाती हैं। इसके अतिरिक्त 'ऊहगान' एवं 'ऊह्य गान' नामक दो अन्य प्रकार के गीत भी उपलब्ध होते हैं। इनमें ऊहगान का सम्बन्ध गाम गेय गान से है और ऊह्य गान का सम्बन्ध अरण्य गेय गान से है। विकृति एवं रहस्यात्मक होने से इन दोनों का अरण्य में ही गान होता है। ऋचाओं के आधार पर जिन गीतियों (गानों) की रचना हुई थी, कोथुमीय एवं राणायनीय शाखाओं के अनुसार उनकी संख्या 2722 है एवं जैमिनीय शाखा के अनुसार 3681 है। उसका विवरण इस प्रकार है—

शीर्षक गान का नाम	संख्या कौथुमीय	जैमिनीय
(1) ग्राम गेयगान	1187	1232
(2) अरण्य गेयगान	295	291
(3) ऊ गान	1026	1802
(4) उह्यगान	205	356
योग	2722	3681

सामवेद की एक शाखा वैदिक पुस्तक है जिसे 'साम विधान ब्राह्मण' कहा जाता है। इसका द्वितीय भाग अपने नियमित रूप में इन्द्रजाल (माया) का ही एक प्रकार है। इस पुस्तक में विभिन्न सामों का माया के उद्देश्य से ही संग्रह किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में सामगान विषयक अनेक नियमों की ओर संकेत किया गया है।

राणायनीय शाखा—प्रस्तुत शाखा कौथुम शाखा से अधिक भिन्न नहीं है। मन्त्र प्रायः कौथुम शाखा के ही समान हैं। हाँ, उच्चारण-भेद अवश्य है। कौथुम का उच्चारण यदि 'हाउ' और 'राहि' है तो राणायनीय 'हावु' तथा 'राइ' करते हैं। राणायनीयों की ही एक प्रशाखा शोत्यमुग्री है। पतंजलि के अनुसार शत्यमुग्री लोग एकार तथा ओकार का ह्रस्व उच्चारण किया करते हैं।

जैमिनीय शाखा—इस शाखा में कौथुम शाखा के 182 मन्त्र कम हैं। इसके कुल मन्त्रों की संख्या 1687 है। कौथुम शाखा में साम गानों की संख्या 2782 है जबकि जैमिनीय शाखा में 3681 है। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण उपनिषद् स्रोत्र-गुह्य सूत्र आदि सभी सम्बद्ध ग्रन्थ आज मिल जाते हैं। जैमिनीय शाखा की एक प्रशाखा तवलकार भी है; जिसकी उपनिषद् केनोपनिषद् है, उसे कभी-कभी तवलकारोपनिषद् भी कह लिया जाता है। ये तवलकार जैमिनीय के शिष्य थे, ऐसा कहा जाता है।

चरणव्यूह के आधार पर समग्र सामों की संख्या आठ सहस्र थी और गायनों की संख्या चौदह हजार आठ सौ बीस थी।

निष्कर्ष रूप में इस संहिता का मूल्यांकन करते हुए हम यह कह सकते हैं कि सामवेद संहिता यज्ञ तथा इन्द्रजाल जादू की दृष्टि से भारतीय इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। संगीत की दृष्टि से गीति तत्त्व का उद्गम स्थान ही है; परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

षष्ठ अध्याय

सामान्य प्रश्न

प्रश्न—वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य का तुलनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

What are the characteristic features of Vedic literature which distinguish it from classical Sanskrit literature ?

—आ० वि० वि० 52

Or

Point out the fundamental difference between the nature of Vedic and the classical Sanskrit literature.

—आ० वि० वि० 57

Or

Write short essay on the subtle difference between the Vedika and classical Sanskrit. —आ० वि० वि० 65

उत्तर—संस्कृत साहित्य अपनी महत्ता एवं सर्वाङ्गीणताकरण के विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्यों में से एक है। इस साहित्य में मानव जीवनोपयोगी कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें भारतीय मनीषियों की मनीषा ने अपनी कुशलता न दिखलाई हो। आध्यात्मिकता से लेकर विलासिता तक का साहित्य इसमें संभृत है। एक ओर वहाँ वेद एवं उपनिषद् हैं वहाँ दूसरी ओर कामशास्त्र जैसे ग्रन्थ भी हैं।

इस साहित्य को दो धाराओं में विभक्त किया गया है। एक प्राचीन धारा वैदिक साहित्य के नाम से तथा दूसरी अपेक्षाकृत अर्वाचीन धारा लौकिक साहित्य की धारा के नाम से अभिहित की जा सकती है। वैदिक साहित्य के सृजन के अनन्तर जो नवीन साहित्य निर्मित हुआ, उसमें लौकिकता का अधिक

समावेश होने के कारण उस साहित्य का नाम लौकिक साहित्य हुआ। इस प्रकार वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य इस समग्र साहित्य के अभिधान हुए। तुलनात्मक अध्ययन करने पर भाव, भाषा आदि की दृष्टि से परस्पर पर्याप्त वैषम्य होने पर भी दोनों साहित्यों का अपना-अपना महत्त्व है। इन दोनों ही साहित्यों का पारिवारिक अन्तर इस प्रकार देख सकते हैं—

विषय-भेद की दृष्टि से—दोनों ही साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी सन्देह के पहुँचते हैं कि वैदिक साहित्य युगानुरूप धर्म की प्रधानता से मण्डित है। यह साहित्य देवताओं को लक्ष्य बना कर उनके सन्तोष के लिए विविध यज्ञ-यागों में ही संलग्न रहा, इसमें प्रारम्भ में बहुदेववाद का प्राधान्य रहा फिर क्रमशः एकेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार से वैदिक साहित्य धर्म प्रधान, देवता प्रधान, कर्मकाण्ड प्रधान साहित्य के सृजन में ही लगा रहा, तो दूसरी ओर लौकिक साहित्य जिसका विकास सर्वतोगामी है, उसने जन-जीवन को अपना कर समस्त साहित्य ऐहिक विकास के लिए निर्मित किया। यह साहित्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में विकसित होते हुए भी अर्थ एवं काम की ओर विशेष उन्मुख रहा। औपनिषदिक प्रभाव से प्रभावित हो, इस साहित्य में नैतिकता का भी स्थान विशेष रहा। इस काल में इस साहित्य में पूर्ववर्ती साहित्य के देव इन्द्र, अग्नि आदि गौण होने लगे तथा नवीन देव प्रजापति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की परिकल्पना की जाने लगी और उन्हें प्राधान्य भी दिया गया। यही नहीं, इस लौकिक साहित्य में एक विशेष बात यह भी हुई कि भक्ति के क्षेत्र में अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई जिसने मानव की भावनाओं को विशेष रूप से प्रभावित किया।

वैदिक साहित्य के समाज में आर्य एवं दस्यु दो ही वर्ग थे; किन्तु लौकिक साहित्य में वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। तदनुरूप सामाजिक जटिलताओं का भी उदय होता है। वैदिक सरलता, स्वाभाविकता का लोप होकर मानवीय भाव एवं भावनाएँ पूर्णतः परिवर्तित हो जाती हैं। जहाँ वैदिक ऋषि यत्र-तत्र सर्वतोभावेन विश्व की कल्याण-कामना किया करते थे वहाँ इस समाज से स्वार्थ-बुद्धि का बोलबाला होने लगा। लौकिक साहित्य में समाज नियन्त्रण सामन्तवाद के आधार पर होता है। हम निष्कर्ष रूप में यह कह

सकते हैं कि वैदिक साहित्य परलौकिक भावभूमि की प्रतिष्ठा करता है तो दूसरा साहित्य लौकिक आधारशिला पर खड़े होने के कारण लौकिक भाव एवं भावनाओं का प्रतिष्ठापक है।

भाषागत—भाषागत अन्तर की समीक्षा करने पर हम कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य पाणिनीय युग से पूर्व का है; इसलिए उसमें व्याकरण की इतनी जटिलता नहीं है जितनी परवर्ती भाषा में मिलती है। वैदिक साहित्य की अपेक्षा लौकिक साहित्य में नवीन शब्दों का सृजन होता है, वैदिक लेट् लकार इस साहित्य में पूर्णतः बहिष्कृत है। विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ लुप्त हो जाती हैं। इस लौकिक साहित्य में अपाणिनीय भाषा को सदोष माना जाता है। अन्ततः यही कहा जा सकता है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के जटिल-जाल से मुक्त स्वच्छन्द रूप में प्रवाहित होती थी; किन्तु इस काल की भाषा को व्याकरण के नियमों में कसकर बाँध दिया गया। वैदिक भाषा में जहाँ अलंकारों की संख्या न्यूनतम तीन-चार ही है वहाँ लौकिक भाषा में अलंकारों की संख्या दो सौ से अधिक हो जाती है; फलस्वरूप यह साहित्य अलंकारों की स्वर्णिम छटा से आलोकित है। वैदिक भाषा में छन्दों की संख्या न्यून है तथा मात्रिक छन्दों का ही प्राधान्य है वहाँ लौकिक संस्कृति में अनेक नवीन एवं भिन्न छन्दों की उद्भावना की गई है। बाह्याकार की दृष्टि से विचार करते पर हम दोनों ही भाषाओं के शब्द निर्माण की प्रक्रिया पर यहाँ संकेत करेंगे—

अ—वैदिक संस्कृत में अकारान्त पुल्लिग शब्दों का प्रथमा के बहुवचन का रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों से बनता है; जैसे—देवासः, देवाः लेकिन लौकिक संस्कृत में द्वितीय **देवाः ब्राह्मणाः** इस रूप की प्रधानता है।

ब—इसी प्रकार वैदिक संस्कृत अकारान्त शब्दों में तृतीय से बहुवचन में दो रूप **देवेभि देवैः** मिलते हैं; किन्तु लौकिक संस्कृत में पिछला **देवैः** रूप का ही प्रयोग किया जाता है।

स—वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन आ प्रत्यय के योग से और ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है; उदाहरणार्थ—**अश्विना** तथा **सुष्टुतीः**; परन्तु लौकिक संस्कृत में "औ" तथा तृतीया एकवचन में अप्रत्यय लगता है; उदाहरणार्थ—**अश्विनौ** तथा **सुष्टुत्या**।

य—वैदिक संस्कृत में सप्तमी का एक वचन अनेकशः लुप्त हो जाता है; जैसे—**'परमे व्योमन्'** किन्तु लौकिक संस्कृत में लुप्त नहीं होता अपितु व्योमन् के स्थान पर परिवर्तित होकर 'व्योम्नि' या 'व्योमनि' हो जाता है।

र—वैदिक संस्कृत के अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन आ तथा आनि दो प्रत्ययों के योग से बनता है; जैसे—**विश्वानि अद्भूता**, किन्तु लौकिक संस्कृत में वही **विश्वानि अद्भूतानि** होगा।

ल—वैदिक संस्कृत में क्रियापदों के अन्तर्गत वर्तमान काल के उत्तम पुरुष बहुवचन का रूप 'मसि' प्रत्यय के योग से बनता है; उदाहरण के लिए—'मिनी मसि द्यवद्यवि'। लेकिन लौकिक संस्कृत में 'मिनीमः' रूप बनता है।

व—वैदिक संस्कृत के लोट्लकार मध्यम पुरुष बहुवचन में शृणीत; सुनातन, यतिष्ठान, कृणुतात; जैसे—रूप त, तन्, थन् तात प्रत्ययों के योग से बनते हैं; किन्तु लौकिक संस्कृत में उनका अभाव है।

श—लौकिक संस्कृत में 'लिए' के अर्थ में 'तुमुन' प्रत्यय का प्रयोग होता है; जैसे—गन्तुम, कर्त्तुम्, दृष्टुम; किन्तु वैदिक संस्कृत में इस अर्थ में अनेक प्रत्यय लगते हैं; जैसे—से असे, वसे, अध्यै, शध्यै आदि। इन प्रत्ययों से निर्मित शब्दों में अन्तर स्वाभाविक है।

ष—वैदिक भाषा में आज्ञा तथा सम्भावना के व्यक्त करने के लिए लेट् लकार का प्रयोग होता है; किन्तु लौकिक संस्कृत में इसका अभाव है।

आकृतिगत—भेद पर विचार करने पर हम देखते हैं कि वैदिक व लौकिक भाषा व साहित्य अनेक रूपों में परस्पर भिन्न है। वैदिक साहित्य गद्य-पद्य उभयात्मक है। वैदिक साहित्य में गद्य कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा पाठक संहिता अथर्ववेद के कुछ अंश में, मैत्रायणी संहिता तथा ब्राह्मण साहित्य में मिलता है, वह अपनी स्वाभाविक सरलता से अभिमण्डित है। प्राचीन उपनिषद् आरण्यक एवं ब्राह्मण साहित्य में भी उदात्त गद्य का प्रयोग हुआ है; किन्तु लौकिक साहित्य का विकास एवं उद्भव ही—

मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम्॥

इस अनुष्टुप छन्द से होता है। यही नहीं, लौकिक साहित्य में पद्य का

विकास दिनानुदिन चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है। पद्य का अपना प्रभाव क्षेत्र ज्योतिष एवं आयुर्वेद के ग्रन्थों तक हुआ है। एक ओर जहाँ पद्य अपनी चरम प्रौढ़ि पर पहुँचता है वहाँ गद्य ह्रासोन्मुख होता है जो कि क्रमशः होता ही गया है। यद्यपि लौकिक साहित्य में भी गद्य साहित्य प्राप्त है, किन्तु उसमें वैदिक गद्य की सरलता, स्वाभाविकता नहीं है। यह गद्य तो विकट समास-सम्बन्ध, अलंकार प्राचुर्य तथा दुर्धर विकट शब्द-जाल से ही मण्डित है। इस काल में दर्शन एवं व्याकरण के ग्रंथों में अवश्य ही पूर्णतः गद्य का प्रयोग हुआ है। आशय यही है कि आकृति की दृष्टि से लौकिक साहित्य वैदिक साहित्य से पर्याप्त भिन्न है। दोनों में कुछ मौलिक अन्तर है। लौकिक साहित्य के रसास्वादन के लिए व्याकरण ज्ञान, छन्द का पाण्डित्य, अलंकार प्रेमी तथा काव्यशास्त्र की विभिन्न शैलियों में निष्पात होना अपेक्षित है। इनके अभाव में लौकिक साहित्य का रसास्वादन सम्भव नहीं है। लौकिक साहित्य के रचयिताओं की शैली सदा ही कल्पना बहुल स्वपाण्डित्यप्रदर्शनमूलक तथा आत्म-प्रशंसा प्राप्तार्थ रही है। इसमें हृदय के स्थान पर मस्तिष्क एवं बुद्धि का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है।

वैदिक साहित्य में हम जिन धाराओं एवं विचारों का मूलरूप यत्र-तत्र विच्छिन्न रूप में प्राप्त करते हैं, उन सभी का लौकिक साहित्य में चरम प्रकर्ष मिलता है। उदाहरणतः वेदांग साहित्य, उपवेदों का तो विकास होता ही है महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाट्यशास्त्र, लोक कथा, जन्तु कथा, कामशास्त्र, गद्य-काव्य आदि विभिन्न काव्यों की विधाओं का उदय तथा विकास होता है।

साहित्य समाज का दर्पण तथा मानव की अन्तर्भावनाओं का मूर्त रूप है। इसलिए लौकिक साहित्य में हम मानव की हार्दिक भावनाओं का समयानुरूप अंकन प्राप्त करते हैं। यह साहित्य पौराणिकता के भावों से मण्डित है। पुनर्जन्म का विश्वास यहाँ अधिक दृढ़ होता है। मानव विलास की ओर अग्रसर होता है। मानव सरलता स्वाभाविकता से हटकर अलंकार एवं अस्वाभाविकता की ओर उन्मुख होता है। वैदिक साहित्य कल्पना एवं भावना के विशुद्ध रूप पर निर्भर है। जहाँ मानव का अन्तर्हृदय नैसर्गिक रूप में प्रवाहित होता है, वहाँ लौकिक साहित्य में शास्त्र एवं कला, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति आदि का समन्वय मिलता है। वैदिक साहित्य में प्राकृतिक जीवन, ग्राम्य जीवन-उच्च विचार की भावना है, तो दूसरी ओर नागरिक जीवन वैभव तथा मानव जीवन

का साहित्य है। अन्ततः यही कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि यदि वैदिक साहित्य तत्कालीन जनभाषा साहित्य एवं जनता का साहित्य है तो लौकिक साहित्य अभिजात्यवर्ग का, साहित्यिक भाषा का, नागरिक जीवन का साहित्य है। तथापि दोनों साहित्यों में एकरूपता तथा भारतीयता का सद्-आशय सर्वत्र विद्यमान है।

प्रश्न—वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

Point out the peculiarities of the Rigvedic language as compere with that of the later Samhitas and Classical Literature Note briefly linguistic difference found in the Rigveda itself.

—आ० वि० वि० 58, 61

उत्तर—भारतीय भाषाओं के विकास-क्रम का अध्ययन करते समय हम समग्र विकास को तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—

(1) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा युग [वैदिक युग से 500 ई० पू० तक]

(2) मध्यकालीन आर्यभाषा युग [500 ई० पू० से 1000 ई० पू० तक]

(3) आधुनिक आर्यभाषा युग [1000 ई० से अब तक]

भारतीय आर्यभाषा युग की भाषा का प्रत्यक्षीकरण हम ऋग्वेद की भाषा में करते हैं। इस काल की भाषा का विकास यजु-साम अथर्ववेद एवं सूत्र ग्रंथों तक हुआ है। इसे वैदिक संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है। मध्यकालीन आर्यभाषा युग में एक और वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया। उसे एकरूपता प्रदान की गई, जिसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक भाषा का विकास हुआ। इसी का नाम लौकिक संस्कृत रखा गया। विन्टरनिट्ज ने इसे Classical Sanskrit कहा है। Classical Sanskrit से उसका अभिप्राय क्या है? इसे स्पष्ट करता हुआ वह लिखता है—

What we call classical Sanskrit means Paninis Sanskrit that is the Sanskrit which according to the rules of Panini's is alone correct.

वैदिक भाषा को विन्टरनिट्ज प्राचीन भारतीय भाषा का नाम देते हैं। इस प्राचीन भाषा को जिसमें साहित्यिक कृतियाँ, वैदिक मन्त्र आदि हैं। इस

भाषा के आधार वे उत्तर-पश्चिम से आने वाले आर्यों की बोली को मानते हैं, जो कि प्राचीन फारसी, अवेस्ता तथा प्राचीन इण्डो-ईरानियन भाषा से अधिक दूर नहीं है। इसलिए उनके मत से वेद की भाषा तथा इस प्राचीन इण्डो-ईरानी भाषा में अधिक अन्तर नहीं है। स्वल्प अन्तर है, वह उसी प्रकार का जैसा कि पाली तथा संस्कृत में है। ध्वनि के अनुसार वैदिक तथा लौकिक संस्कृति में अधिक अन्तर नहीं है। इस प्रश्न में हम ऋग्वेद की भाषा, अन्य संहिताओं की भाषा तथा लौकिक संस्कृत में भाषागत कितना अन्तर है, इस पर विचार करते समय विकास के आधार पर हम संहिताओं में सर्वप्रथम पद्य ऋचाओं का बाहुल्य प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद तो सर्वथा ऋचाओं का वेद है, उसमें गद्य के हमें दर्शन नहीं होते हैं। लेकिन परवर्ती संहिताओं की भाषा में पद्य के साथ गद्य के दर्शन भी हो जाते हैं। ब्राह्मण आदि साहित्य में तो गद्य का पर्याप्त विकास हुआ है। इस काल में गद्य प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। लौकिक साहित्य के उदय काल में पद्य का ही बोलबाला रहता है किन्तु कुछ समय के उपरान्त ही गद्य भी अलंकृत सौन्दर्य एवं विकटबन्ध के रूप में आता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि भाषा की विकासधारा पद्य से गद्य की ओर सर्वथा उन्मुख होती रही है।

वैदिक साहित्य के अनुसन्धानकर्त्ताओं ने वैदिक भाषा के अध्ययन करने के पश्चात् यह धारणा बनाई है कि वैदिक साहित्य का सृजन एक साथ होकर एक दीर्घ यात्रा करने के उपरान्त हुआ है, यही नहीं, स्वयं ऋग्वेद के कुल मण्डलों (Family-books) की अपेक्षा अन्य मण्डलों की भाषा में अन्तर है। प्राचीन ऋग्वेद के सूक्तों के रेफ में प्रचुर प्रयोग है। भाषा तत्त्व वेत्ताओं की मान्यता है कि संस्कृत भाषा के विकास के साथ ही ऋचाओं में 'रेफ' के स्थान पर लकार का प्रयोग बढ़ता गया है और लोकोक्ति संस्कृत में तो उसी का साम्राज्य स्थापित हो गया है। उदाहरण के लिए जलवाचक 'सलिल' शब्द का पूर्व रूप **'सरिर'** था तथा कुल मण्डलों (Family books) में 'सरिर' का ही प्रयोग हुआ; किन्तु दशम मण्डल में लकार युक्त शब्द का प्रयोग होने लगा है। व्याकरण की दृष्टि से भी भाषा-भेद दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों में पुल्लिग अकारान्त शब्दों में प्रथमा द्विवचन का प्रत्यय अधिकांश में "आ" आता है; उदाहरणार्थ—**"द्वासुपर्णा सयुजासखाया"**। किन्तु दशम मण्डल में उस (आ) के स्थान पर 'ओ' का भी प्रचलन होने लगा है। जैसे—

"मा बामेतौ मा परेतौ रिषाभं," "सूर्याचन्द्रमसौ धाता" (10।190।3)। प्राचीन सूक्तों 10।18।2 की क्रियाओं में तवै, से, असे, अध्यै आदि अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं परन्तु दसवें मण्डल में अधिकतर "तुमुन्" प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। प्राचीन कर्त्तवै 'जीवसे' 'अवसे' आदि पदों के स्थान पर अधिकतर "कर्त्तुम्' 'जीवितुम्', 'अवितुम्' आदि तुमुन् प्रत्यायन्त प्रयोगों का चातुर्य है। ऋग्वेद के दशम मण्डल की भाषा ही अवशिष्ट तीनों संहिताओं में दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार से ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं की भाषा में अन्तर है।

लौकिक तथा वैदिक संस्कृत के परस्पर अन्तर को हम इस प्रकार से देख सकते हैं—

(1) वैदिक संस्कृत में कर्त्ता कर्म में अकारान्त पुल्लिग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असम् और अस् दो प्रत्ययों को अन्तर्भूत किये रहता है; जैसे— देवासः देवाः, ब्राह्मणासः ब्राह्मणाः, मर्त्यासः मर्त्याः तथा लौकिक संस्कृत में अस् से निर्मित देवाः मर्त्याः ब्राह्मणाः ये रूप मिलते हैं।

(2) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन में भिस् एवं ऐस् दो प्रत्ययों को जोड़ने पर देवेभिः, पूर्वेभिः पूर्वैः रूप मिलते हैं; किन्तु लौकिक संस्कृत में प्रायः पूर्वैः देवैः यह अन्तिम रूप ही मिलता है।

(3) वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन आ प्रत्यय के योग से और इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीय एकवचन ई प्रत्यय के योग से बनता है; उदाहरणार्थ—अश्विना तथा सुष्टुष्ती। किन्तु लौकिक संस्कृत में औं तथा आ प्रत्यय मिलता है। अश्विनी सुष्टुत्या।

(4) वैदिक संस्कृत में सप्तमी एकवचन अनेक स्थानों पर लुप्त हो जाता है; जैसे—परमेव्योभन्, किन्तु लौकिक संस्कृत में यह लुप्त नहीं होता है वहाँ पर व्योम्नि या व्योमनि लिखा जाता है।

(5) वैदिक संस्कृत में अकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों का एकवचन आ तथा आनि दो प्रत्ययों से बनता है; जैसे—'विश्वानि अद्भुता' किन्तु लौकिक में 'विश्वाति अद्भूतानि' होना आवश्यक है।

(6) वैदिक संस्कृत में क्रियाओं में मसि तथा मः मिलते हैं; यथा—इमसि, इम, स्मसि, स्म, मिनीमसि, मिनीमः। किन्तु लौकिक संस्कृत में अन्तिम रूप मिलते हैं तथा धि के स्थान में हि प्राप्त होता है; यथा-एधि, एहि, जधि जहि। कहीं-कहीं दो-दो रूप मिलते हैं—श्रुधि श्रणुधि, अणु, श्रुणुधि इन चारों के स्थान पर लौकिक में श्रणु ही मिलता है।

(7) वैदिक संस्कृत में लोट्लकार मध्यम पुरुष के बहुवचन में त, तन, थन, तात, प्रत्यय लगते हैं; जैसे—श्रुणोत, सुनोतन, यतिष्ठन्, कृणुतात्। जबकि लौकिक संस्कृत में इस प्रकार के रूपों का सर्वथा अभाव है।

(8) लौकिक संस्कृत में किए के अर्थ में तुमुन् प्रत्यय का प्रयोग होता है जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं। इसी प्रकार त्वा के लिए भी अनेक प्रत्यय वैदिक संस्कृत में थे जिनमें आजकल 'त्वा' मात्र ही अवशिष्ट है तथा मसि, ध्वा, ए के स्थान पर मस, ध्वम्, त का प्रयोग होता है।

(9) वैदिक भाषा का सर्वाधिक प्रयुक्त एवं प्रिय लेट् लकार का लौकिक संस्कृत में सर्वथा अभाव है; उदाहरण के लिए—लेट् लकार में तारिषत् जोषिषत् पताति, भवाति, पताम, ईशै आदि क्रियाओं का लौकिक भाषा में सर्वथा अभाव है।

(10) बहुत से वैदिक शब्दों के मध्य या अन्त में प्रयुक्त त्य, ति, तु, अम आदि शब्दों का परवर्ती संस्कृत भाषा में अभाव-सा हो गया है।

(11) वैदिक साहित्य में 'र' का प्रचुर प्रयोग है तो लौकिक साहित्य में 'ल' का प्रयोग; उदाहरण के लिए—म्रुच्, रभ, रोम, रोहित, म्लुच, लभ, लोम लोहित। इसी प्रकार वैदिक ग्रभ् धातु के स्थान में लौकिक संस्कृत में ग्रह हो गया है; जैसे—हस्तग्राभ् हस्तगृह।

(12) वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की शब्दावली में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ है; जैसे—वैदिक, ईम, विचर्षणी अवस्तु, उगिया, रिक्वन् सीम, उक्ष ऊति आदि शब्दों का आज लौकिक संस्कृत भाषा में प्रयोग नहीं मिलता है।

(13) कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो लौकिक संस्कृत में दूसरे अर्थों के बोधक हो गए हैं; उदाहरण के लिए—वैदिक 'अराति' शब्द शत्रुता, कृपणता आदि अर्थ देने के बाद आज केवल 'शत्रु' अर्थ का बोधक हो गया है। 'मृडीक' की इसी प्रकार कृपा अर्थ देने के बाद 'शिव' का बोधक हो गया है। 'अरि', ईश्वर

धार्मिक का अर्थ देकर आज 'शत्रु' का वाचक हो गया है। इस प्रकार 'न' वैदिक साहित्य में इव के अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु लौकिक संस्कृत में 'नहीं' अर्थ का द्योतक है।

(14) शब्द-भेद के साथ ही साथ छन्द की दृष्टि से भी वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर हुआ है। वैदिक संस्कृत में जहाँ तीन-चार अलंकार थे, वहाँ लौकिक संस्कृत में अलंकारों की संख्या लगभग दो सौ है।

(15) वैदिक संस्कृत में उपसर्ग धातुओं से अलग हैं। लौकिक में धातु के साथ ही सम्बद्ध हैं।

(16) वैदिक संस्कृत भाषा में उदात्तानुदात्त, स्वरित आदि का प्रचुर प्रयोग है। लौकिक संस्कृत में ऐसी बात नहीं है।

(17) वैदिक संस्कृत भाषा में सन्धि कार्य नियमानुकूल नहीं है जबकि लौकिक संस्कृत में सन्धि नियम जटिल एवं अनिवार्य है।

(18) लौकिक संस्कृत में वैदिक संस्कृत की अपेक्षा 'स्वरों' की संख्या कम हुई है। 'लृ' स्वर का तो पूर्णतः अभाव हो गया है।

निरुक्तकार द्वारा वैदिक भाषा के अध्ययन होने पर भाषा की एक-रूपता पर बल दिया गया। अतः भाषा विकास एकता की ओर उन्मुख हुआ। पाणिनी ने इसी कार्य को और भी आगे बढ़ाया और अन्त में वैदिक भाषा शब्द सम्पत्ति संक्षिप्त हो गई है।

इस प्रकार वैदिक एवं संस्कृत भाषा में एकता होने पर भी हमें कुछ मौलिक अन्तर मिलते हैं।

प्रश्न – वैदिक साहित्य में प्राप्त शाखा शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा प्राप्त विभिन्न वेदों की शाखाओं का निरूपण कीजिए।

What is the meaning of the word 'Shakha' as applied to Veda ? How many Shakhas of the different Vedas were known to antiquity and many of them have survived to this day ?

—आ० वि० वि० 52

Or

What do you understand by the term Shakha as applied to Vedas ?

—आ० वि० वि० 59

उत्तर—वैदिक साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य है। विश्व साहित्य में इसकी महत्ता अक्षुण्ण है; किन्तु कराल-काल के क्रूर थपेड़ों तथा बर्बर आक्रान्ताओं के भयंकर आघातों से आज सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उपलब्ध नहीं है, तथापि आज उपलब्ध वैदिक साहित्य भी अन्य विश्व की भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा सम्पन्न है।

वैदिक साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करते ही हमें संहिता अथवा शाखा शब्द दृष्टिगोचर होता है। ऋचाओं अथवा मन्त्रों के समूह का नाम ही संहिता है। इसी का अपर नाम शाखा है। इसे हम संस्करण शब्द से भी अभिहित कर सकते हैं। चारों वेदों के अध्येता विभिन्न वंशों के होते थे अथवा यों कहा जाय कि प्राचीन काल में एक गुरु से अध्ययन करने वाले गुरु-पुत्र अथवा शिष्य या वंशजों ने जिस-जिस ज्ञान को अपनी मेधा में संग्रहीत किया तथा परवर्ती समय में अपने-अपने शिष्यों को पढ़ाया; क्योंकि विशाल वैदिक साहित्य किसी एक व्यक्ति के पास सुरक्षित नहीं रह सकता था, न ही विशाल वैदिक साहित्य को एक व्यक्ति पढ़ा ही सकता था इसलिए वेद की अनेक शाखाएँ मिलती हैं। 'स्वाध्यायैक देश मन्त्र ब्राह्मणात्मक: शाखेत्युच्यते। तयो-र्मन्त्र ब्राह्मणयोरन्यतर भेदेन वेदेऽवान्तरशाखाभेद: स्यादिति चेत। सत्यम् (महादेवकृत हिरण्य केश भाषा) तथा "प्रवचन भेदात्प्रति वेदं भिन्ना भूयस्व शाखा" (प्रस्थान-भेद) डा० मंगलदेव जी ने शाखा भेद होने के कारणों पर विचार करते हुये लिखा है "शाखा भेद कैसे हुआ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वैदिक परम्परा में ऐसा समय था, जबकि अध्ययनाध्यापन का आधार केवल मौखिक था, उसी काल में एक ही गुरु के शिष्य-प्रशिष्य भारत जैसे महान् देश में फैलते हुये, विशेषत: गमनागमन की उन दिनों की कठिनाइयों के कारण किसी भी पाठ को पूर्णत: अक्षुण्ण नहीं रख सकते थे। पाठभेद का हो जाना स्वाभाविक था—"एवं वेदं तथा व्यस्यभगवानृषिसत्तम:। शिष्येभ्यश्च पुनंदत्वा तपस्तप्तु गतो वनम्। तस्य शिष्य प्रशिष्यैस्तु शाखा भेदास्त्वि मे कृता:।" वायुपुराण 61।77। साथ ही जान-बूझ कर पाठ का कुछ परिवर्तन या परिवर्द्धन भी अवस्था-विशेष में, संभावना से बाहर की बात नहीं है। एक ऐसा भी समय था, जब नवीन ऋचाएँ भी बनायी जाती थीं। अग्नि: पूर्वेभिर्ऋ-षिभिरीड्यो नूतनैरुत" (ऋग्० 1।1।2) "इमांप्रत्नाय सुष्ठुतिं नवीयसीं वो चेयम्" (ऋग्० 10।91।13) इत्यादि ऋचाओं में स्पष्टत: प्राचीन और नवीन

ऋषियों का और बिल्कुल नवीन बनाई हुई ऋचाओं का उल्लेख है। तभी तो वैदिक वाङ्मय में ऐसी भी ऋचाएँ और मन्त्र मिलते हैं, जो उपलब्ध वैदिक संहिताओं में नहीं पाये जाते। ऐसी अवस्था में पाठ-भेद कर देना या पाठ-भेद का हो जाना असंभावित नहीं हो सकता है।"[1] वस्तुत: यह ठीक भी है क्योंकि आर्यों ने अपना जब स्थान का विस्तार किया, इसी दैशिक विस्तार के कारण भिन्न-भिन्न शाखाओं की उत्पत्ति हुई। अध्ययनाध्यापन के भेद से शाखा भेद 'अध्ययन भेदाच्छाखाभेद.' तथा देश-भेद से शाखाओं की व्यवस्था "देश भेदानशाखानां व्यवस्थानम्" हुई है। यह सिद्धान्त चिर समय से मान्यता प्राप्त है।

ऋग्वेद—विविध पुराण एवं पातंजलि महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख मिलता है। पतंजलि ने लिखा है—

"एक विंशतिधा व्राह्वचम"

किन्तु शौनक ऋषि के चरणव्यूह नामक ग्रन्थ के ऋग्वेद की पाँच शाखाओं का उल्लेख मिलता है; जिनके नाम इस प्रकार हैं—(1) शाकल, (2) वाष्कल, (3) आश्वलायन, (4) माण्डूकायन, (5) सांख्यायन, किन्तु परवर्ती पुराणों में तीन शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त होता है —(1) शाकल, (2) वाष्कल, (3) माण्डूकायन।

आज उपलब्ध शाखा केवल शाकल है। वाष्कल शाखा भी जीर्ण-शीर्ण दशा में मिली है। वैसे इन दोनों शाखाओं में नाममात्र का ही अन्तर है। विषय-वस्तु में भी अन्तर नहीं है, केवल अन्तर इतना ही है कि वाष्कल में शाकल की अपेक्षा आठ सूक्त अधिक हैं। माण्डूकीय शाखा तो उपलब्ध ही नहीं है। आज प्रचारलब्ध ऋग्वेद शाकल शाखा का है। इस शाखा में 1028 सूक्त एवं लगभग 10472 मंत्र संगृहीत हैं जो कि दस मण्डलों में विभक्त हैं। इस शाकल शाखा से सम्बद्ध अन्य जो साहित्य प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है—

ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण,
ऐतरेय आरण्यक तथा कौषीतकी आरण्यक,
ऐतरेय उपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद्।

---

1. भारतीय संस्कृति का विकास।

इनके अतिरिक्त एक आश्वलायन श्रौतसूत्र भी इस वेद से सम्बद्ध मिलता है। शाखाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शाकल ही है, क्योंकि एक तो अन्य शाखाएँ प्राप्त नहीं हैं, दूसरी जो प्राप्त भी हैं, उनमें भी इस शाखा के मन्त्र मिल जाते हैं। सामवेद की कौथुम में 75 मन्त्रों के अतिरिक्त सभी इसी शाखा के मन्त्र हैं। अथर्ववेद का 50 वां का काण्ड पूर्णतः तथा लगभग सम्पूर्ण अथर्व में 7 भाग इसी शाखा के मन्त्रों से बना है। कृष्ण यजुर्वेद में भी इस शाखा के मन्त्र मिल जाते हैं। इस प्रकार शाकल शाखा का वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यजुर्वेद—सूतसंहिता, ब्रह्माण्ड पुराण, स्कन्द पुराण आदि में यजुर्वेद की 107 शाखाओं का उल्लेख मिलता है। मुक्तिकोपनिषद् में 109 शाखाओं का उल्लेख मिलता है। शौनक चरण व्यूह के अनुसार यजुर्वेद की 86 शाखायें हैं किन्तु पातंजलि महाभाष्य में, "**एक शतमध्वर्यु शाखा**" यजुर्वेद की 101 शाखाओं का निर्देश मिलता है।

किन्तु ऋग्वेद के समान ही इस वेद की भी 6 शाखाएँ मिलती हैं। उपलब्ध यजुर्वेदीय शाखाओं में कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध (1) तैत्तिरीय, (2) मैत्रायणी, (3) काठक, (4) कठ-कपिष्ठल हैं तथा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध, (1) वाजसनेयी शाखा तथा (2) काण्व शाखा है।

यद्यपि कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध बारह शाखाओं के नाम विभिन्न पुराणों में मिलते हैं किन्तु अब वे नाममात्र ही शेष हैं। शुक्ल यजुर्वेद की शाखाओं से सम्बद्ध साहित्य में शतपथ ब्राह्मण तथा वृहदारण्यक, ईशोनपनिषद् वृहदारण्यकोपनिषद् का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय आरण्यक तथा तीन तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठोपनिषद् विशेष उल्लेखनीय हैं। इस शाखा के अन्तर्गत आठ सूत्र ग्रन्थ भी मिलते हैं—(1) आपस्तम्ब कल्पसूत्र, (2) बौद्धायन श्रौतसूत्र (3) हिरण्यकेशी कल्पसूत्र, (4) भारद्वाज श्रौतसूत्र, (5) मानव श्रौतसूत्र (6) मानव गृह्यसूत्र, (7) वाराह गृह्यसूत्र, (8) काठक-गृह्यसूत्र।

सामवेद—सामवेद की शाखाओं के विषय में पातंजलि का कथन प्रसिद्ध ही है कि "**सहस्त्रावर्त्मा सामवेदः**" सामवेद के हजार मार्ग हैं अर्थात् सामवेद की एक हजार शाखायें हैं; किन्तु आज तो यह केवल उल्लेख की ही बात रह गई है। शौनकीय चरणव्यूह के—"**सामवेदस्य किल सहस्त्र भेदा आसन्**" में भी एक

हजार शाखाओं का उल्लेख मिलता है। चरणव्यूह की टीका में महीदास ने लिखा है कि "**आसां षोडस शाखानां मध्ये तिस्त्र शाखा विद्यन्ते, गुर्जरदेशे कौथुमी प्रसिद्धा कर्णाटके जैमिनीया प्रसिद्धा, महाराष्ट्रे तु राणायनीया।**" इन सोलह शाखाओं में से अब केवल तीन ही विद्यमान हैं। गुर्जर देश में कौथुम, कर्णाटक में जैमिनीय, महाराष्ट्र में राणायनीय प्रसिद्ध हैं। वैसे तो अन्यान्य ग्रन्थों के विभिन्न उद्धरणों में इस वेद की एक हजार शाखाओं का उल्लेख मिलता है और दिव्यावदान में तो 1080 शाखाओं का उल्लेख है। बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य एवं संस्कृति में लिखते हैं कि "आजकल प्रपञ्चहृदय, दिव्याव-दान, चरणव्यूह तथा जैमिनिगृह्यसूत्र। 1।14 के पर्यालोपयन के 13 शाखाओं के नाम मिलते हैं। सामतर्पण के अवसर पर इन आचार्यों के नाम तर्पण का विधान मिलता है "**राणायन—सत्यमुग्न—व्यास—भागुरि औलुण्डि—गौल्मुलवि—भानुभ्रानौपमन्यव—काराटिमशक गार्ग्य—वाषगण्य— कौथुमि—शालि हौत्र —जैमिनि त्रयोदशैते मे सामगाचार्याः स्वस्ति कुर्वन्तु र्डपकाः**"। इन तेरह आचार्यों में से आजकल केवल तीन आचार्यों की शाखाएँ मिलती हैं—(1) कौथुमीय, (2) राणायनीय, (3) जैमिनीय। ये तीनों ही शाखाएँ प्रकाशित भी है। इन तीनों शाखाओं में सर्वाधिक प्रचार कौथुमीय शाखा का है। इसका प्रचलन गुजरात के श्रीमाली एवं नागर ब्राह्मण तथा बंगाली ब्राह्मणों में है। राणायनीय शाखा प्रथम की अपेक्षा कम प्रचार लब्ध है; इसका प्रचार महाराष्ट्र में है। इस शाखा के मन्त्र आदि कौथुमीय से भिन्न नहीं हैं। दोनों मन्त्रगणना के हिसाब से समान ही हैं। केवल यत्र-तत्र उच्चारण में भिन्नता मिलती है। जैमिनीय शाखा भी प्रकाशित है तथा इसका प्रचार कर्नाटक में है किन्तु इसके अनुयायियों की संख्या कौथुमों की अपेक्षा अल्प है। सामवेद संहिता की कौथुम शाखा में गेय ऋचाओं का ही संकलन हुआ है। इस शाखा की ऋचाओं की कुल संख्या 1875 है जो कि पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिकों में विभक्त हैं। साम-वेद से सम्बद्ध अन्य साहित्य में चार ब्राह्मण दो आरण्यक तथा तीन उपनिषद् सात सूत्र ग्रन्थ हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

ब्राह्मण—(1) तांड्य ब्राह्मण (कौथुमीय), (2) षडविंश ब्राह्मण, (3) साम विधान ब्राह्मण; (4) जैमिनीय ब्राह्मण;

आरण्यक—(1) छान्दोग्य आरण्यक (कौथुमीय), (2) जैमिनीय आरण्यक;

उपनिषद्—(1) छन्दोग्योपनिषद् (कौथुमीय,) (2) केनोपनिषद् (जैमिनीय)
(3) जैमिनीय उपनिषद्,

सूत्रग्रन्थ—कौथुम शाखा—(1) मशक कल्पसूत्र, (2) लाटय्या श्रौतसूत्र,
(3) गोमिल गृह्यसूत्र,

राणायनीय शाखा—(1) द्राह्यायण श्रौतसूत्र, (2) खदिर गृह्य सूत्र।

जैमिनीय शाखा—जैमिनीय श्रौत सूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र।

अथर्ववेद—श्री मदभागवत् एवं वायुपुराण आदि के अनुसार वेदव्यास जी ने जिस शिष्य को अथर्ववेद ज्ञान दिया था, उसका नाम था सुमन्तु। सुमन्तु ने अपने शिष्यों को दो संहिताएँ दीं। पहले पट्ट शिष्य का नाम पथ्य था, पथ्य के तीन शिष्य थे—(1) जाजलि, (2) कुमुद, (3) शौनक और दूसरे शिष्य का नाम था देवदर्श। देवदर्श के चार शिष्य थे—(1) मोद, (2) ब्रह्मवलि, (3) पिप्पलाद, (4) शौष्कायनि या शौक्लायनि। शौनक के भी दो शिष्य थे—बभ्रु तथा सैन्धवायन। इन्हीं नौ ऋषियों के द्वारा अथर्ववेद की शाखाओं का प्रचार व प्रसार हुआ। पातंजल महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में "**नवधाऽऽथर्वणो वेद**" लिखा है जिससे अथर्ववेदीय नौ शाखाओं की पुष्टि होती है, किन्तु प्रपञ्च हृदय चरणव्यूह तथा सायण भाष्य के उपोद्घात में शाखाओं की संख्या में एकता होने पर भी नामों में भेद मिलता है। कुछ भी सही, आज हमें केवल दो शाखाएँ मिलती हैं—एक, शौनक; दूसरी, पिप्लाद। इनमें शौनक शाखा पूर्ण रूप में प्राप्त है तथा प्राप्त अथर्ववेद इसी शाखा का है। दूसरी पिप्पलाद संहिता भी जीर्ण शीर्ण दशा में कश्मीर-नरेश रणजीतसिंह को प्राप्त हुई थी, उन्होंने Roth को भेंट कर दी थी। रॉथ की मृत्यु के उपरान्त इस शाखा को Bloomfield एवं Garvy ने जीर्ण-शीर्ण स्थिति में शारदालिपि में 1901 में 540 चित्रों सहित प्रकाशित करवाया है। शौनक शाखा अधिक प्रचारलब्ध है। पिप्पलाद शाखा के अधिकांश ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं; केवल एक प्रश्नोपनिषद ही प्राप्त है तथा शौनक शाखा का एक गोपथ ब्राह्मण, मुण्डक, माण्डूक्य नामक दो उपनिषद् तथा दो सूत्र ग्रन्थ वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्य-सूत्र आदि सम्बद्ध साहित्य भी उपलब्ध हैं।

विभिन्न स्थलों पर प्राप्त उल्लेखों के आधार पर वेदों की कुल 1131 शाखाएँ हैं; किन्तु आज तो हमें लगभग तेरह ही उपलब्ध हैं। कुछ आलोचकों

ने सामवेद के "सहस्त्र वर्त्मा पद" पर लिखा है कि वर्त्म शब्द शाखावाची न होकर केवल सामगायनों की विभिन्न पद्धतियों का सूचक है। अतः यह संख्या कल्पित ही है। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द जी ने भी शाखाओं के सम्बन्ध में लिखा है कि (1) शाकल, (2) राणायनीय, (3) माध्यन्दिन, और (4) शौनक ये चारों शाखाएँ शाखा न होकर मूल वेद हैं तथा शेष शाखाएँ इन्हीं संहिताओं की व्याख्याएँ हैं। अस्तु, किन्तु हमारा तो अपना विचार यह है कि वेदों की बहुसंख्यक शाखाएँ अवश्य थीं, भले ही उन्हें आप मूल वेद कह लीजिए या व्याख्याएँ। वेदों की शाखाओं की अनेकता भारतीय अध्ययनाध्यापन प्रणाली की सूक्ष्मता एवं गम्भीरता की द्योतक है।

प्रश्न—निम्नलिखित वेद भाष्यकारों के कार्यों का मूल्यांकन कीजिए—यास्क, सायण, दयानन्द और रॉथ।

Assess the value of the contribution made to the Vedic exagesis by Yask Sayan, Dayan and Roth.

—आ० वि० वि० 58, 59, 67

उत्तर—प्राचीनतम कृति का अर्थ समझना सहज कार्य नहीं है। क्योंकि प्राचीनता के साथ भावों में गम्भीरता, भाषा में परिवर्तन एवं कठिनाई आ जाने पर यह समस्या और भी जटिल बन जाती है। भारतीय संस्कृति के आदि ग्रन्थ वेदों के अर्थानुशीलन के सम्बन्ध में यही समस्या है इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् वेदों को भाषा एवं भाव को दुरूह कहकर उसके अर्थ समझने में अपने को असमर्थ मान लेते हैं; किन्तु वैदिक साहित्य में प्राप्त वेदांग साहित्य (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) वेदों के भाष्य एवं अर्थ को समझने से हमारे मार्ग-प्रदर्शक बनते हैं; इन्हीं की सहायता से हम वैदिक शब्द के गूढ़ से गूढ़ अर्थ को समझने में समर्थ हो जाते हैं; प्रायः समस्त भारतीय भाष्यकारों ने उपर्युक्त वेदांग साहित्य की सहायता से वेदों के अर्थों को समझा है और समझाया है।

यास्क—वेदों के गम्भीर एवं सूक्ष्म अर्थ को बतलाने वाला प्रथम ग्रन्थ कौन सा है? यही कहना कुछ कठिन है। आजकल हमें निघंटु नामक एक वैदिक संग्रह मिलता है 'निरुक्त' जिसकी विस्तृत टीका है। **यास्क** निरुक्त शास्त्र के प्राप्त आचार्यों में अन्यतम हैं जिसकी कृति आज हमें समग्र रूप में उपलब्ध

है। निरुक्ताचार्यों में यास्क तेरहवें आचार्य हैं। अनेकशः यास्क के स्वयं के उद्धरणों से चौदह नैरुक्तों की सत्ता का आभास मिलता है। यास्क निघण्टु के व्याख्याकार हैं, स्वयं कर्त्ता नहीं, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं जिसमें एक से तीन अध्याय तक का भाग निघण्टु कहलाता है, चार से छः अध्याय तक का अंश नैगम काण्ड कहलाता है तथा 7 से 12 अध्याय तक का अंश दैवतकाण्ड के नाम से अभिहित किया जाता है।

यास्क प्राचीनतम हैं, इनका काल पाणिनी से भी पूर्ववर्ती है। इनकी भाषा में वैदिक अपाणिनीय प्रयोग अनेकशः मिलते हैं। महाभारत के उल्लेख के अनुसार यास्क का समय विक्रम से सात सौ या आठ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है; किन्तु मैकडानल यास्क का समय पंचम शतक ई० पू० मानते हैं।

यास्क का महत्त्व वैदिक व्याख्याकारों में मूर्धन्य है ब्राह्मण ग्रन्थों के उपरान्त वेद की कल्पना करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। यास्क का महत्त्व परवर्ती प्रत्येक वेद व्याख्याकार ने स्वीकार किया है। प्रत्येक भाष्यकार के ऊपर उनका प्रभाव परिलक्षित होता है। सायण जो कि वेद भाष्यकारों में प्रसिद्धतम है, वे तो पूर्णतः यास्क के ऋणी हैं, यत-तत्र अपने अर्थ की रक्षा के लिए वे यास्क के अर्थ को उद्धत कर यास्क की दुहाई देते चलते हैं। आधुनिक भारतीय वेद व्याख्याकार स्वामी दयानन्द ने भी यास्क का महत्त्व स्पष्टतः स्वीकार किया है। यही नहीं, यास्क की वेद भाष्य-पद्धति को पाश्चात्य वेदानुसन्धानकारियों ने भी अपनाकर यास्क की महत्ता को स्वीकार किया है।

यास्क ने वेद मन्त्रों के भाष्य करते समय दो शैलियों को अपनाया है—1—नैरुक्तक शैली, 2—ऐतिह्यशैली। प्रथम नैरुक्तक शैली में शब्दों की निरुक्तिकर के धातु प्रत्यय आदि का निर्देश किया जाता था और मूल अर्थ को स्पष्ट किया जाता था; जैसे-दुहिता शब्द की निरुक्ति-दुहिता कस्मात् दूरेहिता भवति दोग्धिर्वा" दुहिता क्यों कही जाती है क्योंकि वह (पुत्री) दूर चली जाती है और जब तक घर में रहती है तब तक वह गाय का दोहन भी करती है। दूसरी ऐतिह्य शैली में नित्य इतिहास की कल्पना की गई है। देवताओं को ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार किया गया है। उनके मत से "वेद में इतिहास अनु-

स्यूत है । छान्दोग्योपनिषद् और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इतिहास को पंचम वेद माना गया है । वेद के कोष और वेदार्थ करने में व्याकरण से भी अधिक सहायक ग्रन्थ यास्काचार्य के निरुक्त ने भी वेद में इतिहास माना है । निरुक्त के कई स्थानों में "तत्रेतिहासमाचक्षते" आया है । निरुक्त में यास्क ने इषितसेन, शन्तनु, देवापि आदि के इतिहास का उल्लेख किया है । पिजवन-पुत्र सुदास, कुशिक पुत्र विश्वामित्र आदि का भी विवरण यास्क ने दिया है । निरुक्त के तीसरे अध्याय में यास्क ने प्रस्कण्व को "कण्वस्यपुत्र;" लिखा है । 4·3 में लिखा है—'च्यवन ऋषिभवात' । 9·3 में कहा गया है–"भार्म्यश्वो भम्यश्वस्य पुत्रः" इसी तरह "सन्त पन्तिमाम्" मन्त्र का अर्थ लिखने के बाद यास्क ने सायण की ही तरह लिखा है–कुएँ में गिरे हुए त्रित ऋषि को इस सूक्त का ज्ञान हुआ । इसी मन्त्र के नीचे यास्क ने लिखा है—"तत्र ब्रह्मेतिहास मिश्रं गाथा मिश्रं भवति ।" अर्थात् इतिहासों, ऋचाओं और गाथाओं से युक्त वेद हैं । फलतः यास्क के मत में वेद में इतिहास है इसी का प्रतिपादन करने वाली इनकी दूसरी शैली ऐतिह्य शैली है । एक बात और भी यास्क के भाष्य के विषय में उल्लेखनीय है, वह यह कि यास्क के अनुसार वेद मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हैं आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक । वास्तव में तीनों ही अर्थ जगत् से सम्बन्ध रखते हैं अतः ठीक हैं । प्रत्येक मन्त्र का अर्थ भौतिक जगत् के अर्थ का बोधक है, देवता-विशेष परक अर्थ भी उसमें निहित रहता है तथा परमात्मा का अर्थ भी वह देता है ।

अन्ततः हम यह कहेंगे कि वेद भाष्य परम्परा में यास्क का महत्त्व स्वयं सिद्ध है । यास्क ही वह प्रथम प्रामाणिक व्यक्ति है जिससे नवीन शैली के अनुसार दुरूह शब्दों का निर्वचन कर अर्थ निकाला है । यास्क का निरुक्त वेद भाष्यकारों के लिए Blind Stick के समान है ।

भारतीय वेद भाष्यकर्त्ताओं में सायण का स्थान मूर्धन्य है, इन्होंने समस्त वैदिक संहिताओं के ऊपर भाष्य लिखे हैं । इनका समय चौदहवीं सदी है । ये विजयनगर के अधीश्वर महाराज बुक्क के प्रधानमन्त्री पद पर प्रतिष्ठित थे । वेद भाष्यकारों में सायण के विषय में एक विद्वान् ने लिखा है कि "वैदिक भाषा तथा धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है और वह है सायण का चारों वेदों की संहिताओं का भाष्य" वैदिक परम्परा के पूर्णतः अनुगामी होने के कारण सायण ने भारतीय

विचारधारा को ही अपनाया है। पूर्ववर्ती भाष्यकारों की परम्पराओं का अनुसरण करते हुए पाणिनी व्याकरण, अनुक्रमणी, प्रातिशाख्य और ब्राह्मण तथा निरुक्त ग्रन्थों से सायण ने पूरी-पूरी सहायता ली है। सायण का भाष्य वैदिक परम्परा के अनुरूप है। वह भारतीय दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य विद्वानों H. H. Winston Jacobe आदि के मत से भी सर्वथा विश्वासनीय एवं उपादेय है। सायण के वेद-भाष्य कार्य का मूल्यांकन करते हुए हम कह सकते हैं कि इन्होंने ऋग्वेदीय मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधि-भौतिक तीनों ही प्रकार के अर्थों का यथास्थान उल्लेख किया है। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाली समाधि-भाषा परकीय भाषा तथा लौकिक तीनों ही प्रकार की भाषाओं का रहस्य सायण ने स्पष्ट किया है। इसलिए यह कहना कि इन्होंने केवल अधियज्ञ परक वेदभाष्य किया है, उचित नहीं है। सायण ने समग्र संहिताओं पर क्रमशः कृष्ण, यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, ऋग्वेदीय शाकल संहिता, शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व संहिता, सामवेदीय कौथुम संहिता और अथर्ववेद शौनक संहिता पर भाष्य लिखे हैं, यही नहीं, सायण वेद को दैवी कृति मानकर ही चले हैं। वैसे तो सायण ने आध्यात्मिक आधि-भौतिक, आधिदैविक तीनों ही प्रकार से अर्थ किये हैं; किन्तु सायण की दृष्टि कर्मकाण्डीय अधिक रही है। अतः यज्ञपरक भाष्य का प्राधान्य है ऐसा होना भी आवश्यक था; क्योंकि सायण के समय में कर्मकाण्ड का बोलबाला था। सायण ने अपने भाष्य लिखने में यास्क के निरुक्त से पर्याप्त सहायता ली है प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति सिद्धि तथा स्वराघातों का पूर्ण विवेचन प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर किया है। यास्क के सामने उन्होंने शब्दों के कई अर्थ दिये हैं। निरुक्त का भी खूब जमकर प्रयोग किया है। यास्क द्वारा व्याख्यान मन्त्रों को भी यत्र-तत्र उन्होंने मन्त्रों के आने पर अविकल उद्धृत किया है। सायण सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या एवं भाष्य करने से पूर्व विनियोग, ऋषि, देवता आदि तथ्यों का निर्देशन प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर करते हैं। किसी भी सूक्त में Mythology के आने पर उसको ये पूर्णतः स्पष्ट करते हुए आख्यायिका को उद्धृत कर देते हैं, एक बात और है, वह यह है कि प्रत्येक ग्रन्थ के भाष्य से पूर्व वे उपोद्घात में विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते हैं।

सायण ने भारतीय भाष्यकारों की पूर्व परम्परा के अनुरूप ही भाष्य किया है। उनकी पुष्टि में पुराण, इतिहास तथा महाभारत आदि ग्रन्थों में

आवश्यक रूप में सहायता ली है। समग्र वेद भाष्यों में इनकी विद्वता व्यापक पाण्डित्य एवं अध्यवसाय की सर्वत्र छाप है। परवर्ती भाष्यकार क्या भारतीय और क्या ही पाश्चत्य सभी ने सायण का ही अंचल पकड़ कर वेदभाष्य रूपी वैतरणी को पार करने का उपक्रम किया है।

वेद भाष्यकर्त्ताओं में आचार्य दयानन्द को स्मरण न किया जाय, यह सम्भव नहीं है। आधुनिक युग में देव दयानन्द ने वेदों के उत्थान के किए पर्याप्त कार्य किया है। स्वामी जी ने वेद-भाष्य करते समय रावण, उव्वट-सायण और महीधर के भाष्यों का उपयोग नहीं किया है; अपितु वेद, वेदांग, ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों के अनुसार उन्होंने अपने भाष्य लिखे हैं। स्वामी जी की दृष्टि से उव्वट, सायण, महीधर के भाष्य मूलार्थ और सनातन वेद व्याख्यानों के विरुद्ध हैं तथा आधुनिक विद्वानों द्वारा किये जाने वाले भाष्य भी अपूर्ण हैं। सायणाचार्य ने क्रियाकाण्ड को ही प्रधानता दी है, कहीं-कहीं सायण ने अर्थ भी ठीक नहीं किये हैं, महीधर का भाष्य मूल वेद के विरुद्ध है। इन्हीं सभी कारणों का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने अपने भाष्य को लिखने से पूर्व अपने भाष्य लिखने की आवश्यकता पर विचार करते हुए लिखा है कि—

"इस भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जावेगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई है, उन सबकी निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा तथा जो-जो सायण, माधव, महीधर और अंग्रेजी अन्य भाषा में उल्थे व भाष्य किये जाते व किये गये हैं तथा जो-जो देशान्तर भाषाओं में टीकाएँ हैं, उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुख लाभ पहुँचेगा; क्योंकि बिना सत्यार्थ प्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रम निवृत्ति कदापि नहीं हो सकती। जैसे प्रमाण्या-प्रामाण्य विषय में सत् और असत् कथाओं के देखने में भ्रम की निवृत्ति हो सकती है ऐसे ही यहाँ समझ लेना चाहिए इत्यादि प्रयोजनों के लिए इस वेदाभाष्य का बनाने का आरम्भ किया है।"

महर्षि आगे लिखते हैं कि 'वेदों के चार भाग भिन्न-भिन्न विद्यालयों के कारण हैं। ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके तथा यजुर्वेद में क्रिया-काण्ड

का विधान लिखा है सो ज्ञान के पश्चात् हीत् कर्त्ता की प्रवृत्ति यथाव हो सकती है तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है इसलिए उनके चार भाग किये हैं। निरुक्त के प्रमाणों से वेद मन्त्रों की प्रयोग शैली बतलाते हुए गान विद्या सम्बन्धी वैदिक स्वर का वर्णन किया है फिर वैदिक व्याकरण के उन नियमों को जिनसे कि वेद मन्त्रों के अर्थ जानने से विशेष सहायता मिलती है, प्रमाणपूर्वक दर्शाते हैं। इनके आगे वैदिक अलंकारों का वर्णन है।

स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य में वेदों को अनादि सिद्ध किया है, आपकी दृष्टि में वेदों में लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है तथा वेदों के सभी शब्द यौगिक तथा यौगरूढ़ हैं। इसी आधारशिला पर स्वामी जी के भाष्य का भवन खड़ा हुआ है। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवता वाचक शब्द परमात्मा के वाचक हैं, निरुक्तकार ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है, जितने भी देवता हैं, वे सब एक महान् देवता परमेश्वर की शक्ति के प्रतीक मात्र हैं—

महाभाग्यास् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते
एकस्यात्मनो त्वन्ये देवा प्रत्यङ्गानिभवन्ति ॥

ऋग्वेद में भी—**इद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यो सुपर्णवान्।**

एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः स्वामी जी आध्यात्मिक शैली को अपनाकर चल रहे हैं। वह वस्तुतः ठीक है। वेदों में आये हुए नाम भौगोलिक या ऐतिहासिक नहीं हैं अपितु यौगिक हैं। वेद में आया हुआ वशिष्ठ शब्द ऋषि के लिए नहीं है अपितु वह प्राण का बोधक है, इसी तरह भारद्वाज का अर्थ ऋषि भारद्वाज न होकर मन और विश्वामित्र का अर्थ ऋषि न होकर कान है। स्वामी जी के मत का समर्थन मनु भगवान् ने भी किया है—

सर्वेषां स तें नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् । वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाथाश्च निर्ममे ॥ अर्थात् "वैदिक शब्दों के आधार पर ही संसार के प्राणियों के नाम, कर्म और व्यवस्थापन अलग-अलग किये किये।" इस प्रकार वेदोल्लिखित समग्र उर्वशी, पुरुरवा, नहुष, यम, सुदास आदि के नाम एवं कर्म नित्य हैं और वेदों में नित्य इतिहास है, पौराणिक इतिहास नहीं पुराणादि में

त नामों को लेकर इतिहास रचना की गई है। वेदों में अनित्य इतिहास का भाव है।

किन्तु स्वामीजी के वेदभाष्य के ऊपर विद्वानों का कुछ मतभेद है उनका कहना है कि यास्क ने वेद के मन्त्रों के तीन प्रकार से अर्थ किये हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तीनों वस्तुतः यथार्थ हैं। अतः इन्द्रादि दों से केवल परमेश्वर का अर्थ लिया जाना उचित नहीं है। इसी प्रकार अग्नि भौतिक अग्नि के साथ देव का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है साथ ही साथ परमेश्वर के अर्थ को भी स्पष्ट करता है; किन्तु स्वामीजी ने केवल आध्यात्मिक अर्थ को ही स्वीकार किया है, वह एकाङ्गी विचार है। वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, (पृ० 18-19) के लेखक स्वामी के वेदभाष्य पर विचार करते हुए लिखते हैं कि—

"वैज्ञानिक युग में उत्पन्न होने के कारण इनकी दृष्टि विज्ञान पर थी, वह स्वाभाविक ही था। साथ ही वैज्ञानिक अर्थ प्रकट करने का इन्होंने यत्न भी किया।.....स्वामीजी के समय में भी एक बड़ी अड़चन यह थी कि अन्य विद्वानों की दृष्टि वेदों पर नहीं थी तब बिना सहायता और बिना गुरु-परम्परा के ज्ञान के, केवल व्याकरण-ज्ञान के बल पर स्वामीजी जो कुछ कह सके, वह ही बहुत किया। दूसरी बात यह थी कि स्वामीजी ने कई कारणों से अपने कुछ सिद्धान्त नियत कर लिये थे। उन पर ठेस लगने देना नहीं चाहते थे। स्वतन्त्र देवताओं की स्तुति-प्रार्थना वेदों में स्वीकार कर लेने पर कहीं प्रतीकोपासना सिद्ध न हो जाय, इस भय से इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवता वाचक शब्दों का अर्थ उन्होंने बहुधा 'ईश्वर' ही कर दिया है और इस प्रकार देवता-विज्ञान उनके भाष्य में अप्रकाशित ही रह गया........मन्त्रों में विष्णु आदि शब्दों का अर्थ श्री स्वामीजी ने परमात्मा ही किया है।.....यह भी देखा जाता है कि विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को प्रकट करने की अपेक्षा सामाजिक बातों को, अपने अभिमत आचरणों को और प्रचलित उपभोग की सामग्री को वेद-मन्त्रों में दिखाने का उन्हें विशेष ध्यान था। इसीलिए जिन मन्त्रों का स्पष्टतया वैज्ञानिक अर्थ हो सकता था, उनको भी उन्होंने सामाजिक प्रक्रिया पर ही लगाया है।"

किन्तु निःसन्देह यह सच है कि स्वामीजी ने आधुनिक काल में वेदों के लिए जो कार्य किया है, वेदों की जो पुनः प्रतिष्ठा की है, उसके पठन-पाठन

को जो प्रचार किया है, वेदों के जो मौलिक भाष्य किए हैं, वे अद्वितीय हैं। स्वामीजी ने कृत्रिम मतवादों से हटाकर वेद को उसके मौलिक स्वरूप में सार्वभौम और उदात्त मानव धर्म के प्रतिपादक की जो प्रतिष्ठा की है, वह अपने में पूर्ण है।

रुडाल्फ रॉथ—यूरोप के साथ भारत के सम्बन्ध हो जाने के उपरान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि भारतीय वैदिक साहित्य की ओर गई। यूरोपीय विद्वानों ने पूर्ण लगन के साथ वैदिक साहित्य के अध्ययन में अपने को लगा दिया। विभिन्न प्रकार के ग्रन्थों का सम्पादन और अनुवाद वे करने लगे; परन्तु इन यूरोपीय विद्वानों की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य उस वैज्ञानिक के समान है जो एक रसायनशाला में किसी पदार्थ का विश्लेषण करता है तथा खुदाई में प्राप्त किसी एक शिलालेख का अध्ययन करता है।

पाश्चात्य भाष्यकर्त्ताओं ने वेदभाष्य में दो शैलियों को अपनाया—प्रथम शैली वह थी जो भारतीय विद्वानों के भाष्यों की उपेक्षा कर उन्हीं के अनुरूप भाष्य करते थे—उन भाष्य-कर्त्ताओं का कहना था कि भारतीय विद्वान हमारी अपेक्षा वेदों के अधिक निकट हैं। ठीक इसके विपरीत उन पाश्चात्य विद्वानों का मत है जो भारतीय विद्वानों के भाष्यों की उपेक्षा करते हैं और निरुक्तकार को भी यह मानते हैं कि उनके समय तक वेदों का ठीक अर्थ लुप्त हो चुका था। भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र की सहायता से वेदों का भाष्य और अर्थ करना चाहते हैं; इस मत के प्रवर्त्तक का ही नाम रुडाल्फ रॉथ है जो कि जर्मन विद्वान् हैं; इनकी वेद विषय पर अपनी स्वतन्त्र वेद व्याख्याएं हैं, उनका कहना है कि वेदोत्पत्ति के पर्याप्त समय पश्चात् आज एक भारतीय जैसा अर्थ कर सकता है, उससे अच्छा अर्थ पाश्चात्य देशीय भाषा-विज्ञान की समालोचना पद्धति पर वेद-भाष्य कर सकता है। रॉथ की भाष्य पद्धति के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि—

तुलनात्मक भाषा-शास्त्र तथा इतिहास के साथ-साथ भारतेतर देशों के धर्म तथा रीतिरिवाज का भी अधिक ध्यान करते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धति को अपनाते हैं, केवल अन्धानुकरण नहीं करते हैं। वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर विभिन्न शब्दों के अर्थ निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं; किन्तु दुःख इस बात का है कि रॉथ महोदय दुराग्रहवश अपनी अहम्मन्यता के कारण भारतीय टीकाओं की उपेक्षा करते हैं और इसी कारण भारतीय भाष्यों

की अच्छाइयों को ग्रहण कर पाते। फलस्वरूप वे न तो परम्परा से प्राप्त अर्थ ही दे पाते हैं और न समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही! इसलिए हम कह सकते हैं कि जहाँ इसके भाष्य की अच्छाई तुलनात्मक-ऐतिहासिक शैली है वहाँ परम्परा प्राप्त भारतीय दृष्टिकोण का अभाव एक दोष भी है।

रॉथ की शिष्य परम्परा में ग्रासमान जैसे विद्वानों ने वेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया है। रॉथ ने सन् 1846 में 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक पुस्तक लिखी। इसमें इन्होंने अपनी भाष्य-शैली के सम्बन्ध में विचार किया है। रॉथ ऐतिहासिक परम्परा के अनुकूल ही सेन्ट पीटर्स वर्ग संस्कृत जर्मन महाकोश की रचना करते हैं। इस कोश के निर्माण में शब्द का अर्थ विकास-क्रम से किया गया है तथा इसमें वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक साहित्य के ग्रन्थों तक की सहायता ली गई है।

सप्तम अध्याय

ब्राह्मण साहित्य

प्रश्न – वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान, महत्व तथा उनका रचना-काल बतलाइये।

Describe the characteristics and contents of the Brahman literature. —आ० वि० वि० 56

Or

Discuss the subject-matter of the Brahmans with specical reference to the Sata Path Brahmana. —आ० वि० वि० 57

Or

Explain the place of the Brahmanas in the Vedic literature. —आ० वि० वि० 57

Or

Give a brief account of the contents of the Brahmana literature and mention their utility and relation with the Samhitas.

Or

State the importance and significance of the Brahmana literature and discuss in detail the subject-matter contained therein. —आ० वि० वि० 63

Or

Discuss the view that importance of Sata Path Brahmana is only next to that of the Rigveda in the whole range of Vedic literature. —आ० वि० वि० 53

उत्तर—वैदिक संहिताओं के पश्चात् वैदिक वाङ्मय के समय क्रम में ब्राह्मण संहिता ही महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। ब्राह्मण साहित्य से हमारा अभिप्राय यज्ञ-विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य के मत या वाद से है। ब्राह्मण ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विधान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्याएँ ही हैं। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन् के व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को भी कहते हैं। ब्रह्म शब्द स्वयं अपने अर्थों में प्रयुक्त होता है। उन अनेक अर्थों में एक अर्थ मन्त्र है—**'ब्रह्म वै मन्त्रः'; (शतपथ 7.1.1.5)**। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों या ऋचाओं की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण है। ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ यज्ञ है, याज्ञिक कर्मकांड की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण भी इन ग्रन्थों को ब्राह्मण-ग्रन्थ कहते हैं। श्री बलदेव उपाध्याय ब्राह्मण ग्रन्थों पर विचार करते हुए लिखते हैं—

"इस प्रकार ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मों की तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मणों की अन्तरंग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैधानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है।"[1]

ब्राह्मण शब्द का अर्थ करते हुए विन्टरनिट्ज ने अपने इतिहास में लिखा है—Explanation of utterance of a learned priest of a Doctor of the Science of sacrifice, upon any point of the ritual, used collectively, the word means. Secondly a collection of such utterance and discussion of the priest upon the seience of sacrifice. ब्राह्मण शब्द का अर्थ यह है कि यज्ञ के विधि-विधानों में कुशल विद्वान पुरोहितों द्वारा यज्ञों के अवसर पर प्रयोग की जाने वाली संहिता भाग की विधियों का संकलन। समष्टि रूप में इस शब्द का अर्थ है, यज्ञगत पुरोहितों के उच्चारणों एवं विवादों का संग्रह। गम्भीर विवेचन करने पर हम यह

---

1. अ—**"ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मंत्राणां च व्याख्यान ग्रन्थः"**

—भट्टभास्कर, तै० सं० भा० 1.5.1

ब—**नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोग प्रयोजनम्**
प्रतिष्टान विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते। **—वाचस्पति मिश्र**

स—**वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० 239-40**

निष्कर्ष सहज ही निकाल लेते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु का सीधा सम्बन्ध वैदिक संहिताओं से है। मेरा तो अपना विश्वास यह भी है कि विश्व के साहित्य में कर्मकाण्ड और याज्ञिक विधि-विधानों का इतना सांगोपांग स्वतन्त्र एवं मौलिक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। इन ब्राह्मण नामक ग्रन्थों में याज्ञिक विषयों पर उदीयमान समस्याओं का समाधान है; इसलिए हम इन्हें यज्ञ-विज्ञान की संहिता भी कहें तो अनुपयुक्त न होगा; क्योंकि यज्ञ का क्रिया-कलाप भी स्वयं अपने में एक विज्ञान है। इस प्रकार यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही ब्राह्मण हैं। The Texts which deal with the science of sacrifice.

ब्राह्मण साहित्य के सर्वाङ्गीण विवेचन करने पर हम इस समग्र 'साहित्य' को दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—एक, विधि और दूसरा, अर्थवाद। इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए प्रो० विण्टरनिट्ज ने लिखा है, "प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय को हम विधि और अर्थवाद इन दो भागों में रख सकते हैं। विधि का अर्थ होता है, नियम और अर्थवाद का अभिप्राय है, प्रशस्तिपूर्ण व्याख्या। ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें कर्म अनुष्ठान विधि मिलती है और इन विधियों पर यज्ञ, कर्म तथा प्रार्थनाओं के अर्थ और उद्देश्य के ज्ञान के लिए भाष्य और व्याख्याएँ मिलती हैं जैसा कि पाश्चात्य अनुसंधान-शास्त्रियों को भी मान्य है।"[1]

शबर स्वामी ने ब्राह्मण-ग्रन्थों की विषय-सामग्री को इस श्लोक में संग्रहीत किया है—

> **हेतु निर्वचन निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः**
> **परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना ।**
> **उपमानं दर्शते तु विधियो ब्राह्मस्य तु ॥**
>
> —शाबर भाष्य 2।1।8

अर्थात् यज्ञ का विधान क्यों किया जाय; कब किया जाय; कैसे किया जाय; किन साधनों से किया जाय; इस यज्ञ के अधिकारी कौन हैं और कौन नहीं; आदि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मण ग्रन्थों में होता है। अर्थवाद में निन्दा तथा प्रशंसा का योग रहता है, योग में निषिद्ध एवं उपयोगी वस्तुओं की निन्दा एवं प्रशंसा; यज्ञीय विधि की सोपयुक्तता—अतः हेतु का

1. **वैदिक साहित्य की रूपरेखा : पाण्डेय एवं जोशी, पृ० 167**

निर्देश; अनुष्ठेय विधान की पुष्टि के लिए प्राचीन इतिहास तथा आख्यान के उद्धरण; शब्द-विशेष की व्युत्पत्ति प्रदर्शन; विविध विधियों का विधान आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय हैं; किन्तु यह सर्वांश में सत्य है कि इन ग्रन्थों में विधि का प्राधान्य है। अन्य सभी विषय उस यज्ञीय विधि के उपकारक, व्याख्याकारक तथा विधि को पूर्णता प्रदान करते हैं।

ब्राह्मण काल की संस्कृति में वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड चरम विकास को प्राप्त हो चुका था, मानव मात्र का अनुष्ठेय कर्मयज्ञ ही था, समस्त सुखों की, वैभव की उपलब्धि भी यज्ञकर्म से होती थी। यज्ञ ही देवता था वही विष्णु भी था "यज्ञों वै विष्णुः" तथा यज्ञ ही देवपूजा, संगति, दान आदि का आधार था; उन्हीं यज्ञों का सर्वाङ्गीण विवेचन इन ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्देश्य है। वैदिक एवं ब्राह्मण संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों की विवेचना इन ग्रन्थों में है। इनका महत्त्व इसी में निहित है। वैसे तो विण्टरनिट्ज के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ कर्म रूपी नीरस झाड़-झंकाड़ तथा व्यर्थ की बकवाद ही है तथा मैक्समूलर की दृष्टि में भारतीयों के लिए भले ही इनका कुछ महत्त्व हो; किन्तु भारतीय धर्म एवं संस्कृति पर जिसकी आस्था नहीं है, उसके लिए ये निरर्थक ही हैं क्योंकि इनमें न तो विचारों की व्यापकता है, और न कलागत प्रौढ़ता ही। "ब्राह्मण ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा भाग केवल निरर्थक प्रलाप मात्र है। जब आध्यात्मिक प्रलाप आरम्भ होता है, तो वह अंश और भी अधिक निरर्थक प्रतीत होता है। कोई भी पाठक इनके कुछ पृष्ठ पढ़कर ही उद्विग्नता का अनुभव करने लगता है।" परन्तु भारतीय साहित्य के तत्व जिज्ञासु के लिए भारतीय धर्म के अध्ययन के लिए इनकी अपरिहार्यता निश्चित है। श्री पाण्डेय एवं जोशी लिखते हैं कि—

भारतीयों के पीछे के काल के सम्पूर्ण धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के ज्ञान के दृष्टिकोण से ब्राह्मण ग्रन्थ अत्यन्त ही उपादेय हैं और एक धर्म के विज्ञान के इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अत्यन्त ही आनन्द प्रदायक भी हैं। "ये ब्राह्मण ग्रन्थ पौरोहित्य धर्म के इतिहास के लिए धर्म के विद्यार्थी के पास बहुमूल्य प्रमाण हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि प्रार्थना के इतिहास के लिए यजुर्वेद की संहिताएं बहुमूल्य प्रमाण हैं।"

1. **वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० 155**

ब्राह्मण साहित्य में अपने-अपने विषय के आधार पर भिन्नता है। जहाँ ऋग्वेद के ब्राह्मण में 'होता' नामक ऋत्विज के कार्यों की विवेचना है जो कि यज्ञों में ऋचाओं का उच्चारण करता है। सामवेदीय ब्राह्मण 'उद्गाता' नामक ऋत्विज के कार्यों का परिचायक है तथा यजुर्वेदीय ब्राह्मण 'अध्वर्यु' के कर्मकाण्ड की व्याख्या करते हैं। अथर्ववेद के ब्राह्मण 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज के याज्ञिक कार्यों का निर्देशक एवं उपस्थापक है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से भिन्नता होने पर भी उनमें समानता यह है कि वे सब परस्पर अविरुद्ध हैं। सभी में एक ही विषय पर एक ही प्रकार की चर्चा है। एक ही आदर्श है। समस्त कृतियों में भावात्मक एकता है। ब्राह्मण साहित्य का स्थान संहिताओं के उपरांत आता है। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ-यागादि के प्रामाण्यवाद के प्रतिपादक हैं, कर्मकाण्डीय विधि-विधान के मूल स्रोत हैं, भारतीय एवं ब्राह्मण संस्कृति के तथा भारतीय-विचार-परम्पराओं के अनुवर्त्ती विद्वान् के लिए गौरव ग्रन्थ हैं। इनका वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ब्राह्मण साहित्य के विकास की ओर दृष्टि निक्षेप करने पर हमें यह आभास होने लगता है कि किसी समय इस प्रकार के अनेक ग्रन्थों की सत्ता रही होगी, क्योंकि आज उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो आज अनुपलब्ध है। चारों वैदिक संहिताओं के अपने ब्राह्मण हैं। मूल यजुर्वेद में एक अंश ऐसा उपलब्ध होता है जिसमें मन्त्रों के अतिरिक्त यज्ञों की क्रियाओं से अर्थ, उनकी प्रयोग-विधि एवं मत-मतान्तरों की समीक्षा भी है। कृष्ण यजुर्वेद के इन स्थलों को जिनमें यज्ञ-क्रियाओं का निर्देश तथा तत्सम्बद्ध विचार व्यक्त किये गये हैं, उनको हम निश्चय ही ब्राह्मण साहित्य के प्रारम्भिक रूप स्वीकार कर सकते हैं। यह भी कह सकते हैं कि यही वे अंश हैं जिन्होंने ब्राह्मण साहित्य के उदय को विकास प्रदान किया है। इस प्रकार के ग्रन्थों का किसी काल में अत्यधिक निर्माण हुआ, निर्माण होने के अनन्तर उन्हें प्रत्येक वेद से सम्बद्ध कर दिया गया। विभिन्न शाखाओं से उनका सम्बन्ध जोड़ दिया गया। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से इन ग्रन्थों का बहुत-सा अंश वाग्जाल के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इनमें से कुछ ग्रन्थ तो अन्तःबाह्य किसी भी दृष्टि से पढ़ने के योग्य नहीं हैं; उदाहरण के लिए, सामवेद के कुछ ब्राह्मणों को लिया जा सकता है। मेरे विचार से उन्हें वेदांग कहना ही अधिक ठीक होगा। अथर्ववेद का प्रारम्भ में

कोई ब्राह्मण नहीं था, उसका बाद में निर्माण हुआ जिसका नाम 'गोपथ ब्राह्मण' है। गोपथ ब्राह्मण समस्त ब्राह्मण साहित्य की अन्तिम कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित है।

अब हम क्रमशः प्रत्येक वेद से सम्बद्ध विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

ऋग्वेद—इस वेद के ब्राह्मणों पर दृष्टि निक्षेप करने पर हमें ब्राह्मण ग्रन्थ मिलते हैं; **प्रथम**—ऐतरेय ब्राह्मण, **द्वितीय**—कौषीतकी ब्राह्मण। 'ऐतरेय ब्राह्मण' ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है। इस ग्रन्थ में चालीस अध्याय हैं, जिन्हें आठ पंचकों में विभक्त किया गया है। इस ब्राह्मण के लेखक या संग्रह-कर्त्ता के रूप में **महीदास ऐतरेय** का नाम लिया जाता है। प्रस्तुत ब्राह्मण में सोमयज्ञ का सविस्तार वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक सोलह अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले **अग्निष्टोम** नामक सोम यज्ञ का वर्णन है। सत्तरह एवं अठारहवें अध्याय में 360 दिन पूर्ण होने वाले **गवामयन** नामक सोमयज्ञ का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय से लेकर चौबीसवें अध्याय तक बारह दिन में पूर्ण होने वाले **द्वादशाह** नामक सोम यज्ञ का वर्णन है। अवशिष्ट अध्यायों में **अग्निष्टोम** यज्ञ तथा अन्य विषयों का उल्लेख है। तेईस से लेकर चालीसवें अध्याय तक राज्याभिषेक तथा राजपुरोहित आदि की स्थिति का भी दिग्दर्शन किया गया है। इस ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों की रचना परवर्ती मानी गई है।

ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण का नाम **कौषीतकी** है। **इसे सांख्यायन** ब्राह्मण भी कहा जाता है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथम पाँच अध्यायों का ही परिवर्द्धित रूप है। प्रारम्भिक छः अध्यायों में विविध (अन्न, यज्ञ, अग्नि होत्र यज्ञ, पोर्णमास्येष्टि यज्ञ, ऋतु यज्ञ आदि) यज्ञों का वर्णन है। सातवें से लेकर तीसवें अध्याय तक ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित सोमयज्ञ का सविस्तार विवेचन किया गया है। इसमें ऐतरेय की अपेक्षा अधिक नवीनता विद्यमान है। ऐतरेय ब्राह्मण में यत्र-तत्र संग्रह प्रवृत्ति को देखकर यह पता चलता है कि यह एक व्यक्ति की कृति नहीं है; किन्तु कौषीतकी ब्राह्मण की भावभूमि में एकता विद्यमान है। प्रो० वेबर ने ईशान एवं महादेव से असम्बद्ध सूक्त-विशेष को लेकर प्रमाणित किया है कि यह ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अंश की रचना काल में ही बन चुका था। इस ब्राह्मण की एक अपनी बिशेषता आख्यानों की

सत्ता है। इस ब्राह्मण के तृतीय अध्याय की सातवीं पंचिका में शुनः शेप एवं ऐतरेय ब्राह्मण का आख्यान चर्चित है।

सामवेदी ब्राह्मण—सामवेद से सम्बद्ध चार ब्राह्मण मिलते हैं। इनमें प्रथम महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण का नाम **तांड्य ब्राह्मण** है। यह पच्चीस अध्यायों की रचना है। इसलिए इसे **पञ्चविंश ब्राह्मण** भी कहा जाता है। रचना की दृष्टि से यह प्रौढ़ एवं प्राचीनतम है। इसमें सामान्यतः सोमयज्ञ का वर्णन है। एक दिन से लेकर वर्षों तक चलने वाले यज्ञों की चर्चा इसमें है। अनेक आख्यानों का समावेश है, सरस्वती एवं दृषद्वती के तट पर होने वाले यज्ञ उनके कर्त्ता तथा काल आदि का भी इसमें उल्लेख मिलता है। इस ब्राह्मण में **व्रात्य-स्तोम** नामक एक अन्य यज्ञ का भी विधान है जिसके माध्यम से व्रात्यों (भ्रष्टों) को शुद्ध करके आर्यों अथवा ब्राह्मण जाति में उन्हें स्वीकार किया जाता था।

षड्विंश ब्राह्मण—यद्यपि रचना की दृष्टि से यह पूर्णतः स्वतन्त्र होने पर भी **तांड्य ब्राह्मण** का अंगभूत ब्राह्मण स्वीकार किया जाता है। इसके अन्तिम अध्यायों को अद्भुत ब्राह्मण कहा जाता है इसमें इन्द्रजाल तथा अलौकिक घटनाओं का उल्लेख है। इसमें वेदों के हास्य एवं रोदन का भी संकेत है।

जैमिनीय ब्राह्मण—तवलकार शाखा का यह ब्राह्मण तांड्य की अपेक्षा प्राचीन रचना है। इसमें पाँच मण्डल हैं। प्रथम तीन मण्डलों में याज्ञिक विधि का वर्णन है। चौथा मण्डल उपनिषद् ब्राह्मण कहलाता है। इसका विषय केनोपनिषद् जैसा ही है। पाँचवें मण्डल का नाम **आर्षेय ब्राह्मण** है। इसमें वेदीय ऋदीय की एक लम्बी सूची है। 'जैमिनीय ब्राह्मण' धर्म व आख्यान के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है; किन्तु यह जीर्ण-शीर्ण स्थिति में ही उपलब्ध हैं। डा० रघुवीर ने इस महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण को पूर्ण रूप से प्रकाशित किया है। यह 'जैमिनीय ब्राह्मण' शतपथ ब्राह्मण के समान ही वैदिक विपुलकाय यागानुष्ठानों के रहस्य दर्शन के लिए नितान्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

सामविधान—कुमारिल भट्ट के अनुसार निर्दिष्ट आठ ब्राह्मणों में से यह एक अन्यतम रचना है। इसकी विषय-सामग्री ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित सामग्री से नितान्त भिन्न है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में जादू-टोना तथा शत्रु-विनाश, धनोपार्जन, नाना उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन के साथ कुछ अनुष्ठानों

का विधान है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं जिनमें धर्मसूत्रों में वर्णित दोष, अपराध, उनके प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन है। इन आधारों पर हम इस ग्रन्थ को नूतन रचना कह सकते हैं। ऊपर निर्दिष्ट ब्राह्मणों के अतिरिक्त दैवत ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, देश ब्राह्मण का भी नाम कुछ ग्रन्थों में मिल जाता है जो कि स्वल्पाकार रचनाएँ हैं।

कृष्ण यजुर्वेदीय—तैत्तिरीय ब्राह्मण—इस वेद का 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' ही एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। एक दूसरे '**काठक ब्राह्मण**' का भी नाम सुना जाता है किन्तु वह प्राप्त नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के समान प्राचीन रचना प्रतीत होती है। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है जिन्हें काण्ड कहते हैं। प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि; तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, सौत्रामणि, वृहस्पतिसब; वैश्यसब आदि सबों का वर्णन है। तृतीय काण्ड अर्वाचीन रचना है जिसमें नक्षत्रेष्टि का वर्णन है। पुरुषमेध का वर्णन है।

शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण—'शतपथ ब्राह्मण' ग्रन्थों में शीर्ष स्थानीय है। यह ब्राह्मण सर्वाधिक प्रसिद्ध स्पष्ट विषय-वस्तु-युक्त एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं अतः इसे 'शतपथ' के नाम से अभिहित किया जाता है! इस सुगठित ब्राह्मण का वैदिक साहित्य मे ऋग्वेद के उपरान्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाजसनेयी संहिता की भाँति ही इस ब्राह्मण की भी दो शाखाएँ हैं—प्रथम का नाम काण्ड एवं द्वितीय का नाम माध्यन्दिनीय। माध्यन्दिनीय शाखा के इन ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं, इन अध्यायों का विभाजन चौदह काण्डों में हुआ है। इसके प्रारम्भिक नौ काण्ड यजुर्वेदीय बाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की विस्तृत व्याख्या है। यह अंश अन्तिम पाँच अध्यायों से प्राचीनतर है। प्रथम से लेकर पंचम काण्ड तक विषय की दृष्टि से एकरूपता है। इन अध्यायों में याज्ञवल्क्य एकमात्र आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं; याज्ञवल्क्य ही चौदहवें काण्ड में शतपथ के लेखक के रूप में उल्लिखित हैं; किन्तु 6 से 9 तक के काण्डों में जिनमें अग्निचयन का वर्णन है, याज्ञवल्क्य का कहीं उल्लेख नहीं है। इनके स्थान पर शांडिल्य नामक आचार्य को मान्यता प्राप्त है। यही आचार्य शाण्डिल्य दसवें काण्ड में वर्णित अग्निरहस्य के उपदेशक हैं। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें काण्ड उपनयन स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का

तथा चौदहवें काण्ड में प्रवर्ग्य उत्सव का वर्णन है। इसी काण्ड के अन्त में हम उस महत्त्वपूर्ण वृहदारण्यक उपनिषद् को प्राप्त करते हैं जो दार्शनिक तत्वज्ञान के लिए अन्यतम है।

प्रश्न—वैदिक साहित्य में 'शतपथ ब्राह्मण' का क्या महत्त्व है, स्पष्ट कीजिए।

What is the importance of Sata Path Brahmana in the History of Vedic literature.

—आ० वि० वि० 59

उत्तर—'शतपथ ब्राह्मण' के ऊपर प्रदत्त परिचय से उसके महत्त्व का भी आभास मिल जाता है। शतपथ ब्राह्मण का काल याज्ञिक विधि-विधान के पूर्ण विकास का है। 'शतपथ बाह्मण' के वर्ण्य-विषयों के विस्तार, विचार-परम्परा तथा विवरण के कारण यह ब्राह्मण ब्राह्मण-ग्रन्थों में मूर्धन्य स्वीकार किया जा सकता है। यह प्राचीनतम ब्राह्मणों में से एक ब्राह्मण है यद्यपि इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में दो मत हैं—पहला डा० वाकर नागेल का मत जो ऐतरेय और शतपथ की अपेक्षा पञ्चविंश और तैत्तिरीय को प्राचीन मानते हैं। इस मत का समर्थन डा० ओल्डनवर्ग ने भी संस्कृत के विकास के इतिहास प्रसंग में किया है। जहाँ प्राचीन गद्य का उदाहरण 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' से तथा अर्वाचीन ब्राह्मण गद्य का उदाहरण 'शतपथ ब्राह्मण' से देकर किया है किन्तु डा० कीथ का विचार कुछ इनसे भिन्न है। इसके मत मे 'शतपथ ब्राह्मण' अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा प्राचीनतर है। 'शतपथ ब्राह्मण' श्वरांकित रूप में मिलता है यह उसकी प्राचीनता का द्योतक दुष्ट प्रमाण है; क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण को प्राचीन स्वीकार करने का एक तर्क यही स्वरांकन पद्धति है। याज्ञिक विधि-विधानों का इस ब्राह्मण में पूर्ण प्रकर्ष मिलता है तथा यज्ञ के आध्यात्मिक रहस्य का पर्यालोचन करने के कारण भी इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आख्यान साहित्य की दृष्टि से भी यह ब्राह्मण महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है। प्राचीन आख्यानों में मनु की कथा बड़ी मार्मिक तथा सरस रूप में इसमें निबद्ध है। पुराणों के मत्स्यावतार की गाथा भी इसी ब्राह्मण में सर्वप्रथम निहित मिलती है। जहाँ प्रलयङ्कर बाढ़ के आने पर इसी अपूर्व मत्स्य ने मनु की रक्षा की थी। यह कथा इसी रूप में बाइबिल में भी मिलती है। इस ब्राह्मण में सांख्य दर्शन के आचार्य आसुरी, कुरुपति जनमेजय, पाण्डव

प्रमुख अर्जुन तथा जनक उपाधिधारी राजाओं का उल्लेख मिलता है। शतपथ में याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि का व्यक्तित्व एवं पांडित्य आकर्षक रूप से उपन्यस्त है। अतः हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों के उद्घाटन के लिए भी इस ग्रन्थ की महत्ता अक्षुण्य है। आर्यों के प्रचार के इतिवृत्तात्मक ज्ञान प्रदान करने में भी यह ब्राह्मण अपना योगदान करता है। शतपथ ब्राह्मण के विधि-विधान एवं विविध आख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन के नैतिक स्तर एवं चारित्रिक विशेषताओं का पूर्ण ज्ञान प्रदान करने में समर्थ है। यही नहीं, धर्म-शास्त्र एवं धर्म-विज्ञान के जिज्ञासु के लिये भी यह ब्राह्मण अनुपम आकर ग्रन्थ है। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से भाषा के विकास की गाथा का अध्ययन यहाँ किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के भौगोलिक उल्लेखों से स्पष्ट है कि उस समय कुरू पाञ्चाल के देश ब्राह्मण सभ्यता के केन्द्र बन चुके थे। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास की गाथा जानने के लिए भी यह ग्रन्थ-रत्न परम उपादेय है। यही नहीं, सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से वैदिक संहिता एवं परवर्ती काल का विकास भी इस ब्राह्मण साहित्य में दर्शनीय है। जाति-प्रथा का विकास इन ग्रन्थों में चरमावस्था पर दिखाई देता है। ब्राह्मणों के भुसुरत्व की यहाँ प्रतिष्ठा की जाती है। श्री बलदेव उपाध्याय ने समग्र ब्राह्मण साहित्य के महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए जो विचार व्यक्त किये हैं, उनको हम शतपथ ब्राह्मण के महत्त्व के रूप में भी देख सकते हैं क्योंकि शतपथ ब्राह्मण, ब्राह्मण साहित्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। (क) यज्ञों के नाना रूपों तथा विभिन्न अनुष्ठानों के इतिहास का पूर्ण परिचय देता है। ब्राह्मणों में यज्ञ एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में हमारे सामने आता है। (ख) हम उन निर्वाचनों का परिचय पाते हैं जो निरुक्त की निरुक्ति का मौलिक आधार है। (ग) उन सुन्दर आख्यानों का मूल रूप हमें यहाँ मिलता है जिनका विकास अवान्तर कालीन पुराणों में विशेषतः दृष्टिगोचर होता है। (घ) कर्म-मीमांसा के उत्थान तथा आरम्भ का रूप जानने के लिए ब्राह्मण पूर्व पीठिका का काम करता है। ब्राह्मणों के अध्ययन से हम इन विविध-शास्त्रों के उदय की कथा जान सकते हैं और स्वयं देख सकते हैं कि यज्ञ की आवश्यकता की पूर्ति के लिये उत्पन्न होने वाले ये शास्त्र किस प्रकार सार्वभौम क्षेत्र में पदार्पण कर अपना विकास सम्पन्न करने लगते हैं। (वैदिक साहित्य एवं संस्कृति पृ० सं० 255)

अथर्ववेदीय ब्राह्मण—अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण गोपथ है। इसके दो

भाग हैं 1—पूर्व गोपथ, 2—उत्तर गोपथ। प्रथम भाग में पाँच अध्याय हैं तथा द्वितीय में 6 अध्याय। रचना-काल की दृष्टि से ब्राह्मण साहित्य में यह अर्वाचीन रचना है। इसका रचना काल वैज्ञानिक सूत्र के पश्चात् माना जाता है। प्रस्तुत ब्राह्मण में प्राप्त 'शिव' शब्द तथा व्याकरण परिष्कृत शब्दावली इस तथ्य के द्योतक हैं कि रचना वास्तव में अर्वाचीन है। विषय-वस्तु की दृष्टि से पूर्वार्द्ध मौलिक हैं। किन्तु शेष भाग पर शतपथ ब्राह्मण की छाया अङ्कित है। इस परवर्ती रचना में ऋग्वेदीय ऐतरेय, कौषीतकी तथा पञ्चविंश ब्राह्मण से भी विषय-सामग्री का चयन किया गया है।

सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद के ब्राह्मण 'होता' के कार्यों की विशेष व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जबकि सामवेदीय ब्राह्मण 'उद्गाता' नामक ऋत्विज के कार्यों के व्याख्याता हैं। यजुर्वेद ब्राह्मण 'अध्वर्यु' के कर्मकाण्ड की व्याख्या करते हैं तो अथर्व का ब्राह्मण सभी ब्राह्मणों की विषय-सामग्री एवं ऋत्विज के कार्यों को अपना लेता है। वैसे भी 'ब्रह्मा' नामक प्रधान ऋत्विज का कार्य भी सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण है। समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप में पारस्परिक अन्तर होते हुए भी इन ग्रन्थों में अन्ततः पारस्परिक समानता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना-काल—यह निःसन्देह सत्य है कि जिस प्रकार वेदों के निर्माण एवं संकलन में शताब्दियाँ लगती हैं उसी प्रकार ब्राह्मण साहित्य भी सहस्रों वर्षों के चिन्तन का परिणाम है। इस बात की पुष्टि हम सामवेद के एक ब्राह्मण में प्राप्त पचास गुरुओं के नामों के उल्लेख से कर सकते हैं। इन पचास गुरुओं की लम्बी परम्परा को एक हजार वर्षों का समय सहज ही दिया जा सकता है। वैसे तो विद्वान् कभी-कभी इनकी ऐतिहासिकता पर भी सन्देह करने लगते हैं, किन्तु उनका सन्देह तो समग्र वैदिक साहित्य की ऐतिहासिकता पर भी है जो किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं। साथ ही इन आचार्यों के नामों का उल्लेख हम अन्य ग्रन्थों में भी देखते हैं, पुराणों में भी इन आचार्यों का नाम मिलता है, ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से तात्कालिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्षेत्र के उत्कर्ष का ज्ञान हमें होता है। वह उत्कर्ष काल प्रायः बौद्धकालीन है। क्योंकि निकट परवर्ती बौद्ध-साहित्य में ब्राह्मणों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया है और तो और सत्य तो यह है कि वह बौद्ध-धर्म वास्तव में ब्राह्मणों के उत्कर्ष की प्रतिक्रिया स्वरूप ही था।

इसलिए यदि ब्राह्मण-साहित्य के उदय एवं विकास काल को 1000 ई० पू० से 600 ई० पू० तक स्वीकार कर लिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि मैक्समूलर ने बौद्ध-साहित्य (500 ई० पू०) से वैदिक साहित्य को पूर्ववर्त्ती ठहराया है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध-धर्म का उदय इसी समय में माना है। एक बात और यह भी है कि यह वह काल था, जबकि वैदिक साहित्य सर्वांशतः संकलित हो चुका था। उसके उपरान्त ही ब्राह्मण साहित्य का निर्माण व संकलन हुआ है। अतः संहिता साहित्य के निर्माण के उपरान्त ही ब्राह्मण ग्रन्थों का उदय स्वीकार कर लेना चाहिए।

प्रश्न—संक्षेप में ब्राह्मण साहित्य में प्राप्त प्रमुख उपाख्यानों की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

Q. Narrate briefly and point out the significance of some of the principle mythe found in the Brahmana literature.

उत्तर—यह निर्विवाद सत्य है कि ब्राह्मण साहित्य में याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्राधान्य है। वैदिक कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थ प्रस्तुत करते हैं। ब्राह्मणों में हमें दो प्रकार की सामग्री मिलती है। एक तो वह जिसे हम विधि के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं दूसरी वह जिसे अर्थवाद कहा जाता है। विधि में यज्ञ-योग की गतिविधियों की व्याख्या एवं उन पर प्रकाश डाला जाता है। अर्थवाद के अन्तर्गत इतिहास, पुराण एवं आख्यान आदि मिलते हैं जो याज्ञिक क्रिया को सर्वसाधारण के लिए सुलभ एवं ज्ञेय बनाते हैं। साथ ही मानव चरित्र को नैतिकता का संदेश देते हैं। "उनका प्रणयन तो प्रायः याज्ञिक विधियों की व्याख्या की दृष्टि ने किया गया है। ऐसे भी उपाख्यान मिलते हैं जिनमें वाक् को स्त्री के आदर्श को प्रतिनिधि बनाया गया है।" आशय केवल इतना ही है कि उन उपाख्यानों से दो काम सिद्ध किए जाते हैं—एक तो यज्ञों के स्वरूप का स्पष्टीकरण, दूसरे चारित्रिक एवं सामाजिक आदर्शों की स्थापना।

यास्क ने निरुक्त में वेदों की व्याख्या शैली में ऐतिह्य नैरुक्तिक शैली का संकेत किया है जिससे यह सिद्ध हो जाता कि वैदिक साहित्य में इन आख्यानों-उपाख्यानों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समस्त वैदिक साहित्य में इस प्रकार अनेक उपाख्यान विद्यमान हैं। इस ऋग्वेद के आख्यान-साहित्य पर

विचार करते हुए लगभग बीस आख्यानों की ओर संकेत कर चुके हैं। वैदिक आख्यान ही विशेषतः इन ब्राह्मणों में परिवर्द्धित एवं विकसित रूप में मिलते हैं।

विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न आख्यान देखने को मिलते हैं—

(1) शनुः शेप आख्यान	ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण
(2) पुरुरवा-उर्वशी	शतपथ ब्राह्मण
(3) दुष्यन्त-शकुन्तला	शतपथ ब्राह्मण
(4) जल-प्लावन	शतपथ ब्राह्मण
(5) वाणी एवं सोम	शतपथ ब्राह्मण
(6) वशिष्ठ विश्वामित्र	

(7) च्यवन भार्गव सुकन्या मानवी; रात्रि उत्पत्ति, सृष्टि उत्पत्ति, पर्वत कथा आदि अन्य उपाख्यान भी क्रमशः शतपथ एवं वृहदारण्यकादि में मिलते हैं।

शुनः शेप आख्यान—शनुः शेप की कथा हमें ऋग्वेद साहित्य के पश्चात् ऐतरेय ब्राह्मण में मिलती है। इन रोचक एवं प्राचीन उपाख्यान में हमें तात्कालिक समाज में होने वाली नरबलि की धारणा का आभास मिलता है संभव है कि प्रागैतिहासिक काल में राजसूय आदि यज्ञों के अवसर पर यह नरबलि प्रथा प्रचलित हो; किन्तु स्पष्टतः किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थ या अन्य किसी साहित्य में इसका उल्लेख नहीं है। जहाँ कहीं भी हमे उल्लेख मिलता है वहाँ वह प्रतीकात्मक ही है।

इस उपाख्यान की कथा इस प्रकार है। राजा हरिश्चन्द्र वरुण को प्रसन्न कर सशर्त एक रोहित नामक पुत्र प्राप्त करते हैं किन्तु शर्त यह थी कि जब वरुण चाहेंगे, अपने पुत्र को पुनः वापिस ले लेंगे। पुत्र रोहित के पूर्ण युवा होने पर वरुण उसे माँगता है और राजा उसकी बलि देना चाहता है किन्तु रोहित जंगल में भाग जाता है। उसके भाग जाने पर वरुण के दण्डदान देने पर राजा को जलोदर हो जाता है। रोहित इस समाचार को सुनकर लौटना चाहता है किन्तु ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र उसे भ्रमण के महत्त्व को समझा कर लौटने नहीं देता है। इस प्रकार वह पाँच वर्ष तक वन में घूमता रहता है। छठें वर्ष भ्रमण करते समय रोहित को क्षुधाकुल पथ-भ्रष्ट अजीगर्त ऋषि अपने तीन पुत्र शनुः पुच्छ, शुनः शेप, शूनोलांगुल तथा पत्नी के साथ मिलते हैं। रोहित अजीगर्त ऋषि को एक पुत्र के बदले सौ गायें देने को कहता है। अजीगर्त ज्येष्ठपुत्र को

या पत्नी कनिष्ठपुत्र को नहीं देना चाहते। इसलिए बेचारे शुनःशेप (मध्यपुत्र) ोहित के साथ कर दिये जाते हैं। वरुण क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण को अच्छा मझ कर उसे बलि के रूप में स्वीकार कर लेता है। शुनःशेप की बलि का ायोजन राजसूय यज्ञ के पशु के स्थान पर होता है। इसी समय एक समस्या ौर खड़ी होती है वह यह कि ब्रह्महत्या का पातक कौन अपने सिर ले? जीगर्त सौ गायें स्तम्भ में बाँधने के बदले तथा सौ गायें मारने के बदले लेकर त्या के लिए प्रस्तुत हो जाता है। इसी समय शुनःशेप वेदों की शरण में जाता उनकी प्रार्थना करता है। तीन ऋचाओं में उषा की स्तुति होने पर उसके न्धन खुल जाते हैं। हरिश्चन्द्र का जलोदर ठीक हो जाता है। इसके पश्चात् रोहितवर्ग शुनःशेप का यज्ञ महोत्सव में स्वागत करता है। इस यज्ञ में हरिश्चन्द्र होता' बनते हैं और अपने सौ पुत्रों की उपेक्षा कर शुनःशेप को पुत्र रूप में वीकार कर उसे अपना उत्तराधिकारी भी घोषित करते हैं। इस आख्यान में त्री को मित्र तथा पुत्री को विपत्ति तथा पुत्र को स्वर्गीय प्रकाश कहा गया है। नःशेप का आख्यान प्राचीन होते हुए भी ऋग्वेद से तुलना करने पर यह रवर्ती सिद्ध होता है।

पुरुरवा और उर्वसी—द्वितीय उपाख्यान पुरुरवा और उर्वशी का है। जो क शतपथ ब्राह्मण की मरुभूमि में रम्य शाद्वल प्रवेश के समान है। इस उपा- यान का मूल ऋग्वेदीय है। उसी ऋग्वेदीय कथा का यहाँ विकास हुआ है। हाँ ऋग्वेद में केवल कथोपकथन मात्र है वहाँ इस ब्राह्मण में रोचक एवं स्तृत रूप में निबद्ध है। साहित्य के सौन्दर्य की भी पूर्ण निष्पत्ति यहाँ हुई । वैदिक आख्यान में पुरुरवा वह व्यक्ति है जिसने श्रौतअग्नि की स्थापना का हस्य जानकर याज्ञिक-क्रिया का विस्तार किया था। इस उपाख्यान में हम खते हैं कि उर्वशी नामक अप्सरा का राजा से प्रेम होता है। प्रेम हो जाने के परान्त वह अपनी पत्नी बनाने के लिए कुछ प्रतिज्ञाएं करवाती है। प्रतिज्ञा भंग ने पर गंधर्वों द्वारा उर्वशी राजा को छोड़ने के लिए बाध्य कर दी जाती है। र्वशी जब राजा को छोड़कर चली जाती है तब राजा विरहाकुल विलाप रता हुआ कुरुक्षेत्र में यत्र-तत्र घूमता फिरता है। अन्त में वह उर्वशी को मल पुष्पों को समलंकृत सरोवर में हंसिनी के रूप में तैरते हुए देखता है। यहाँ क की कथा ऋग्वेद की कथा से मिलती-जुलती है। उर्वशी राजा की करुणार्द्र पति से द्रवित होकर राजा से कहती है। इस वर्ष की अन्तिम रात्रि में तुम

मेरे साथ रह सकोगे, तभी तुम्हारा पुत्र होगा । एक वर्ष के उपरान्त दोनों का मिलन होता है। उस समय उर्वशी राजा से कहती है कि कल तुम्हें प्राप्त गंधर्व एक वरदान देंगे । तुम अभीष्ट वस्तु उनसे माँग लेना । राजा उर्वशी से ही माँगने के लिए पूछता है । उर्वशी उस समय बताती है कि तुम वरदान में यह माँगना कि मुझे भी अपना जैसा बना लो । गन्धर्वों के कहने पर राजा अपना अभीष्ट वर माँगता है और गंधर्व भी पुरुरवा को एक अभीष्ट अग्निहोत्र सम्पादन की विधि बताते हैं जिसके द्वारा एक मानव भी गन्धर्व बन सकता है। यह आख्यान ब्राह्मण साहित्य ही क्या अपितु अन्य परवर्ती साहित्यों में भी अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त करता है ।

शतपथ ब्राह्मण में हम **जलप्लावन** की कथा भी देखते हैं जिसमें मनु का आख्यान निहित है । मानव जाति के आदिपुरुष मनु ने सृष्टि की रक्षा कैसे की ? मानवता एवं मानव की जाति के विकास के लिए (पुत्र-प्राप्ति के लिए) मनु यज्ञ करते हैं और यज्ञ में स्त्री उत्पन्न होती है । उसी स्त्री से मनुष्य जाति का विकास होता है । इस मनु की पुत्री का नाम इड़ा है । आगे चलकर यह कथा अनेक काव्यों, महाकाव्यों की प्रेरक बनती है ।

शतपथ ब्राह्मण में निबद्ध च्यवन, भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान भारतीय नारी का रूप प्रस्तुत करता है । वृद्ध च्यवन की चमकती हुई आँखों को फोड़कर स्वयं सुकन्या अपराध करती है । फलतः अपराधिन यौवन सम्पन्न सुकन्या स्वयं प्रायश्चित के रूप में वृद्ध च्यवन को वरण करती है । सुकन्या के इस आचरण से प्रभावित हो, आश्विनकुमार च्यवन को वार्द्धक्य मुक्त करते हैं। अन्त में दोनों ही सरस जीवन व्यतीत करते हैं । भारतीय नारी कितनी कृतज्ञ और मानवीय भावों से भरी हुई है, इसका यह आख्यान सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है।

वशिष्ठ विश्वामित्र दोनों ही प्रागैतिहासिक युग के ऋषि हैं । विश्वामित्र क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिए लालायित थे; किन्तु वशिष्ठ द्वारा उन्हें अङ्गीकार नहीं किया जाता है । बाद में विश्वामित्र घोर तपस्या कर ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेते हैं ।

रात्रि उत्पत्ति कथा—यम की मृत्यु के उपरान्त उसकी बहन यमी सदा रोया ही करती थी । देवताओं के अनेकशः पूछने पर वह सदा यही उत्तर देती थी कि यह आज ही मरा है । देवताओं ने यमी के दुःख-निवारण के लिए ही

रात्रि निर्मित की, जो कि आज भी मानवों को ही नहीं प्राणिमात्र को सुख एवं शान्ति का दान करती है। यह कथा **कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी ब्राह्मण** में निबद्ध है। मैत्रायणी ब्राह्मण में ही पंख सहित पर्वत की उत्पत्ति की कथा भी है। प्रजापति के प्रथम पुत्र 'पर्वत' थे, इनके पंख थे, पृथ्वी भी चलायमान थी, इन्द्र ने पर्वतों का पक्षच्छेद किया, क्योंकि उड़ने वाले पर्वतों से जन-जीवन एवं कृषि आदि की क्षति होती थी। पक्षच्छेदन के समय से पर्वत एवं पृथ्वी स्थिर हो गए। छिन्न पक्ष ही मेघ हैं जो पर्वतों की ओर सदा बढ़ा करते हैं।

एक उपाख्यान में **सोम की चोरी** करने के लिए वाक् से अनुरोध किया जाता है। सोम स्वर्ग में था। गायत्री एक पक्षी के रूप में जाकर उसे उठा लाती है; किन्तु लाते समय गन्धर्व उसकी चोरी कर लेते हैं। देवता अन्त में स्त्री के माध्यम से उसे लाने का प्रयास करते हैं; क्योंकि गन्धर्व स्त्रियों के प्रेमी होते हैं। वाणी को इस कार्य के लिए प्रेरित किया जाता है। वाणी गन्धर्वों के पास जाकर सोम लाती भी है। इस उपाख्यान में वाक् को एक स्त्री के आदर्श का प्रतिनिधि बताया जाता है। इन आख्यानों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के आख्यानों का उद्देश्य यज्ञ की व्याख्या या यज्ञ-महत्त्व का प्रतिपादन या नैतिक शिक्षा है।

सृष्टि सम्बन्धी समस्त कथाएँ प्रजापति से सम्बन्धित हैं। सृष्टि के बाद प्रजापति थक जाता है, शक्तिहीन हो जाता है। पुनश्च जब यज्ञ होता है तो वह शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। एक अवसर पर देवगण इस यज्ञ को करते हैं तथा फिर अन्य अवसर पर स्वयं अग्नि इस यज्ञ को करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक बात बड़ी विचित्र-सी लगती है। वह यह कि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति सबसे महान् देव होते हुए भी एक साधारण सा पात्र है। उस पर व्यभिचार का दोष लगाया जाता है कि उसने अपनी पुत्री या उषा के साथ समागम किया है। उसको इस पाप की सजा देने के लिए देवों ने रुद्र को बनाया, रुद्र ने उसे बाण से छेदा तब मृगशिर नक्षत्र तथा अन्य नक्षत्र समूहों की सृष्टि हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि सम्बन्धी अनेक कथाएँ हैं, पर उनमें परस्पर विरोध है। '**अग्नि होत्र कथा**' सृष्टि की उत्पत्ति दूसरे प्रकार से बताती है; पर शतपथ में ही अन्यत्र वर्णन है कि सर्वप्रथम प्रजापति ने पक्षी बनाए; फिर रेंगने वाले छोटे-छोटे प्राणी बनाए; पर बनने के बाद वे सब नष्ट हो गए। इसका कारण भोजन का अभाव

माना गया। इसके उपरान्त उसने ऐसे जीव बनाए जो स्तन्यपायी थे। उन्हीं से इस सृष्टि का विकास हुआ है। शतपथ में एक स्थान पर ऐसा भी लिखा है कि प्रजापति ने प्राणियों को अपने अंगों से उत्पन्न किया। मस्तिष्क से मनुष्य, आँख से अश्व, श्वास से गाय, कान से भेड़, शब्द से बकरा बनाया गया। मस्तिष्क से उत्पन्न मनुष्य की प्राणिमात्र में प्रधानता स्वतःसिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी अनेक कथाएँ इन ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं जिनसे भारतीय विचारधारा के विकास की गाथा निहित है। अनेक आख्यान रहस्यात्मक हैं। याज्ञिक व्याख्याओं को स्पष्ट करते हुए तात्कालिक धार्मिक एवं सामाजिक चित्र प्रस्तुत होते हैं। इन व्याख्यानों का अभिप्राय क्या है? यह विषय पर्याप्त विवादास्पद रहा है। वैदिक व्याख्याकारों की दृष्टि में ये आख्यान रहस्यवादी हैं; किन्तु डा० ब्लूमफील्ड ने इस विचारधारा का खण्डन किया है। श्री बल्देव उपाध्याय ने भी "आख्यानों को उनके मानवीय मूल्य से वंचित करना कथमपि न्याय और उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है।' लिखकर रहस्यवादी विचारों का खण्डन किया है। वस्तुतः आख्यान साहित्य मानवीय कल्याण की भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। इन आख्यानों को समाज-शास्त्रीय निष्कर्ष पर देखने पर हम कह सकते हैं कि याज्ञिक क्रियाकाण्डों को सर्वसुलभ सर्वज्ञेय बनाने के साथ-साथ नैतिकता का उपदेश देना इसका प्रधान उद्देश्य रहा है। इन आख्यानों का उद्देश्य मानव को मानवता की शिक्षा देना, राष्ट्र-मंगल की कामना, आचार-विचार परिशुद्धि, ईश्वर में आस्था तथा नैतिकता का दुःखदायी परिणाम प्रदर्शन आदि हैं। ऋषि तथा मुनियों ने तपः परिपूत हो, जो आचार एवं निष्ठा प्रदर्शित की, यज्ञ संस्थाओं का निर्माण किया; वह सभी मानव कल्याण के लिए था। भावी सन्तान इन्हीं उच्चादर्शों एवं भावनाओं से युक्त हो, जीवन में प्रतिष्ठा प्राप्त करे, यही शिक्षा एवं विशेषता इस आख्यान साहित्य की निधि है।

प्रश्न—संहिता एवं ब्राह्मणों के विषय पार्थक्य को स्पष्ट कीजिए।

Discnss if there is a clear cut line of demarcation between the Sambitas and Brahmanas.

उत्तर—संस्कृत वाङ्मय में सर्वप्रथम जिन ज्ञानराशि का उदय एवं संकलन हुआ, उनका नाम संहिता है। संहिताओं का परवर्ती साहित्य से पार्थक्य स्वाभाविक एवं युक्तिसंगत है। क्योंकि संहिता काल में मानव निसर्ग सुलभ

भावनाओं का प्राधान्य था तथा मानव जाति अथवा मानवता सांसारिक बंधनों की ओर इतनी उन्मुख नहीं हुई थी; किन्तु परवर्ती साहित्य के उदय काल में मानवीय भावनाओं में पर्याप्त विकास हुआ, इसलिये इस काल के निर्मित ब्राह्मण साहित्य तथा संहिताओं में स्वल्प अन्तर मिलता है। संहिता काल में ऋषियों की निसर्गस्वभाव-सुलभ-बुद्धि है तो ब्राह्मण साहित्य में ब्राह्मणों द्वारा याज्ञिक विधि-विधानों में अपने को भूसुरत्व दिलाने की भावना प्रबल है, अपने लिए दान-दक्षिणा के विधान हैं। कुछ अस्वाभाविकता एवं भावनाओं में जटिलता भी है।

संहिता एवं ब्राह्मण साहित्य में प्रथम मौलिक अन्तर यह है कि अधिकांश संहिता भाग (कृष्ण यजुर्वेद तथा अथर्व के कुछ अंश को छोड़कर) छन्दोबद्ध हैं तो दूसरी ओर समग्र ब्राह्मण साहित्य गद्य में निहित है। विषय-वस्तु की दृष्टि में संहिता साहित्य में देवताओं की स्तुति है, विशेषतः ऋग्वेद में देवताओं का प्राधान्य है; उन्हीं की प्रशंसा है, सामवेद में वैदिक देवताओं का उच्च स्वर से यज्ञ के अवसर पर आह्वान है। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड एवं यज्ञों के महत्त्व की प्रतिष्ठा है। अथर्ववेद में लौकिकता का खुला साम्राज्य है जिसके सामने अन्य सभी भावभूमियाँ धूमिल पड़ जाती हैं। अथर्व में रोग-निवारक भैषज्य सूक्त हैं प्रेम-विवाह एवं गृहस्थ धर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रशंसा है, राज्य-शासन युद्ध-संचालन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वर्गीकरण आदि लौकिक विषयों का पल्लवन है; किन्तु ब्राह्मण साहित्य की विषय-वस्तु में याज्ञिक क्रियाओं की ही प्रधानता है, विधि अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा, निर्वचन, पुराकल्प हेतु आदि विषयों की विनियोजना है, विधि के अन्तर्गत यज्ञ-यागादि कब, कैसे, क्यों एवं कहाँ आदि के समाधान हैं तथा यज्ञ के साधनभूत विविध उपकरण, यज्ञ आदि का विवरण है। यज्ञ के अधिकारी-अनधिकारी का निर्णय, यागनिषिद्ध वस्तु की निन्दा तथा यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा है। संयुक्तिक विधि विधान है। जहाँ कल्पना की अपेक्षा तर्क की मान्यता है। आशय यही है कि यज्ञ से ही सम्बद्ध विषयों की ब्राह्मण ग्रन्थों में उपस्थापना है। इस प्रकार यदि संहिताओं में स्तुति एवं प्रार्थना की प्रधानता है तो ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक विधि विधान का प्राधान्य। श्री बल्देव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है **"ब्राह्मणों में विधि ही वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर निरुति, स्तुति, आख्यान तथा हेतु-वचन आदि विविध विषय अपना आवर्तन**

पूरा किया करते हैं"[1] एक बात और यह भी है कि संहिता-साहित्य में यज्ञ का स्थान गौण है तो ब्राह्मण-साहित्य में चरम विकसित है। संहिताओं के देवताओं को यहाँ गौण स्थान प्राप्त है।

अन्य आधारों पर भी यदि हम परीक्षण करें तो दोनों साहित्यों में भेदक तत्त्व इस प्रकार देख सकते हैं। वैदिक संहिताएँ सुदूर अतीत की रचनाएँ हैं तो ब्राह्मण साहित्य परिपक्व विचारों से सम्भूत विकसित काल की कृतियाँ। स्थान के विचार से संहिताएँ सरस्वती नदी एवं सिन्धु सप्तक के तट पर बनी थी तो ब्राह्मण साहित्य का सृजन ब्रह्मावर्त में हुआ था—संहिताओं के काल में वैदिक ऋषि प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की प्रतिष्ठा कर उनकी उपासना करते हैं। ये वैदिक देव शारीरिक रचना में तो मानवीय होते हुए भी छायात्मक हैं। ऋग्वेद में तो बहुदेववाद की प्रतिष्ठा है तो ब्राह्मण साहित्य में यज्ञ एवं प्रजापति को महत्व प्राप्त है। प्रजापति ही इस काल में परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित है। संहिता काल में जो वर्णाश्रम व्यवस्था उचित हो रही थी, उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है।

इस प्रकार हमें दोनों साहित्यों में पार्थक्यबोधक कुछ तत्त्व मिल जाते हैं तथापि **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"**, **"मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद"** ही वैदिक साहित्य है। संहिताओं की व्याख्या एवं परिशिष्ट ब्राह्मण-ग्रन्थ है। ब्राह्मणों का अन्तिम भाग आरण्यक, आरण्यक का अन्तिम भाग उपनिषद है। इस प्रकार समग्र वैदिक साहित्य परम्पराश्रित है।

---

1. **वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० 243**

अष्टम अध्याय

आरण्यक एवं उपनिषद्

96

98

प्रश्न—आरण्यक साहित्य का सामान्य परिचय दीजिये।

उत्तर—ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट 'आरण्यक' साहित्य का भी वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आरण्यक उस साहित्य को कहा जाता है जिनका अध्ययनाध्यापन नगरों और ग्रामों से दूर अरण्य में होता था—

अरण्याध्यनादेतद् आरण्यकमितीयते।
अरण्ये तत्धीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥

—तै० आ० भा०; श्लोक 6

किसी किसी विद्वान् के अनुसार यदि आरण्यकों का अध्ययनाध्यापन उचित रूप में न हो तो वह हानिकर भी होता है। विण्टरनिट्ज आरण्यकों पर विचार करते हुए लिखते हैं—

These texts comprised everything which was a secret. Uncarmy character, and skilt danger to the uninitiated and which, far that reason, might only be taught and learnt in the forest, and not in the village.

आरण्यकों का प्रधान विवेच्य विषय यज्ञानुष्ठान के विधि नियमों की व्याख्या करना न था अपितु यज्ञों के गूढ़ और लाक्षणिक विवेचन के साथ-साथ पुरोहित वर्ग की विचारधारा की दार्शनिकता के पुट के साथ प्रतिष्ठा करनी थी। आरण्यकों में प्राणविद्या की भी महिमा विशेष रूप से गाई गई है। काल के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप का विवेचन तैत्तिरीय आयण्यक में किया गया है। इसी आरण्यक में ऋतुओं के रूप का भी वर्णन कियागया है।

आरण्यक एवं उपनिषद् साहित्य परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि इनकी पृथक सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। इन ग्रन्थों को वेदान्त भी कहा जाता है क्योंकि इन ग्रन्थों का वैदिक साहित्य में सबसे अन्त में स्थान है और उपनिषद् तथा आरण्यक परस्पर संश्लिष्ट हैं, उदाहरण के लिए—ऐतरेय आरण्यक में ऐतरेय उपनिषद् संश्लिष्ट है। इनका आधार-ग्रन्थ ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण है। ऋग्वेदीय कौषीतकी ब्राह्मण का अन्तिम भाग कौषीतकी आरण्यक है। कौषीतकी उपनिषद् इसी आरण्यक का ही एक अंश हैं। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण से तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् एवं महानारायणोपनिषद् परस्पर सम्बद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड का तृतीय भाग एक आरण्यक ही है। इसी के अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् संलग्न हैं। सामवेदीय काण्ड महाब्राह्मण के आरण्यक का प्रथम अध्याय ही छान्दोग्योपनिषद् है। सामवेदीय जैमिनीय शाखा से सम्बन्धित जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण एक आरण्यक है। इसी का एक भाग केनोपनिषद् अथवा तवलाकारोपनिषद् है। तैत्तिरीय आरण्यक से सम्बद्ध महानारायणोपनिषद् के अतिरिक्त अन्य सभी से ये उपनिषदें प्राचीन हैं तथा आरण्यकों से सम्बद्ध हैं। भाषा एवं शैली की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही हैं।

विषय-वस्तु

आरण्यक साहित्य का विशिष्ट विषय प्राणविद्या है। इसकी साधना एकान्त एवं शान्त वातावरण में होती है। प्राणविद्या आरण्यक साहित्य की अपनी मौलिक उद्भावना नहीं है, इस विद्या का मूल ऋग्वेद के मन्त्रों (1.168 31, 38) में मिलता है, अतः इस विद्या का महत्त्व तथा उसकी प्राचीनता स्वयंसिद्ध है। प्राण विश्व को धारण करता है। प्राण की शक्ति से मानो यह आकाश स्थिर है और महान् प्राणी से लेकर छोटे से छोटे प्राणी तक इस प्राण द्वारा विधृत है—

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्य विष्टब्धः, तद्ययायमाकाशः प्राणेन बृहत्या बिष्टब्ध एवं सर्वाधि भूतानि आपिपीलकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येत्रं विद्यात् (ऐत० आर० 2.1.6)

यह सम्पूर्ण जगत प्राण से आवृत है "**सर्वं हीदं प्राणेनावृतम**"। प्राण विश्व का धारक तथा रक्षक है। वह आयु कारण है—यावद्धयस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः। (कौषीतकी उपनिषद् 1.2) ऐतरेय आरण्यक में प्राण के

विभिन्न गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—'प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति ।अन्तरिक्षमनुश्रृण्यम्ति ।वायुरस्मै पुष्प गन्धमावहित। एवमेती प्राणपितरं परिचरतोऽन्तरिक्ष च वायुश्च; अर्थात् प्राण ही अन्तरिक्ष तथा वायु का सृष्टा है। प्राण पिता है। अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान है।

ऐतरेय आरण्यक के अनुसार प्राण देवता है। वाग् में अग्निदेव का आवास है, चक्षु सूर्य है, मन इन्द्र है, कर्ण दिशाएँ हैं। प्राण में हम सभी देवों की भावना करनी चाहिए।

प्राण को ऋषि भी माना है। श्री बल्देव उपाध्याय लिखते हैं कि ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं। इन सब ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिए, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के आकार में विद्यमान है। प्राण ही शयन के समय वाग्, चक्षु आदि इन्द्रियों के निवारण करने के कारण **'गृत्स'** कहलाता है और रति के समय में वीर्य के विसर्गजन्य मद उत्पन्न करने के कारण अपना ही 'मद' हुआ। अतः प्राण और आपान के संयोग को **गृत्समद** कहते हैं। प्राण ही **विश्वामित्र** है क्योंकि इस प्राण देवता का यह समस्त विश्व भोग्य होने के कारण मित्र है। (**विश्व मित्र यस्य असौ विश्वामित्रः**) प्राण को देखकर वागायाभिमानी देवताओं ने कहा, "यही हम में वाम" वननीय, भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हम में श्रेष्ठ है। इसी हेतु देवों में 'वाम' होने से प्राण ही वामदेव है। प्राण ही अत्रि है क्योंकि इस प्राण ने ही समस्त विषय को पाप से बचाया है (**सर्व पाप्मनो ऽत्रायत इति अत्रिः**) प्राण ही **भरद्वाज** है। गतिसम्पन्न होने से मनुष्य की देह को 'वाज' कहते हैं। प्राण इस शरीर में प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत् किया करता है। अतः वह प्राण 'बिभ्रद्वाज' है। इसी कारण वह भरद्वाज है। देवताओं ने प्राण को देखकर कहा था कि तुम वशिष्ठ हो, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रयों के निवास करने के प्राण ही है। प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवास का हेतु है। अतः वह **वसिष्ठ** हुआ। इन निर्वचनों से यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषि रूप है। अतः प्राण में इन ऋषियों की भावना करनी चाहिए तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिए।"[1]

---

1. **वैदिक साहित्य और संस्कृत**, पृ० 312

प्राण के विषय में ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि जितनी ऋचाएँ, वेद और घोष हैं, वे सब प्राणमय हैं; अतः उपास्य भी हैं—

सर्वाऋचः सर्वेवेदाः सर्वे घोर्षा एकैव व्याहृतिः
प्राण एव प्राण ऋच् इत्येव विद्यात्। (1।2।10)

ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण आरण्यक है। इस आरण्यक में विद्वान पाँच आरण्यकों को संश्लिष्ट मानते हैं। इसके प्रथम आरण्यकों में महाव्रत, द्वितीय में उक्थ, शास्त्र, प्राणविद्या तथा पुरुष का विवेचन है। तृतीय में संहिता, पद, क्रमपाठ, स्वर तथा व्यंजन के स्वरूप का विवेचन है। इन आरण्यकों में से प्रारम्भिक तीन आरण्यकों के रचयिता ऐतरेय हैं। चतुर्थ के आश्वलायन हैं, यह एक छोटा-सा आरण्यक है। पाँचवें के रचयिता शौनक हैं—इसमें निष्केवल्य शस्त्र का वर्णन है।

ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक शांखायन है। इसकी विषय-वस्तु ऐतरेय के समान ही है। इसमें पन्द्रह अध्याय हैं। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध एक वृहदारण्यक भी है। इसमें आत्मतत्त्व का विवेचन है, अतः इसे विद्वान् उपनिषद् भी मान लेते हैं। इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा का एक आरण्यक है, उसे भी विद्वान मैत्रायणीय उपनिषद् कहते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक महत्त्वपूर्ण आरण्यक है इसमें दस प्रपाठक हैं जिनमें अग्नि उपासना, स्वाध्याय तथा महायज्ञों का विस्तार से विवेचन है। सामवेद से सम्बद्ध तवलकार आरण्यक है। यह चार अध्याय की रचना है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

आरण्यक साहित्य महान् आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस साहित्य में उपलब्ध विचारधारा का व्यापक विवेचन उपनिषद् साहित्य में मिलता है। आरण्यक साहित्य को ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषद् साहित्य के मध्य की कड़ी मानना नितान्त आवश्यक है "आरण्यकों का स्थान ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के बीच है और जैसा कि उनका नाम संकेत करता है, आरण्यक उन पुरुषों के मनन एवं चिन्तन के विषय थे जो वनों में रहते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में उन कर्मकाण्डों का विवेचन है जिनका विधान गृहस्थ के लिए था; किन्तु वृद्धावस्था में जब वनों का आश्रय लेता है तो कर्मकाण्ड के स्थान में किसी और वस्तु की उसे आवश्यकता है और आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करते हैं।

ाज्ञिक सम्प्रदाय के सांकेतिक एवं धार्मिक पक्षों पर मनन व चिन्तन किया ाया है और यह मनन ही यज्ञ की विधि में परिणित हुआ है। आरण्यक एक कार से ब्राह्मणों में विहित कर्मकाण्डों एवं उपनिषदों के दार्शनिक ज्ञान के ध्यवर्ती की शृङ्खला के रूप में हैं।"[1]

प्रश्न—'उपनिषद्' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'उपनिषद् साहित्य' के ौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।

What are the fundamental doctrines of the Upanisada ?

—आ० वि० वि० 56, 65

Or

Attempt a note distinguishing clearly the subject-matter f the Bramanas and Upanisadas.

—आ० वि० वि० 61

Or

Point out releationship between the Brahmanas and the panisada s. Describe briefly the nature of their respective ubject-matter and doctrines.

—आ० वि० वि० 55

Or

Trace the development of philosophical thoughts in the edic period.

प्रश्न—वैदिक काल में दार्शनिक विचारों का विकास दिखलाइए।

उत्तर—वैदिक साहित्य में उपनिषदें सबसे अर्वाचीन साहित्य के रूप में ानी जाती हैं। वैदिक साहित्य एवं इस साहित्य में कुछ मौलिक अन्तर है। वल स्वल्प अन्तर ही है, इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उपनिषदें दों का वैदिक विचारों का अनादर करती हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि वैदिक ाहित्य में एकाध स्थलों पर प्राप्त दार्शनिक विचार यहाँ अपने चरमोत्कर्षो प में दिखलाई देते हैं। जहाँ वेद यज्ञ के माध्यम से मनुष्यों को शाश्वत

1. डा० राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, पृ० 59

सुख देना चाहते हैं, वहाँ उपनिषद्कालीन विचारों में यज्ञों से केवल नश्वर सुख ही मिल सकता है। स्वर्ग के विषय में भी उपनिषदें यह मानती हैं कि स्वर्ग सुख का भोग जीव तब तक कर सकता है जब तक उसके पूर्ण पुण्य शेष हैं, पुण्यों के क्षीण होते ही उसे जन्म लेना पड़ेगा। फिर मृत्यु होगी, जो दुःख का कारण है। उपनिषदों के अनुसार मानव का ध्येय सुख की प्राप्ति है। सुख तभी सम्भव है जब कि मानव आत्मा मृत्यु और जन्म के बन्धन से छूट जावे। कहने का आशय यही है कि औपनिषदिक विचार वैदिक विचारों के विरोधी नहीं हैं, अपितु उन्हीं विचारों के समर्थक हैं किन्तु कुछ मौलिक ढंग से।

ब्राह्मण साहित्य गार्हस्थ्य जीवन में होने वाले कर्मकाण्ड की व्याख्या है तो आरण्यक एवं उपनिषद् एकान्त निरवच्छन्न अरण्य में ब्रह्मचर्य से परिपूरित वानप्रस्थियों के लिए गम्भीर बौद्धिक चिन्तन है। वेद का अन्तिम अंश होने के कारण यह साहित्य **वेदान्त** के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वैदिक धर्म की मूलतत्त्व प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य स्थान का अधिकारी उपनिषद् साहित्य ही है। वस्तुतः यह साहित्य आध्यात्मिक मानसरोवर है जहाँ से ज्ञान की निर्मल गंगा विश्व के दार्शनिकों के हृदयों को पूत करती हुई ऐहिकामुष्मिक मंगल-साधना करती हुई आज भी अजस्र रूप में प्रवाहित हो रही है।

उपनिषद् शब्द के व्युत्पत्ति-लक्ष्य शब्द पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह शब्द **उप+नि+सद्** धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है शिष्य का गुरु के समीप रहस्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए बैठना—To sit down near some one. इसलिए इस शब्द का अर्थ Secret Session भी किया जाता है जिसका भाव Secret Doctrine भी है। ओल्डनवर्ग इस शब्द का अर्थ A Form of Worship कहते हैं जोकि विन्टरनिट्ज की दृष्टि से भ्रामक है। भारतीय साहित्य परम्परा में उपनिषद् शब्द के लिए एक दूसरा शब्द भी मिलता है जिसका अर्थ है, **गुप्त प्रच्छन्न**। उपनिषदों में स्वयं ही यत्र-तत्र 'इति रहस्य', 'इति उपनिषद्' शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसलिए कहीं-कहीं उपनिषदों में संकेत मिलते हैं कि ज्ञान को अपात्र व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर लिखा है कि ब्रह्मज्ञान ज्येष्ठ पुत्र तथा विश्वस्त शिष्य के अतिरिक्त किसी अन्य को नहीं देना चाहिये, भले ही वह ससागरा वसुन्धरा व रत्नों का अक्षय कोष ही क्यों न प्रदान करें।

ाशय यही है कि किसी अपात्र व्यक्ति को इस ज्ञान का उपदेश नहीं देना ाहिए। रहस्यमय प्रत्येक ज्ञान एवं रचना के लिए उपनिषद् शब्द का प्रयोग चरकाल से होता आया है। सबसे बड़ी बात इस यज्ञदान में यह है कि ात्रापात्र तथा अधिकारी-अनधिकारित्व विनिर्णय को प्रधानता दी जाती है। हस्य शब्द से विद्वानों से दार्शनिक चिन्तन ऐन्द्रजालिक चमत्कृत करने वाले ाक्षणिक यज्ञों की अभिव्यक्ति एवं निरूपण को लिया है। उपनिषद् साहित्य में ाप्त होने वाले ज्ञान का सर्वाङ्गीण विवेचन करते हुए "वैदिक साहित्य में परेखा' के लेखक लिखते हैं—"उपनिषदों में प्राप्त होने वाले भाव किसी एक ार्शनिक के भाव नहीं हैं; दार्शनिकों के किसी एक सम्प्रदाय के भाव नहीं हैं जनका अन्वेषण किसी एक शिक्षा-पद्धति के अनुसार किया जा सके, वे तो भिन्न व्यक्तियों की भावनाएँ हैं जो विभिन्न काल में विस्तार काल के साथ खरित हुई।"

विचार करने पर हम देखते हैं कि उपनिषदों के सर्वाधिक मूल्यवान् वे चार हैं जिनकी आधार-शिला पर औपनिषदिक दार्शनिक भवन खड़ा हुआ । इस प्रकार के विचारों में ब्रह्म और आत्मा दो तत्त्व हैं जिनके चारों ओर र्शनशास्त्रियों के मन एवं कल्पनाओं ने अपना ताना-बाना बुना है। सर्वप्रथम म ब्रह्म एवं आत्मा का शाब्दिक अर्थ ज्ञान करना परमावश्यक समझते हैं। टपीटर्स वर्ग संस्कृत शब्दकोष में हमें 'ब्रह्म' शब्द की जो व्याख्या मिलती है, ह इस प्रकार है—

The devotion which appears as the carving and fullness f the soul and strives the Gods. वह भक्ति ही ब्रह्म है जो आत्मा की ालसा एवं पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति होती है। श्री दौसन का कहना है कि he will of man striving upward to that which is sacred and ivine.

वे मानवीय अभिलाषा को ही ब्रह्म समझते हैं जो कि पवित्र वैदिक आलोक ी ओर प्रयत्नोन्मुख होती है। ये ब्रह्म-विषयक धारणाएँ ईसाई मत के विचारों अनुरूप ठीक हो सकती हैं परन्तु देव तथा मानव से सम्बद्ध भारतीय विचार-

1. वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० 190

धारा से कदापि मेल नहीं खाता। भारतीय विचारधारा में ब्रह्म शब्द से अनेक अर्थ लिए जाते रहे हैं। विशेष शक्ति-सम्पन्न मन्त्र भी ब्रह्म है। त्रयी विद्या इसीलिए ब्रह्म विद्या है। ब्रह्म सृजनात्मक शक्ति भी है। ब्रह्म सृष्टि का कारण है; अतः स्वयम्भू भी वही है—

Thus the Brahman is divine principle is a conception of the priestly philosophy and quite explicable in the light of the Brahmanical views upon prayer and sacrifice.

अन्ततः भारतीय साहित्य में ब्रह्म का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है, वह सच्चिदानन्द स्वरूप है।

आत्मा शब्द की जो व्युत्पत्ति अनिश्चित है an=to breath अर्थात् Exhalation, Breath, Soul, Self, कुछ विद्वान इस शब्द की रचना दो धातुओं से करते हैं—This I. लौकिक संस्कृति में यह शब्द Self के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। One's own person, one's own body in contrast to the outside world, limbs, soul, the true self.

किन्तु विद्वानों ने अन् प्राणने धातु से इस शब्द का निर्माण किया है जिसका अर्थ है—विश्वास तथा अहम्। कुछ भी सही, भारतीय साहित्य में आत्मा शब्द दार्शनिक अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उपनिषदों में बल और आत्मा के रूप परस्पर एकाकार हो गए हैं। शांडिल्य ने आत्मनिरूपण-प्रसङ्ग में छान्दोग्योपनिषद् में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं। "आत्मा अन्तःकरण के अन्तस्तल से भी सूक्ष्म, तण्डुल के कण से भी लघु और यव खण्ड से भी लघु है। यही आत्मा हृदय में भूमण्डल से विशाल, अन्तरिक्ष तथा परिधि से भी विशाल है। आत्मा से ही क्रियाकलाप इच्छाएँ, सुगन्धि तथा स्वाद की अनुभूति होती है। आत्मा ही ब्रह्म है और किसी भी प्रकार के आत्मज्ञान के हेतु उपनिषद् ग्रन्थों की ज्ञानराशि सबसे दृढ़ ज्ञानशिला कही जा सकती है।"[1] दौसन ने उपनिषद् की ब्रह्म विषयक धारणा को अपने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

The Brahman is the power which presents itself to us materialised in all existing things, which creates, sustain preserves, and receives back into itself again all world, this

1. वैदिक साहित्य की रूपरेखा, पृ० 192

ernal infinite divine power is identical with the Atman, with at which, after stripping of every thing eternal, we discover ourselves as our real most essential being our individual lf, the soul.

ब्रह्म ही वह शक्ति है प्रत्येक पदार्थ में भौतिक दृष्टि से प्रविष्ट होती है। ा ही सृष्टि की उत्पत्ति और रक्षा करते हुए सृष्टि को अपने में लीन कर ा है। यही नित्य दैवी शक्ति आत्मा से अभिन्न है। परवर्ती दार्शनिक ग्रन्थों यही भाव धारा पल्लवित की गई है। "तत्वमसि" वाक्य द्वारा आत्मा और ा का अभेद प्रतिपादन और जगत् तथा ब्रह्म का एकता का प्रतिपादन मिलता । जगत् तो मिथ्या है। इसके अस्तित्व का ज्ञान चेतन शक्ति द्वारा शरीर को याशील बनाये रहने तक ही होता है—

The worlds exists only in so far as thou thyself art consc-us of it.

उपनिषदों में दार्शनिक विद्वानों ने यत्र तत्र ब्रह्म एवं जगत् का एकत्व तिपादित किया है। इस सम्बन्ध में एक कथानक है। श्वेतकेतु उद्दालक आरुणी पुत्र था, पिता पुत्र को वेद विद्या अध्ययन के लिए गुरुगृह जाने का आदेश है। वह बारह वर्ष तक अपने गुरु के पास शास्त्रों का अध्ययन करता है से पारङ्गत होकर वह अपने को पण्डितम्मन्थमाना लौटता है, पिता की इस स्थिति को देखकर कहता है कि "अब तुम अत्यधिक अहंकारी और गर्वोद्धत हो गये हो; किन्तु क्या तुमने उस सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया जिसके ज्ञान मात्र से अश्रुत श्रुत हो जाता है; अमत मत हो जाता है अविज्ञात विज्ञात हो जाता है, जिस प्रकार एक मृत्तिका निर्मित पात्र स्त मृन्निर्मित पात्रों के मूल हेतु के ज्ञान का आधार बन जाता है, केवल मात्र का भेद रहता है, जोकि वाचारम्भण मात्र ही है; वस्तुतः केवल का ही सत्य है। इसी प्रकार सुवर्णन ज्ञान के उपरान्त कटक और कुण्डल उसके विकार मात्र हैं, उनका पारस्परिक भेद केवल वाणी का विलास है, तो केवल सुवर्ण ही है, जैसे काण्र्णयिस के जान लेने पर अन्यान्य लौह त पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं वहाँ भी विभिन्न वस्तु के नामकरण वाणी विलास मात्र हैं, लौह सत्य है। इतना सुनकर श्वेतकेतु उत्तर देता

है—निश्चय ही मेरे गुरुदेव को इसका ज्ञान नहीं था, अन्यथा वे अवश्य ही मुझे इसका उपदेश देते अतः अब आप कृपा करके बतलाइये। श्वेतकेतु अपना प्रवचन प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि प्रारम्भ में केवल अद्वितीय सत् ही था। दूसरे कुछ विद्वानों ने इस प्रसङ्ग में असत् से सत् की उत्पत्ति का निर्देश किया है। असत् से सत् की उत्पत्ति का प्रश्न कुछ विचित्र ही है। इसलिए प्रारम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। यह सत् ही आत्मा में सर्वदा प्रविष्ट रहता है, किसी प्राणी के मरने का अभिप्राय होता है कि वह पुनः सत् में मिल गया, जिस प्रकार एक मधुमक्खी अनेक वृक्षों, पौधों और पुष्पों का रस ला लाकर एकत्र करती है, एकत्र रस मिलकर भेद-भाव से रहित हो जाता है उस समय यह ज्ञात नहीं होता है कि अमुक रस अमुक वृक्ष का है। इसी प्रकार मृत्यु के उपरान्त प्राणी उसी सत् सत्ता में लीन हो जाते हैं। यही आत्मा है। इसी विचारधारा का अधिक स्पष्टीकरण गूलर के फल अथवा अन्जीर फल के द्वारा किया गया है। श्वेतकेतु पिता की आज्ञा से उस फल को तोड़ता है—तोड़कर वह उसमें अणु सदृश अनेक दाने देखता है, फिर एक दाने को तुड़वाकर आरुणि पूछते हैं। इसमें क्या है, श्वेतकेतु कहता है, कुछ नहीं। इस प्रकार आरुणि उपदेश देते हैं, जिस प्रकार फल के अणु भाग से न्यग्रोध वृक्ष की सत्ता का आभास या ज्ञान नहीं हो सकता है; किन्तु उस अणु से उस विशाल वृक्ष की सत्ता स्थित है उसी प्रकार परमतत्व की सत्ता है जो कि अप्रत्यक्ष अविज्ञात होते हुए भी सर्वव्यापक है। वही तत्त्व आत्मा है। उसी आत्मतत्व का पुनः स्पष्टीकरण एक अन्य उदाहरण से किया गया है। पिता पुत्र को नमक देकर कहता है कि इसे जल में डालकर कल मेरे पास लाना। प्रातःकाल पिता पुत्र को उसी लवण को लाने को कहता जिसे कि उसने जल में डाला था; किन्तु जल में ढूँढ़ने पर भी वह लवण प्राप्त नहीं होता है। लवण तो जल में आत्म सत्ता मिला चुका था। आरुणि कहते हैं कि लवण जल में मिल चुका है, स्थूल नेत्रों से वह दिखाई नहीं सकता है। यदि जानने की जिज्ञासा है तो जल का आचमन करके उसे जान सकते हैं। अन्त में आरुणि कहते हैं कि जिस प्रकार जल में विद्यमान लवण को तुम देख नहीं सकते हो, उसी प्रकार सर्वथा विद्यमान उस सत् तत्व को भी तुम नहीं देख सकते हो। यही वह तत्त्व है, यही वह सत्ता है, यही वह आत्मा है, यही वह ब्रह्म है। Atman is one with the univers

nd that everything exits only in so far as it is in the cogni-
ive self.

कौषीतकी एवं वृहदारण्यक उपनिषद् में भी एक रोचक संवाद है—गार्ग्य लाकि नामक अहंकारी ब्राह्मण विद्वान् काशी नरेश अजातशत्रु के पास आता । उस ब्राह्मण से **ब्रह्म जिज्ञासा** के समाधान के लिए प्रार्थना की जाती है, क के बाद एक करके वह 'पुरुष' की व्याख्या करता है कि किस प्रकार आत्मा ा प्रतिबिम्ब सूर्य, चन्द्र, विद्युत, आकाश, वायु, तेज, जल आदि में है और स प्रकार चैतन्य का प्रतिध्वनि में, शब्द में, स्वप्न में, देह में, नेत्र में ब्रह्म के प में प्रतिबिम्ब है किन्तु राजा को वह किसी भी प्रकार सन्तुष्ट नहीं कर ता है। अन्ततः ब्राह्मण राजा से उपदेश लेने का इच्छुक होता है। प्रार्थना ये जाने पर राजा इस प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा का समाधान करता है—ब्रह्म आत्मा में और पुरुष में ही देखा जा सकता है, जिस प्रकार मकड़ी अपना ला स्वयं अपने ही तन्तुओं से बुनती है; जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी तः ही सर्वतः विकीर्ण होती है; ठीक उसी प्रकार आत्मा ही वायु पञ्चक , अखिल ब्रह्माण्ड को, देवगण और प्राणीमात्र को उत्पन्न करता है। "सृष्टि विषय में उपनिषदों का यह मत है कि वह क्षिति, जल, पावक, गगन और यु, इन पाँच तत्त्वों से बनी हुई है। इन पाँच तत्त्वों का स्वामी महत है नमें ये पाँचों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। काल पाकर यह महत्तत्त्व (जिसे हम ति या मूल तत्त्व भी कह सकते हैं) फैलने लगता है। महत्तत्त्व के इसी ाव को हम सृष्टि का जन्म, रचना और विकास कहते है। फिर एक समय ता है जब यह फैलाव सिमटने लगता है और सिमटकर वह महत्तत्त्व में न्द्रित हो जाता है। सिमटने की इसी प्रक्रिया को सृष्टि का विनष्ट होना या य कहते हैं। इस बात को समझने के लिए उपनिषदों को मकड़े की जाली उपमा दी गई है। मकड़े के भीतर से जाली निकल कर चारों ओर छा ती है। यही सृष्टि का बनाना है। फिर वह जाली सिमटकर मकड़े के भीतर जाती है। यह सृष्टि का विनष्ट होना है। अब प्रश्न उठता है कि वह ड़ा प्रकृति है या ब्रह्म। सृष्टि की रचना ब्रह्म करता है या वह आप से आप इस प्रश्न का उत्तर उपनिषदों ने दो प्रकार से दिया है। एक तो यह कि मकड़ा ब्रह्म ही है और उसी के भीतर से सृष्टि प्रकट होती है। दूसरा कि मकड़ा असल में, प्रकृति के मूलतत्त्व अथवा महत्तत्त्व की उपमा है।

ब्रह्म सृष्टि की रचना नहीं करता। सृष्टि इस महत्तत्त्व से निकलती है। और उसी में वापस भी चली जाती है।"

—दिनकर

छान्दोग्योपनिषद् में प्रजापति देव और दानवों को अमरतत्व का उपदेश देते हैं, "आत्मा जन्म, मरण, चिन्ता, पाप, पुण्य आदि के बन्धनों से मुक्त है उसकी इच्छाएँ और विचार सत्य हैं। हमें आत्मा की खोज करनी चाहिए जो इस आत्मा को जान लेता है, उसे तीनों लोक मिल जाते हैं. उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।" इतना सुनने के पश्चात् देव और दानव इस आत्म तत्त्व के ज्ञान के लिए उत्सुक होकर प्रजापति से प्रार्थना करते हैं। प्रजापति दोनों वर्गों में से एक-एक व्यक्ति इन्द्र और विरोचन को चुनते हैं। दोनों जिज्ञासु बनकर बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं. प्रजापति दोनों से इस साधना का कारण पूछते हैं, दोनों ही आत्मतत्त्व को सर्वांशतः जानने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं। प्रजापति सर्वप्रथम उपदेश देते हैं; जो पुरुष नेत्रों में दीखता है, वही आत्मा है, यही भूसासंज्ञक है। विरोचन इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर दानवों में घोषणा करता है कि शरीर ही आत्मा है यही सेवनीय है इसी की रक्षा और पालन करना चाहिए। इन्द्र इस व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं होता है। पुनः वह बत्तीस वर्ष साधना करता है। उस समय—प्रजापति पुनः उपदेश देते हैं कि जो आत्मा प्रसन्नता से स्वप्नों में विचरण करती है, वही आत्मा है। यह अमर और भय रहित है। इसी का नाम ब्रह्म है; किन्तु इस व्याख्या से भी इन्द्र सन्तुष्ट नहीं होता है। पुनः वह बत्तीस वर्ष व्यतीत करता है। इस बार प्रजापति कहते हैं कि—स्वप्न-रहित प्रगाढ़ निद्रा में रहने वाला आत्मा ही सच्ची आत्मा है, किन्तु इन्द्र इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता है। प्रजापति पाँच वर्ष और तप करने का आदेश देते हैं। इसके बाद वास्तविक आत्मा का इस प्रकार निरूपण करते हैं—

"यह शरीर नाशवान् है। इस पर मृत्यु विजयी होती है। वह अमृत अशरीरी आत्मा का निवास-स्थान है। यहाँ रहकर शरीरी आत्मा दुःखी भी है और सुखी भी; किन्तु जब शरीर नष्ट हो जाता है तो पुनः आत्मा सुख-दुःख से मुक्त हो जाती है। शरीर का प्रत्येक अंग जो भी कार्य करता है, वह आत्मा का प्रतिनिधि बनकर करता है। जैसे मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, बोलता हूँ, विचार व्यक्त करता हूँ, इन सभी इन्द्रियों के व्यापारी से जो सन्तोष है वह आत्मा का ही सन्तोष है।

वृहदारण्योपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद में आत्मा की अखण्डता, अद्वितीयता, एकरसता, सर्वव्यापकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। याज्ञवल्क्य तपस्या करने के उद्देश्य से वन जाना चाहते हैं। वन गमन से पूर्व वे अपनी दोनों पत्नियों को बुलाकर धन का बँटवारा करना चाहते हैं। इस समय मैत्रेयी प्रश्न करती है कि यदि समस्त वसुन्धरा की सम्पत्ति मुझे मिल जाये तो क्या मैं अमर हो सकती हूँ। याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—नहीं; "सम्पत्ति प्राप्त कर तुम अमर नहीं हो सकतीं। सम्पत्तिवान् पुरुषों की भाँति जीवन अवश्य व्यतीत हो सकता है; किन्तु अमरत्व प्राप्त नहीं हो सकता है। मैत्रेयी पुनः कहती है कि मुझे सम्पत्तिवान् की अपेक्षा उस तत्व का ज्ञान दान कीजिए जिससे मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूँ। इस समय याज्ञवल्क्य अमरत्व प्राप्त करने का उपदेश देते हैं--पति पत्नी के लिए प्रिय नहीं होता अपितु अपने लिए प्रिय होता है; पत्नी पति के लिए प्रिय नहीं होती अपितु अपने लिए प्रिय होती है। त्र, पुत्र के लिए प्रिय नहीं होता अपितु अपने स्वार्थ के लिए प्रिय होता है; ोक-लोक के लिए प्रिय नहीं होता अपितु अपने लिए प्रिय होता है। देवताओं के सुख के लिए देवता प्रिय नहीं होते अपितु अपने सुख के लिए देवता प्रिय होते हैं, इसलिए आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए आत्मा वाऽऽरे ज्ञातव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य:" मैकडानल ने इसी स्थल को लक्ष्य कर कहा है कि मानवीय चिन्तन के इतिहास में सर्वप्रथम वृहदारण्यको निषद् में ब्रह्म अथवा पूर्णतत्त्व को ग्रहण करके उसकी यथार्थ अभिव्यंजना ई है।

उपनिषदों से आत्मा की पवित्रता को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। स सम्बन्ध में 'उपनिषदों' का विचार है कि जैसे आकाश सर्वत्र फैला हुआ है। आदमी, जानवर, पर्वत, नदी, वृक्ष, पत्थर यहाँ तक कि एक-एक अणु के हर ही नहीं, बल्कि उसके भीतर भी आकाश है) उसी प्रकार ब्रह्म को कण-कण में व्याप्त है। आत्मा और परमात्मा को उपनिषदें एक मानती । जब कुम्हार एक घड़ा बनाता है, तब आकाश का एक खण्ड उस घड़े में व्याप्त हो जाता है। घड़ा शरीर और घड़े के भीतर व्याप्त आकाश ही आत्मा है। जब घड़ा फूट जाता है (यानी जब आदमी का शरीर छूट जाता तब उसमें बँधा हुआ आकाश फिर बड़े आकाश में मिल जाता है। जिस आकाश कर्म की गन्ध से दूषित है, उस आकाश खण्ड (आत्मा) को फिर

किसी दूसरे घड़े में समाना पड़ेगा (यानी पुनर्जन्म लेना पड़ेगा)। मगर, जिस घड़े का आकाश निर्मल है (अर्थात् जिस मनुष्य की आत्मा निर्मल है) उस घड़े के फूट जाने पर उसका आकाश फिर घड़े में वापस नहीं आता अर्थात् निर्मल मनुष्य की आत्मा पुनर्जन्म के बन्धन में नहीं पड़ती ?" उपनिषदें कहती हैं कि कर्मफलवाद का सिद्धान्त यथार्थ है। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार फल को प्राप्त करता है। कर्मों के अनुरूप उन्हें भोग भोगने पड़ते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्म को सुधारे। अच्छे कर्मों से अगला जन्म अच्छा होगा, उस जन्म में भी पवित्र कर्मों के अनुष्ठान से फिर अगला जन्म अच्छा होगा। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर तक साधना के अनुष्ठान से मानव मुक्ति को प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार का उपनिषदों का एक यह सिद्धान्त **पुनर्जन्मवाद या कर्मफलवाद** का भी है।

उपनिषदों में आत्मा के अनेक नामों में से एक प्राण भी है। छान्दोग्योपनिषद् में कथा आती है कि इन्द्रियों में परस्पर श्रेष्ठ कौन है ? इस विषय में प्रतिस्पर्द्धा-सी होने लगी। इन्द्रियाँ एवं प्राण अपने-अपने को श्रेष्ठ बताने का दावा करने लगे। अपनी समस्या के समाधान के लिए दोनों ही प्रजापति के पास जाते हैं। प्रजापति कहते हैं कि तुम में से जिसके अभाव में शरीर नष्ट हो जाये वही श्रेष्ठ है। क्रमशः इस परीक्षण के लिए वाणी, नेत्र, श्रवण आदि इन्द्रियाँ शरीर का परित्याग कर जाती हैं; किन्तु इनमें से एक के अभाव में भी शारीरिक क्रियाएँ चलती रहती हैं। अन्त में प्राण ने निकलने का जैसे ही प्रयास किया, तत्क्षण समस्त इन्द्रियों को व्याकुलता होने लगी। इस स्थिति में इन्द्रियाँ प्राण से प्रार्थना करती हैं कि आप हमें त्याग कर न जाइए आप ही हम सभी से श्रेष्ठ हैं। इसीलिए प्राण को आदरसूचक बहुवचनान्त "प्राणाः" शब्द से पुकारा जाता है। एक और बात यह भी है कि समस्त इन्द्रियों को वाक्, चक्षु, श्रोत आदि नहीं कहा जाता है अपितु समष्टि रूप से उन्हें प्राण कहते हैं। उपनिषद् साहित्य के अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि आत्मा एवं प्राण के सैद्धान्तिक तत्त्व परस्पर संश्लिष्ट हैं। वैदिक ऋषियों ने इन दोनों तत्त्वों के ऊपर मनोरम कविताओं की सृष्टि की है। अनेकशः अपनी भावाभिव्यक्ति की है। वृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा के पुनर्जन्म सिद्धान्त का पल्लवन हुआ है। पाप-पुण्य की भावना भी इसीलिए भारतीय धर्म में प्रमुख स्थान बनाये हुए है। नैतिक तत्त्वों का उदय भी उपनिषदों

की एक अपनी विशेषता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में गुरु-शिष्य को अतीव मार्मिक शिक्षा देता है। सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो कुछ इसी प्रकार के नैतिक उपदेश हैं जो समाज एवं धर्म के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् में एक सुन्दरतम नीति कहानी मिलती है। प्रजापति की तीनों सन्तान देव, मानव एवं दानव ब्रह्मचर्यपूर्वक प्रजापति के शिष्य बने। सर्वप्रथम देव, जिज्ञासु भाव से प्रजापति के पास आते हैं। प्रजापति ने "द" वर्ण का उच्चारण किया और पूछा कि तुमने इसका क्या अभिप्राय समझा? देवताओं ने बताया कि "द" से आपका अभिप्राय "दाम्यत" से है जिसका अर्थ है कि अपना दमन करो। इसके पश्चात् मानव जिज्ञासुभाव से उपस्थित हुए प्रजापति ने पुनः "द" वर्ण का उच्चारण किया और पूछने पर मनुष्यों ने बताया कि इससे आपका अभिप्राय "दत्त" में है अर्थात् दान करो। तत्पश्चात् दानव भी प्रजापति के सम्मुख शिष्यत्व भावापन्न होते हैं, उन्हें भी "द" का उपदेश किया जाता है जिसका अर्थ वे 'दयध्वम' समझते हैं। प्रजापति ने अपनी तीनों सन्तानों के अभिप्राय को ठीक बतलाया। इस प्रकार उपनिषद् में मानवीय नैतिक तत्त्वों का भी पूर्ण उपदेश किया गया है।

उपनिषदों के अनुसार जीवन का महान् उद्देश्य ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करना था और यह अज्ञान के नाश होने पर ही सम्भव है। जिसने ब्रह्म व आत्मा की एकता को जान लिया है, वही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसके लिए कर्मसंन्यास आवश्यक है। यज्ञादि पुनर्जन्मवाद के समर्थक हैं। किन्तु केवल सत्य ज्ञान ही मुक्तिदाता है। जो इस सिद्धान्त को जानता है; वह '**पद्मपत्रमिवाम्भसः**' कमल का पत्ता जिस तरह से जल से ऊपर रहता है उसी प्रकार कर्म से दूर रहता है। ब्राह्मण साहित्य का भी तो कहना है कि या तो इस रहस्य को जानो अन्यथा यज्ञ करो। सम्पूर्ण उपनिषदों में कहा गया है कि ज्ञान केवल शक्ति नहीं है अपितु वह एकमात्र मुक्ति का मार्ग है। इन्द्र एक सौ वर्ष तक प्रजापति का शिष्य रहता है; केवल ज्ञान के लिए। इसीलिये साधारण जन गुरुओं की सेवा करते हैं। राजा सहस्र गायें व स्वर्ण दान करते हैं, केवल आत्मज्ञान के लिये। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये ब्राह्मण भी राजाओं के सामने, धनी मनुष्य भी भिक्षुओं के सामने, राजा भी निर्धन के सामने विनम्र हो जाते हैं। इस ज्ञान विषयक उत्कण्ठा का सर्वोच्च उदाहरण कठोपनिषद् का

नचिकेता का उपाख्यान है। जहाँ नचिकेता यम से तीन प्रश्न करता है और अन्त में मृत्यु क्या है? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर ही लेता है। जहाँ तक जन्म और मरण को जीवन-चक्र के दो छोर बताता है और यथार्थ ज्ञान होने पर मृत्यु के बन्धन से मुक्ति एवं ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश देता है। ज्ञान के प्रति इस श्रद्धा से विश्व में घृणा की भावना का उदय हुआ। फलतः निराशावादी प्रवृत्तियों को जन्म मिला। मैत्रामणी उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि राजा वृहद्रथ अपने पुत्र को सत्ता देकर वनवास ले लेता है। वहाँ यह शाक्यायन से आत्मज्ञान प्राप्त करता है। इस मूल-मन्त्र के नश्वर घट रूपी शरीर में ज्ञान कहाँ? इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेदों में जहाँ पुरुषार्थ की भावना प्रबल है वहाँ उपनिषदों में निराशावाद के कीटाणु भी जन्म लेते हैं। श्री दिनकर "संस्कृति के चार अध्याय" में उपनिषदों के प्रभाव के विवेचन के अवसर पर इसी विचार की पुष्टि करते हुए लिखते हैं 'आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वेद में जो हल्की महीन कल्पनाएँ थीं, उपनिषदों में आकर इनका विपुल विकास हो गया और भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्मत्त्व है, वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्मा से व्याप्त है और जड़ चेतन सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है। इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना ढीली होने लगी और लोग यह मानने लगे कि मनुष्य के समान ही पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी हिंसा नहीं, प्रेम और आदर के अधिकारी हैं। चूँकि मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करने में बार-बार जीवन की दुःखपूर्णता की चर्चा की गई इसलिए समाज में एक प्रकार का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे जो उत्साह वेदकालीन भारतवासियों की विशेषता थी। उपनिषदों ने संन्यास और वैराग्य की भावना को भी प्रेरित किया। अतएव पहले जहाँ लोग सांसारिक सुखों के भोग के लिए डटकर परिश्रम करने में आनन्द मानते थे, वहाँ अब वे गृहस्थाश्रम को छोड़कर असमय में ही वैराग्य और संन्यास लेने लगे। वैदिक सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी, जो सोचता कम, काम अधिक करता था, जिसे नरक की चिन्ता नहीं, हमेशा स्वर्ग का ही लोभ था, जो जीवन को दुःखों का आगार नहीं, सुख और आनन्द का साधन मानता था। मगर उपनिषदों ने दिमाग के अनेक दरवाजे खोल दिये और आदमी अनेक सवालों के चक्कर में पड़ गया। यह सृष्टि क्या है? जीवसान्त

है या अनन्त ? जन्म के पहले क्या था ? मरने के बाद क्या होगा ? क्या जिन्दगी मरने के साथ ही खत्म हो जायेगी ? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा ? अगर हाँ, तो इसका प्रमाण क्या है ? इन सवालों की हल्की पतली झाँकी वेदों में भी प्रच्छन्न थी, लेकिन वेदकालीन मनुष्य इन प्रश्नों के चंगुल में नहीं पड़ा था। उपनिषदों ने आदमी को कुरेद-कुरेद कर उसे सवालों के हवाले कर दिया आखिरी जबाब उसे आज तक नहीं मिला है।"

किन्तु यह कहना सर्वथा असङ्गत होगा कि उपनिषद् के सिद्धान्त आमूल निराशावादी या दुःखवादी हैं। भारतीय दर्शन के मूलाधार ग्रन्थ यह उपनिषद् साहित्य ही हैं। वेदान्त साहित्य के उपजीव्य ग्रन्थ भी यही साहित्य हैं। बौद्ध-मत तथा ब्राह्मण धर्म के मूल में भी इसी साहित्य की प्रेरणा है। उन सभी को हम सर्वथा निराशावादी स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

उपनिषदों की विचारधारा की प्रशंसा करते हुए जर्मनी के दार्शनिक आर्थर शापेनहावर ने लिखा है—"यह अनुपम ग्रन्थ आत्मा की गहराइयों को हिलकोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य से मौलिक गम्भीर और बड़े ही ज्योतिष्यान् विचार ऊपर उठते हैं। हमारे चारों ओर भारतीयता का वातावरण आप से आप खड़ा हो जाता है तथा ऐसा प्रतीत होता है, मानो ये विचार हमारे अपने आत्मिक बन्धु के विचार हों। हमारे मनों पर यहूदी संस्कारों की जो रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास छाये हुए हैं, वे इन विचारों के स्पर्श मात्र से एकबारगी धुल जाते हैं। सारे संसार में इसके जोड़ का और ग्रन्थ नहीं हो सकता। जीवन-भर में मुझे यही एक आश्वासन प्राप्त हुआ है और मृत्यु पर्यन्त यह आश्वासन मेरे साथ रहेगा।" उपनिषद् साहित्य को वह सर्वोत्तम मानवीय ज्ञान और बुद्धि का फल मानता है। विश्व में जीवन के विकास के लिए वास्तविक साहित्य भी उसकी दृष्टि में उपनिषद् साहित्य ही है। औपनिषदिक सिद्धान्त एक प्रकार से अपौरुषेय ही है क्योंकि ये जिनके मस्तिष्क की उपज हैं, उन्हें केवल मनुष्य कहना कठिन है। प्रो० विन्टरनिट्ज तो इन औपनिषदिक दार्शनिक विचारकों के आत्मज्ञान विषयक तीव्र जिज्ञासा के प्रति हार्दिक भावना से नतमस्तक होता है। दोसन महोदय उपनिषदीय भावगरिमा को विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। इतिहास की दृष्टि से भी उपनिषद् साहित्य महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इनका प्रभाव फारसी सूफी मत पर देखा जा सकता है। नियोप्लेटोनिज्म में तथा सिकन्दरी क्रिश्चियन मत से लेकर

ईसाई रहस्यवादी एरवार्ट Eckbart टन्लर Tanlar तथा 19वीं शती के शापेनहावर तक खोज की जा सकती है। शापेनहावर प्लेटो, कान्ट तथा उपनिषदों को अपना गुरु मानता था। वह उपनिषद् साहित्य को The Greatest Gift of Century कहता था और भविष्यवाणी करता था कि भारतीय देवतावाद का विश्व में प्रसार होगा। यदि लुडविग आधुनिक दर्शन को अद्वैतवाद मानता है तो हजारों वर्ष पूर्व उपनिषदों ने इसे खोज निकाला था। संक्षेप में उपनिषदों के मौलिक सिद्धान्तों को इस प्रकार देखा जा सकता है—

(1) उपनिषदें आत्मा एवं ब्रह्म में एकान्त प्रतिपादन करने के साथ शरीर के साथ उसका पार्थक्य प्रतिपादित करती हैं। उपनिषदें आत्मा को अखण्ड, अद्वितीय एवं सर्व व्यापक मानती हैं। 'ब्रह्म वह अनन्त दिव्य शक्ति है। वह समस्त जीवन का स्रोत है और जीवन की वस्तु अन्ततः उसी में विलीन हो जाती है क्योंकि जिससे इन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न हो जाने के बाद में वे जिनमें वास करती हैं और मृत्यु के बाद जिसमें विलीन हो जाती हैं वही ब्रह्म है, वही सत् है और वही आनन्द है।"

(2) ऋग्वेदीय प्रजापति के सृजन तत्त्व की ब्रह्म में स्वीकृति।

(3) विश्व के मायामयत्व का प्रतिपादन तथा ब्रह्म के द्वारा उनके कर्त्तव्य का निधान।

(4) आत्मा के गमन-प्रत्यागमन का सिद्धान्त।

(5) कर्म एवं ज्ञान के अनुरूप विभिन्न योनियों में जन्म तथा विश्व के क्षणिकत्व का निरूपण।

(6) सम्यक् ज्ञान के अभाव में मुक्ति अलभ्य आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनकी उद्भावना उपनिषद् साहित्य में हुई है।

प्रश्न—उपनिषद्-साहित्य की विषय-सामग्री का निरूपण कीजिए।

Give a short account of upanishadas literature

—आ० वि० वि० 52

Or

उपनिषद् साहित्य के उद्गम एवं विकास का परिचय दीजिए।

Explain the place of the unpanishadas in the vedic Literature.
—आ० वि० वि० 57

Or

Discuss the contents of the unpanishadas.—आ० वि० वि० 62

Or

Explain the chronological order of the principal unpanishadas.
—आ० वि० वि० 67

उत्तर-—वैदिक साहित्य के विवेचन करने पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक साहित्य में केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड का ही विवेचन नहीं हुआ है अपितु वहाँ बौद्धिक विकास के लिए विशाल ज्ञानराशि का भी उदय हुआ है । यह ज्ञानराशि के साहित्य को देख लेने पर यह भी विदित हो जाता है कि ज्ञान के क्षेत्र में भारतीय साहित्य में केवल एक ब्राह्मण वर्ग का ही एकाधिपत्य नहीं रहा है, अपितु बौद्धिक जीवन एवं साहित्यिक जीवन में योद्धा जाति का भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । भले ही वह कुछ परवर्ती हो । अस्तु, वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में गार्वे ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, ब्राह्मण साहित्य ही परवर्ती काल में उदय होने वाले दार्शनिक तत्त्वों की एकमात्र रचना है—

R. Garbe calls the sacrificial science of the Brahmans the only literary production of the ancient centuries preceding the awakening of philosophical speculation.

किन्तु प्रो० विण्टरनिट्ज इस विचार को भ्रान्तिमूलक कहते हैं । क्योंकि गार्वे ने इस धारणा में एक सार्वलौकिक दृष्टिकोण अपनाया है । ब्राह्मण ग्रन्थ और सायण साहित्य में अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि कल्प एवं कल्प साहित्य पर विवेचनात्मक विवादों के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी तथा महाकाव्यीय विषय-सामग्री और कविता का स्रोत ब्राह्मण साहित्य ही है । यह वह समय था जब समृद्धशाली व्यक्तियों से लेकर सामान्य व्यक्ति, वीर क्षत्रिय, व्यापारी कर्मकार, कृषक, पशुपालक तक इन यज्ञों का अनुष्ठान किया करते थे, गीति व कहानी का भी इस अवसर परप ाठ हुआ

करता था; यह समस्त विवरण प्राचीन ग्रन्थों में सुरक्षित है उदाहरण के लिए शुनःशेप की कथा ऐसी ही एक कथा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याकरण, ध्वनि-शास्त्र, ज्योतिष, वेदांग अर्थात् शिक्षा, कल्प, निरुक्त आदि तथा दार्शनिक विचार आदि सभी कुछ मूलतः विद्यमान हैं जो कि परवर्ती काल में वेदांग साहित्य के नाम से पल्लवित हुआ है।

ऋग्वेद साहित्य के विहंगावलोकन करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में देवताओं के प्रति लोकप्रसिद्ध विश्वास और आस्था के प्रति सन्देह एवं आशंकामूलक भावनाएँ उदय होने लगी थीं। इन सूक्तों में पुरुषसूक्त व नासदीयसूक्त प्रमुख हैं। यद्यपि इन विचारकों की वाणी एवं विचार इतने समर्थ नहीं थे, जितने हम अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों-और यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों में देखते हैं जो कि परवर्ती दार्शनिक साहित्य के उदय की पृष्ठभूमि का कार्य करते हैं।

कर्मकाण्ड यज्ञादि पर विश्वास रखने वाले पुरोहित वर्ग एवं दार्शनिक वर्ग की विचारधारा में कुछ अन्तर है; क्योंकि एक वर्ग तो यज्ञविज्ञान की ओर उन्मुख था तो दूसरा वर्ग दार्शनिक अद्वैतवाद की ओर। यही अन्तर आगे चलकर सन्देहवाद के रूप में परिणित हुआ, यहीं से यज्ञ में विश्वास न रखने वाले एवं पुरोहितों को दक्षिणा न देने वालों की संख्या बढ़ने लगी तथा इन्हीं लोगों ने आरण्यक एवं उपनिषद् साहित्य की उद्भावना दी। ब्राह्मण साहित्य और उसके परवर्ती साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में योद्धा (क्षत्रिय) जाति भी ज्ञानोपार्जन की ओर उन्मुख थी, उन्मुख ही नहीं थी; उसने महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी की थीं। **कोषीतकी ब्राह्मण** में प्रतर्दन नामक राजा यज्ञ के विषय में अपने पुरोहित से विचार करता है। शतपथ ब्राह्मण के आधार पर तो यह भी कहा जा सकता है कि उसने अपने ज्ञान से अनेक पुरोहितों को पराजित कर दिया था। राजा जनक ने याज्ञवल्क्य सोम, सुषमा, श्वेतकेतु के सामने यज्ञ के विषय में अनेक अपनी शंकाएँ रखी थीं; किन्तु उनमें से किसी ने भी उनका पूर्ण समाधान नहीं किया था। फिर भी राजा याज्ञवल्क्य को सौ गायें गुरु-दक्षिणा में देता है। जनक के चले जाने पर ब्राह्मण-वर्ग परस्पर विचार कर सकते हैं कि इस योद्धा जाति के व्यक्ति ने हम सभी को परास्त कर दिया है। अतः हम उसे ब्राह्मोद्य (आध्यात्मिक विवाद) के लिए आह्वान करेंगे। पर याज्ञवल्क्य इस विचार का अनुमोदन न

करते हुए समझाते हैं कि यदि हमने ब्राह्मण होकर उस क्षत्रिय को पराजित कर भी दिया तो कोई विशेष प्रशंसा की बात न होगी; यदि कहीं उसने हमें पराजित कर दिया तो लेने के देने पड़ जायेंगे। अतः यह विचार ठीक नहीं है! इसके बाद याज्ञवल्क्य अपने दो अन्य शिष्यों सहित जनक के पास ज्ञानोपदेश लेने के लिये जाते हैं। **अयस्थूण** नामक पुरोहित भी अपने यजमान को उपदेश देते हैं। विन्टरनिट्ज ने वैदिक साहित्य का विवेचन करते हुए यह पूर्णतः स्वीकार किया है कि केवल पुरोहित भी मन्त्र-दृष्टा ऋषि ब्राह्मणेतर दासी पुत्र थे, उन्हें पुरोहितों ने यज्ञ में भाग नहीं लेने दिया था। यहाँ तक कि उसे मरुभूमि में भूखे प्यासे भगा दिया जाता है। किन्तु जल देवता एवं देवी सरस्वती की कृपा से वह बाद में मन्त्र-दृष्टा बनता है और ब्राह्मण वर्ग में सम्मिलित भी कर लिया जाता है। उपनिषदों में तो केवल राजा ही नहीं अपितु स्त्रियाँ एवं अज्ञातवेश के व्यक्ति भी साहित्यिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक वार्त्ताओं में भाग लेते थे। इसी प्रकार की एक विदुषी गार्गी वृहदारण्यकोपनिषद् जगत् की सत्ता के विषय में याज्ञवल्क्य से बार-बार प्रश्न करती है। अन्ततः याज्ञवल्क्य को कहना पड़ता है कि गार्गी अधिक प्रश्न न करो अन्यथा तुम्हारा मस्तिष्क विदीर्ण हो जायेगा। इसी उपनिषद् में एक स्थल पर याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को आत्मा के उच्चतम ज्ञान का उपदेश देते हैं। इसी प्रकार की एक कथा रैक्व तथा सयुग्वा की है। रैक्व ब्रह्म का ज्ञाता था, उसके पास धन सम्पन्न ज्ञानश्रुति शिक्षा प्राप्त करने आता है किन्तु वह उसे शूद्र कहकर ज्ञानदान देने से मना कर देता है; किन्तु जब ज्ञानश्रुति अपनी पुत्री का विवाह उस ब्रह्म ज्ञाता से कर देता है; तब वह उसे आत्मपरक ज्ञान देता है। सत्यकाम जाबाल का उपाख्यान भी इसी की एक रोचक कड़ी है। जाबाल का पुत्र सत्यकाम अपनी माँ से अपना वंश-गोत्रादि पूछता है। माँ जो उत्तर देती है, वह मार्मिक है—मैंने तरुणावस्था में अतिथियों की सेवा करते हुए तुझे धारण किया था अतः तुम तो इतना ही जान लो कि मेरा नाम जाबाल है और तुम सत्यकाम। इस प्रकार से सत्यकाम जाबाल गौतम के यहाँ पहुँचते हैं और गुरु गौतम के पूछने पर यही उत्तर दिया भी जाता है कि मैं अपने वंश एवं गोत्र से अपरिचित हूँ तथा एक सेविका का पुत्र हूँ। गौतम उसे इस प्रकार स्पष्ट एवं सत्य बोलने वाला देखकर ब्राह्मण मानकर शिक्षा देने के लिये उद्यत हो जाते है। इन कथाओं से यह सिद्ध हो जाता है कि उस काल में जाति-

प्रथा इतनी कड़ी नहीं थी, जितनी कि परवर्ती स्मृतिकाल में हो जाती है। स्मृतिकाल में तो कहा गया था कि केवल ब्राह्मण ही वेद पढ़ सकता है; द्विज ही वेद पढ़ सकता है। उपनिषद् साहित्य के अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि क्षत्रिय ब्रह्मविद्या के ज्ञाता थे, ब्राह्मण तक उनके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिये जाते थे। इसी प्रकार श्वेतकेतु के पिता गौतम प्रवाहण नामक राजा के पास शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं। राजा प्रवाहण गौतम का आवागमन (पुनः र्जन्म) के सिद्धान्त की शिक्षा देते हैं। उपनिषदों के प्रमुख सिद्धान्त आत्म-विषयक ही हैं। इन सभी सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव ब्राह्मणेतर वर्ग में हुआ है। पाँच विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मण को उद्दालक आरुणि अपने को ज्ञानदान देने में असमर्थ पाकर महाराज अश्वपति के पास भेज देता है। इन स्थलों में सिद्धप्राय है कि उपनिषद् काल में ज्ञान का कोश ब्राह्मणेतर बर्ग (विशेषतः क्षत्रिय) में था। इसी काल में आश्रमप्रथा का उदय भी हुआ था, इस प्रकार उपनिषद् काल में **आश्रमप्रथा** पर्याप्त विकसित हो चुकी थी; यद्यपि प्राचीन उपनिषदों में आश्रमप्रथा इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि परवर्ती उपनिषदों का महाभारत व धर्मसूत्रों में है।

उपनिषदों का रचनाकाल

प्राचीनतम उपनिषदों में ऐतरेय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तरीय, कौषीतकी तथा केनोपनिषद् हैं। इनमें वेदान्ततत्व मौलिक रूप में निहित है। कुछ उपनिषद् जो कि पूर्णरूपेण या अधिकतर पद्य में लिखी गई हैं, ये परवर्ती सिद्ध होती हैं परन्तु फिर भी प्राक्बौद्धकालीन हैं। ये भी किसी न किसी वैदिक शाखा से सम्बन्धित हैं, परन्तु आरण्यकों के भाग नहीं हैं। इनमें से कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय काठक शाखा से सम्बन्धित है। श्वेताश्वतर तथा महानारायणोपनिषद् भी कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक से सम्बद्ध है। ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय चालीसवां अध्याय है। मुण्डकोपनिषद् तथा प्रश्नोनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं। ये उपनिषद् भी वेदान्त सिद्धान्तों से पूर्ण हैं, परन्तु इनमें सांख्ययोग तथा अद्वैतवादी (Monothestic) सिद्धान्त भी निहित है। मैत्रायणी उपनिषद् जो कि गद्य में है किन्तु वैदिक गद्य के अनुरूप नहीं, वह कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है तथा बौद्धोत्तरकालीन है; किन्तु विन्टरनिट्ज ने इस रचना को लौकिक संस्कृत साहित्य के काल का माना है। अथर्ववेदीय माण्डू-

क्योपनिषद् भी इसी काल की रचना है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में बारह उपनिषदों का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने मैत्रायणी एवं माण्डूक्य उपनिषदों का उल्लेख नहीं किया है। अतः इन उपनिषदों को परवर्ती वैदिक साहित्य की अन्तिम रचना के रूप में स्वीकृत किया गया है। उपर्युक्त चौदह उपनिषदें भारतीय दर्शन की मूलाधार हैं।

इन उपनिषदों के अतिरिक्त लगभग दो सौ उपनिषदें और भी हैं जो कि संग्रहात्मक स्वतन्त्र उपनिषदों के रूप में हैं। इन उपनिषदों का भी सम्बन्ध किसी न किसी वैदिक शाखा से मान लिया गया है। वास्तव में सभी तो नहीं, हाँ, कुछ उपनिषदें अवश्य ही वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध हैं। ये उपनिषदें-दार्शनिक तत्त्व की अपेक्षा धार्मिक तत्त्वों का अधिक विश्लेषण करती हैं तथापि परवर्त्ती धार्मिक एव दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त का समावेश इसमें मिलता है। ये उपनिषदें पौराणिक एवं तान्त्रिक युग की रचनाएँ प्रतीत होती हैं। उद्देश्य और विषयवस्तु के आधार पर इन उत्तरकालीन उपनिषदों का हम इस प्रकार का एक वर्गीकरण कर सकते हैं—

(i) वेदान्त-सिद्धान्तों की प्रकाशिका उपनिषदें,
(ii) योग-सिद्धान्त की प्रकाशिका उपनिषदें,
(iii) संन्यास सम्बन्धिनी उपनिषदें,
(iv) विष्णु महत्त्व प्रदर्शिका उपनिषदें,
(v) शिव-महत्त्व निदर्शिका उपनिषदें,
(vi) शाक्त आदि सम्प्रदाय की उपनिषदें।

इनमें से कुछ उपनिषदें गद्यमय, कुछ गद्य-पद्यमय और कुछ महाकाव्यीय श्लोक शैली में हैं। इनमें कुछ प्राचीन भी हैं जिन्हें हम दैनिक उपनिषदों के मिलान में रख सकते हैं; जैसे—

(i) जाबाल उपनिषद् (शंकराचार्य द्वारा उल्लिखित) इसमें परमहंस नामक तपस्वी का रोचक वर्णन है।

(ii) परमहंस उपनिषद्—परमहंस का अधिक स्पष्ट वर्णन किया गया है।

(iii) सुबाल उपनिषद् (रामानुज द्वारा उद्धृत) इसमें सृष्टि उत्पत्ति, शरीर-रचना, मनोविज्ञान व दर्शन के तत्त्व निहित हैं।

(vi) गर्भोपनिषद्—इसमें भ्रूणविज्ञान के अतिरिक्त पुनर्जन्म की अप्राप्ति के उपायों का विवेचन हैं।

(v) शिवोक्त अथर्वशीर्ष उपनिषद् (धर्मसूत्रों द्वारा उद्धृत) इसमें पापों को दूर करने के उपाय कहे हैं।

(vi) वज्रसूचिका उपनिषद्—ब्रह्म वर्णन परक है। इसमें ब्राह्मण उसी को माना गया है जो ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान रखता है।

उपनिषद् साहित्य की सर्वाधिक अर्वाचीन प्रामाणिक कृति मुक्तिकोपनिषद् है जिसमें 108 उपनिषदों के नामों का उल्लेख किया गया है जिसका सम्बन्ध वेदों से जोड़ा है, वे विभिन्न वेदों से इस प्रकार सम्बद्ध हैं—

ऋग्वेद से सम्बद्ध	दस उपनिषदें
शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध	उन्नीस उपनिषदें
कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध	तेंतीस उपनिषदें
सामवेद से सम्बद्ध	सोलह उपनिषदें
अथर्ववेद से सम्बद्ध	इक्कीस उपनिषदें

उपनिषद् साहित्य का एक विशद वर्गीकरण और भी विद्वानों ने किया है उसमें उपनिषदों को यथाक्रम चार वर्गों में बाँटा गया है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

पहला वर्ग—'वृहदारण्यक' छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकी उपनिषद्। ये सभी गद्यमय हैं।

दूसरा वर्ग—केनोपनिषद्, काठकोपनिषद्, ईशोपनिषद्, श्वेताश्वतरोनिषद्, मुण्डकोपनिषद् व महानारायणोपनिषद्। ये छन्दबद्ध हैं। इनमें सिद्धान्तों का विकास नहीं होता है अपितु सिद्धान्तों को स्थिरता मिल जाती है। वे उपनिषद् सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

तीसरा वर्ग—इसमें प्रश्न, मैत्रायणी एवं माण्डूक्यादि उपनिषदें आती हैं। इसकी रचना-विधान गद्यमय है।

चौथा वर्ग—इस वर्ग में अथर्ववेद को उपनिषदों की गणना होती है जो कि परवर्ती है तथा जिनकी प्रवृत्ति गद्य-पद्य उभयात्मक है।

विभिन्न वेदों से सम्बद्ध उपनिषदों का सामान्य परिचय निम्न प्रकार है—

ऋग्वेदीयोपनिषद्

(1) **ऐतरेय उपनिषद्**—यह ऋग्वेद का एक लघुकाय उपनिषद् है । इसमें तीन अध्याय हैं जिनमें आत्मा एवं ब्रह्म से सम्बद्ध विचार उपनिबद्ध हैं । इसके एक अध्याय में विश्व को आत्मा की कृति बतलाया गया है । इस उपनिषद् की रचना का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त है ।

(2) **कौषीतकी उपनिषद्**—यह अपेक्षाकृत बड़ी रचना है । इसमें चार अध्याय हैं । उनमें दो मार्गों का विधान है जिनमें से होकर यह आत्मा मृत्यु के उपरान्त गमन करता है । द्वितीय अध्याय में प्रजा को आत्मा का प्रतीक बतलाया गया है । अन्तिम अवशिष्ट दो अध्यायों में ब्रह्मसिद्धान्त का विशद् निरूपण है । इसमें कुछ ऐसे याज्ञिक विद्वानों का भी उल्लेख है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी अभिमत कामनाओं की पूर्ति करता है । ज्ञान की अपेक्षा कर्म की प्रधानता स्वीकार की गई है ।

सामवेदीय उपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद्—इस उपनिषद् के प्रथम द अध्यायों में समान एवं उद्गीथ की धार्मिक दृष्टि से व्याख्या की गई है । तृतीय अध्याय में ब्रह्म को विश्व का सूर्य कहा गया है । चतुर्थ अध्याय में ब्रह्म, वायु, श्वास आदि के सम्बन्ध में एक वाद-विवाद है । पंचम अध्याय में प्रारम्भ में आत्मा के गमन एवं प्रत्यागमन का निरूपण हुआ है । इस अध्याय के उत्तरार्द्ध में विभिन्न लोकों की निर्मूलता सिद्ध हो गई है । छठे अध्याय में सत् के द्वारा उद्भूत अग्नि, जल एवं आहार-तत्त्वों की मीमांसा की गई है । तत्वमसि सिद्धान्त भी यहाँ व्याख्यात है । सप्तम अध्याय में ब्रह्म के षोडश रूपों का विधान है । अष्टम अध्याय के पूर्वार्द्ध में आत्मा का अन्तःकरण एवं विश्व में निवास प्रतिपादित है । उत्तरार्द्ध में सत् एवं असत् आत्मा की व्याख्या है और आत्मा की भौतिक शरीर, स्वप्न एवं निद्रागत विविध दशाओं में स्वप्नगत आत्मा को ही सत्य स्वीकार किया गया है । छान्दोग्योपनिषद् महत्त्वपूर्ण प्राचीन उपनिषदों में से एक है । साहित्यिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

केनोपनिषद्—यह उपनिषद् सामवेद के तवलकार ब्राह्मण का भाग है । तवलकार अथवा जैमिनीय ब्राह्मण का अंश होने के कारण ही कभी-कभी इसे

तवलकारोपनिषद् या संक्षेप में ब्राह्मण उपनिषद् भी कह दिया जाता है। इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही शिष्य का प्रश्न है—

केनेषितं पतितु प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः॥
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं कोउ देवो युनक्ति॥

जिसके द्वारा प्रेरित मन विषयों पर गिरता है? समग्र चेतनतत्व का नियामक अधिष्ठाता कौन है? 'केन' प्रश्नवाचक प्रथम शब्द के आधार पर ही समग्र उपनिषद् केनोपनिषद् के नाम से अभिहित की जाती है। केनोपनिषद् में अत्यन्त सबल भाषा में बतलाया गया है कि परमतत्व समस्त इन्द्रियों का इन्द्रिय एवं समस्त इन्द्रियों की पहुँच के ऊपर है। वह परमतत्व समस्त देवताओं का भी देवता एवं समस्त उपास्यों का भी उपास्य है। उस परम रहस्य का ज्ञाता समस्त पापों से मुक्त होकर शाश्वत अमृतत्व को प्राप्त करता है।

कृष्ण यजुर्वेदीयोपनिषद्

मैत्रायणोपनिषद्—इस उपनिषद् में सात अध्याय हैं। छठे अध्याय का उत्तरार्द्ध एवं सप्तम अध्याय परिशिष्ट रचना मानी जाती है। इस उपनिषद् की रचना गद्यमय है किन्तु कहीं-कहीं पद्य के अंश भी मिल जाते हैं। यह परवर्ती काल की रचना मानी जाती है। इसके कई कारण भी हैं—प्रथम तो यह कि इसमें सांख्यदर्शन की पूर्ण कल्पना है; दूसरे, इसमें परवर्ती काल में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द मिल जाते हैं। तीसरे, अनेक वेद विरुद्ध सम्प्रदायों का इसमें उल्लेख है।

इस उपनिषद् की विषय-सामग्री तीन प्रश्नों के उत्तर में निहित है। **प्रथम प्रश्न** यह है कि आत्मा किस प्रकार शरीर में प्रवेश प्राप्त करती है? उत्तर में कहा गया है कि प्रजापति रचित शरीर-विशेष में जीवन संचार करने के लिए पंच प्राणों के रूप में प्रविष्ट होता है।

द्वितीय प्रश्न है—परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है? इस प्रश्न का समाधान सांख्य मान्यताओं के अनुसार किया गया है जिसके अनुसार आत्मा-प्रकृति के विविध गुणों से पराभूत होकर आत्मरूप को भूल जाता है। इसके पश्चात् आत्मबोध एव मुक्ति के लिए प्रयास करता है।

तृतीय प्रश्न है—सांसारिक दुःखों से मुक्ति का मार्ग क्या है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्य एवं वेदान्त की मान्यता को दृष्टि में रखते हुए स्वतन्त्र रूप

से दिया गया है। उत्तर में कहा गया है कि ब्राह्मण धर्म की प्राचीन मान्यताओं के अनुरूप वर्ण व्यवस्था एवं विभिन्न आश्रमों में निष्ठावान् व्यक्ति ही ब्रह्मज्ञान एवं मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ब्राह्मण काल के प्रमुख तीन देवता अग्नि, वायु एवं सूर्य तीन भाव रूप सत्ताएँ काल, श्वास एवं आहार और तीन प्रचलित देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि सब ब्रह्म का बोध कराने वाले हैं।

काठकोपनिषद्—यह कृष्ण यजुर्वेदीय प्रथम उपनिषद् (मैत्रायणोपनिषद् से प्राचीन है। इसमें एक सुन्दर आख्यान समाहित है। इस उपनिषद् के दो भाग हैं—एक प्राचीन; दूसरा अर्वाचीन एवं संयुक्त। प्रथम अंश में आत्म-स्वरूप का परिचय देते हुए कहा गया है कि किस प्रकार आत्मा शरीर में प्रविष्ट होता है तथा यौगिक साधना से पुनः लौट आता है। द्वितीय भाग में चतुर्थ अध्याय में आत्मविषयक चर्चा है। जहाँ पुरुष एवं प्रकृति को आत्मा का ही रूप माना है। पाँचवें अध्याय में आत्मा का विश्व में मुख्यतः शरीर में निवास माना गया है। अन्तिम अध्याय में सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति का मार्ग योग को माना गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्—इस उपनिषद् का नामकरण स्पष्ट ही एक ऋषि के नाम पर हुआ है। इस उपनिषद् में विश्व को ब्रह्मकृत माया का प्रतिरूप माना गया है तथा सवितृ, ईशान एवं रुद्र देवों को ब्रह्मा का प्रतीक माना गया है। इसकी रचना काठकोपनिषद् के बाद की है; क्योंकि इसमें काठक के अनेक अंश यथावत के लिये गये हैं बहुतों को कुछ परिवर्तन के साथ लिया गया है। योग सिद्धान्तों का समावेश भी इसे परवर्ती सिद्ध करता है। साथ ही इसकी रचना-विधान से ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद् अनेक कर्त्ताओं की कृतियों का संग्रह है।

शुक्ल यजुर्वेदीयोपनिषद्

वृहदारण्यकोपनिषद्—यह उपनिषद् एक महत्त्वपूर्ण एवं बड़ी रचना है। यह तीन भागों में विभक्त है; प्रत्येक भाग दो-दो अध्यायों में विभक्त है। तीसरे भाग का नाम खिलकाण्ड है, जो कि परिशिष्ट मात्र है। प्रथम भाग मधु काण्ड नामक है, द्वितीय, याज्ञवल्क्य काण्ड। दोनों ही भागों में वंश नामक सूची निबद्ध है। सूचियों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि दोनों भाग नौ पीढ़ी तक स्वतन्त्र रूप से पृथक-पृथक रहे; किन्तु बाद में अग्नि वेश

नामक ऋषि ने दोनों को जोड़कर एक कर दिया है। परवर्ती समय में तीसरा भाग भी जोड़कर समग्र ग्रन्थ एक कर दिया गया है।

प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में अश्वमेघ यज्ञ की व्याख्या की गई है, प्राण को आत्मा का प्रतीक माना गया है। आत्मा तथा ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति तथा दूसरे अध्याय में आत्मा की प्रकृति का निरूपण है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग में चार वाद-विवाद समाहित हैं। निष्कर्ष रूप में हम इस प्रकार कह सकते हैं- यद्यपि ब्रह्म सिद्धान्ततः अज्ञेय हैं किन्तु क्रियात्मक रूप से वह ज्ञेय है। तीसरे भाग के प्रथम अध्याय में पन्द्रह काण्ड हैं जो कि विषयवस्तु की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न हैं। द्वितीय अध्याय में आत्मा का गमनागमन सिद्धान्त निरूपित है, किन्तु यह याज्ञवल्क्य के पूर्व उक्त सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है।

ईशोपनिषद्—इसे वाजसनेयोपनिषद् भी कहा जाता है। यह एक लघुकाय उपनिषद् है जो कि यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें ईश्वर को सर्वव्यापक स्वीकार किया गया है। आकार में स्वल्प होते हुए भी ज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर उपनिषद् है।

अथर्ववेदीयोपनिषद्—अथर्ववेद की उपनिषदों की संख्या निश्चित नहीं है; किन्तु विभिन्न सूचियों के आधार पर इस वेद से सम्बद्ध सत्ताईस उपनिषदों को माना जाता है। तीन उपनिषदों को छोड़ कर सभी पुराणकालीन तथा परवर्ती रचनाएँ हैं। इन सत्ताइस उपनिषदों में से एक अल्लोपनिषद है, जो कि स्पष्टतः यवनों से प्रभावित रचना है अथर्ववेदीय उपनिषदों का विभाजन विद्वानों ने चार रूपों में किया है—

प्रथम—आत्म स्वरूप निरूपक उपनिषद्।

द्वितीय—योगसाधना-सम्बद्ध उपनिषद्।

तृतीय—संन्यास साधना प्रतिपादक उपनिषद्।

चतुर्थ—वर्ग में विवाद बहुल उपनिषद् समाहित हैं। इस वर्ग की उपनिषदों में विविध देवों को आत्मा का ही रूपान्तर माना गया है।

मुण्डकोपनिषद्—यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनकीय शाखा के अन्तर्गत आती है। सम्पूर्ण उपनिषद् तीन मुण्डकों में और प्रत्येक मुण्डक दो-दो खण्डों में विभक्त है। इस उपनिषद् का नामकरण 'मुण्ड' नामक साधुओं के आधार पर किया गया है जो उत्तरकालीन बौद्ध-भिक्षुओं की भाँति अपना सिर मुण्डाये रहते थे।

प्रश्नोपनिषद्—यह उपनिषद् अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा के ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत है। इसमें पिप्पलाद नामक ऋषि ने भारद्वाज के पुत्र सुवेश्म, शिवि के पुत्र सत्यवान, कौशलदेशीय आश्वलायन, विदर्भ निवासी भार्गव, कात्यायन एवं कबन्धी इन छः ऋषियों के छः प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इन्हीं प्रश्नों के कारण यह उपनिषद् प्रश्नोपनिषद् के अभिधान को ग्रहण करती है। इन जिज्ञासुओं के प्रश्न ये हैं—प्रजा के शरीर धारण करने वाले देवताओं के सम्बन्ध में, प्राण के शरीर में प्रवेश एवं निर्गमन के सम्बन्ध में, मन तथा अन्य इन्द्रियों की ग्रहणशीलता के सम्बन्ध में तथा षोडश कला सम्पन्न पुरुष विषयक प्रश्न इस उपनिषद् में किये गये हैं। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में आत्मतत्व का वर्णन किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण उपनिषद् गद्य में है; किन्तु पद्य का सर्वथा अभाव नहीं है।

माण्डूक्योपनिषद्

माण्डूक्योपनिषद् भी अथर्ववेदीय मानी जाती है। यह एक स्वल्पाकार रचना है जिसमें कुल मिलाकर बारह मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में ही ओंकार की महिमा का गान किया गया है जो कुछ भूत, भविष्य एवं वर्तमान है, जो कुछ त्रिकालातीत है, सब ओंकार ही है—

ओमित्येतदक्षरमिद सर्वँ तस्योपव्याख्यानं भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योंकार एव॥

उपनिषद् का उपसंहार करते हुए अन्तिम मन्त्र में भी इसी ओंकार की महिमा का इस प्रकार संकीर्त्तन किया गया है। यह वर्ण मात्रा रहित अव्यवहार्य शिव अद्वैत ओंकार है जो इसे इस प्रकार समझता है, वह स्वतः परमात्मा में संविष्ट हो जाता है—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद 1।12।

नवम अध्याय

सूत्रकाल

प्रश्न—भारतीय साहित्य में प्राप्त समग्र सूत्र-साहित्य (सूत्र ग्रन्थों) का परिचय प्रस्तुत कीजिए। यह भी बताइये कि वैदिक साहित्य के अध्ययन में उनका क्या महत्त्व है ?

What do you know about the Kalpasutras ? How are they related to the Brahmans. —आ० वि० वि० 54

Or

Show the main contents of the sutras covered under the term Kalpasutras. Describe briefly some principal works of that branch of literature ? —आ० वि० वि० 55, 62

Or

Give a note on the principal Grahasutras. Discuss their position in the Vedic literature.

उत्तर—वैदिक साहित्य में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता है एक परा (उत्तम) विद्या जो ब्रह्म ज्ञान से सम्बद्ध है। दूसरी अपरा विद्या ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त समस्त ज्ञानराशि इसके अन्तर्गत गृहीत की जाती है। वेदांग साहित्य सूत्रात्मक शैली में निर्मित एक अद्भुत साहित्य है। इसका उदय वेद के स्वरूप तथा उसके अर्थ के संरक्षण के निमित्त ही हुआ है। मुण्डकोपनिषद् में उपलब्ध वेदाङ्गों के नाम और उनका विधिवत् विवेचन सिद्ध करता है कि

इस साहित्य का उदय उपनिषद् काल में ही हो चुका था, इन अंगों के नाम क्रमशः शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष रखे जा चुके थे।

जहाँ उपनिषद् साहित्य में ब्राह्मण साहित्य के विचार पक्ष (ज्ञानकाण्ड) का प्रतिपादन किया गया है वहाँ दूसरी ओर सूत्र साहित्य में उनके धार्मिक क्रिया काण्डीय-पक्ष को प्राधान्य दिया गया है। यज्ञों की कार्यविधि को संक्षिप्त, नियमित एवं क्रमबद्ध बनाने की दृष्टि से सूत्र साहित्य का उदय होता है। किसी धार्मिक सम्प्रदाय-विशेष का सूत्र साहित्य कल्प संज्ञा से अभिहित किया जाता है—**कल्पो वेद विहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्**। कल्प सूत्रों के चार विभाग हैं—

(1) **श्रौतसूत्र**—इनमें श्रुति प्रतिपादित यज्ञों का क्रमबद्ध विवेचन होता है।

(2) **ग्रह्यसूत्र**—इनमें गार्हिक यज्ञों एवं उत्सव आदि से सम्बद्ध विविध विधियों का विधिवत् वर्णन किया गया है।

(3) **धर्मसूत्र**—इन सूत्र ग्रन्थों में मुख्यतः आचारशास्त्र का निरूपण किया गया है।

(4) **शुल्वसूत्र**—इन सूत्र ग्रन्थों में वेदी निर्माण की रीति का विवेचन किया गया है।

श्रौतसूत्रों में अग्नि होत्र, पौर्णमास्य यज्ञ, चातुर्मास्य एवं पशुयज्ञ आदि की विधियों का सर्वाङ्गीण विवेचन सूत्र भाषा में किया गया है। यही नहीं, इन यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली तीन प्रकार की अग्नियों का भी विधान एवं वर्णन इन सूत्र ग्रन्थों में है। गृह्यसूत्रों में अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें समस्त क्रिया-कलापों, संस्कारों, उत्सवों एवं यज्ञों की विधियों का विशद् विवेचन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित निम्न पाँच यज्ञों का भी वर्णन इन सूत्र ग्रन्थों में मिलता है—(1) देवयज्ञ—इनमें देवताओं को आहुति दी जाती है। (2) दानवयज्ञ—इनमें दानवों के सन्तोष के लिए बलि देने का विधान है। (3) पितृयज्ञ—इस यज्ञ में पितरों के लिए आहुति, दान एवं तर्पण किया जाता है। (4) मनुष्ययज्ञ—इस यज्ञ में अतिथियों का सत्कार एवं उनकी सेवाओं का विधान है। (5) ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन होने वाले यज्ञों का वर्णन है।

ऋग्वेद के श्रौतसूत्र

(1) **सांख्यायन श्रौतसूत्र**—इसमें राजाओं द्वारा किये जाने वाले यज्ञों का विस्तृत वर्णन है। इस श्रौतसूत्र में अठारह अध्याय हैं। अन्तिम दो अध्याय परिशिष्ट रूप में हैं। क्योंकि विषय की दृष्टि से कौषीतकी आरण्यक से मिलते जुलते हैं।

(2) **आश्वलायन श्रौतसूत्र**—इस पुस्तक में बारह अध्याय हैं। विषय की दृष्टि से इसका सम्बन्ध ऐतरेय ब्राह्मण से है। इसमें 'होता' द्वारा प्रतिपाद्य यज्ञों के अनुष्ठान का वर्णन है।

सामवेद के श्रौतसूत्र—इस वेद के तीन श्रौतसूत्र हैं। इनमें सबसे प्राचीन आर्षेय कल्पसूत्र हैं। इसका दूसरा नाम इसके रचयिता के नाम पर मशक कल्पसूत्र है। इसमें सामगानों की विशिष्ट अनुष्ठानों में विहित क्रियाओं का वर्णन है। दूसरा श्रौतसूत्र लाट्यायन है। इसका विषय पचविंश ब्राह्मण से सम्बद्ध है। तीसरा सामवेद का श्रौतसूत्र द्राह्यायण हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के श्रौतसूत्र

कात्यायन श्रौतसूत—इस ग्रन्थ में छब्बीस अध्याय हैं। इसमें शतपथ के विधि-विधान का पूर्णतः पालन किया जाता है। इसके बारहवें तेरहवें और चौदहवें अध्याय में सामवेद की क्रियाओं का ही अन्तर्भाव किया गया है। यह सूत्र काल के अन्तिम चरण की रचना मानी जाती है।

कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

(1) **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र**—प्रस्तुत सूत्रग्रन्थ में इस नाम से कल्प सूत्र के तीस प्रश्नों में से प्रथम बीस प्रश्नों को समाहित किया है। (2) हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र यह सूत्रग्रंथ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की ही एक शाखा है; इसमें कल्पसूत्र के उन्नीस प्रश्नों में से अठारह प्रश्नों का समाधान किया गया है। (3) वोधायन श्रौतसूत्र—यह सूत्र-ग्रन्थ आपस्तम्ब—से प्राचीन है; परन्तु अद्यावधि अप्रकाशित है। (4) भारद्वाज श्रौतसूत्र—यह सूत्र-ग्रन्थ भी प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। (5) मानव श्रौतसूत—इसका सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता से है। मनुस्मृतिकार को मनुस्मृति की रचना में इसी श्रौतसूत्र से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है। (6) वैखानस श्रौतसूत्र—इसका उल्लेख बहुत कम उपलब्ध होता है।

अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र

वैतानसूत्र—यह रचना न तो प्राचीन है न मौलिक ही। इसका सम्बन्ध गोपथ ब्राह्मण एवं कात्यायन श्रौतसूत्र से बतलाया जाता है।

गृह्यसूत्र

गृह्यसूत्रों का निर्माण श्रौतसूत्रों के पश्चात् हुआ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में गार्हिक यज्ञ-क्रिया के अभाव के कारण ही इन सूत्रों का सृजन हुआ है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

(1) **शांखायन गृह्यसूत्र**—इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम चार मौलिक हैं। शेष को प्रक्षिप्त माना जाता है। (2) **शाम्बवव्य—शाम्भव गृह्यसूत्र**—इसका सम्बन्ध कौषीतकी सम्प्रदाय से है। इसकी विषय-सामग्री शांखायन गृह्यसूत्र के प्रथम दो अध्यायों से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त पितृसम्बन्धी एक स्वतन्त्र अध्याय भी प्राप्त होता है। यह भी अप्रकाशित ही है। (3) **आश्वलायन गृह्यसूत्र**—इसमें चार अध्याय हैं। इसकी विषय-सामग्री ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बन्धित है। इसमें आश्वलायन श्रौतसूत्र की विषय-सामग्री का विस्तार से उल्लेख है।

सामवेद के गृह्यसूत्र

गोभिल गृह्यसूत्र—यह सर्वाधिक प्राचीन एवं पूर्ण गृह्यसूत्र है। दूसरा गृह्यसूत्र खादिर गृह्यसूत्र—यह द्राह्यायण सम्प्रदाय से सम्बन्धित है तथा राणायनीय शाखा ने भी इसका प्रयोग किया है।

शुक्ल यजुर्वेद गृह्यसूत्र

इस गृह्यसूत्र का नाम काटेय या वाजसनेय गृह्यसूत्र है। कात्यायन श्रौतसूत्र से इसका अत्यधिक सम्बन्ध है। यावल्क्यस्मृति प्रस्तुत गृह्यसूत्र से प्रभावित प्रतीत होती है।

कृष्ण यजुर्वेद गृह्यसूत्र

इस वेद के सात गृह्यसूत्र हैं; किन्तु प्रकाशित केवल तीन ही हुए हैं— (1) **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र**—इसमें आपस्तम्ब कल्पसूत्र के 26वें तथा 27वें अध्याय की विषय-सामग्री संगृहीत की गई है। उक्त कल्पसूत्र के 25वें अध्याय में केवल मन्त्रों का सन्निवेश है। अतः प्रस्तुत सूत्र की वास्तविक विषय-सामग्री का संग्रह तो 27वें अध्याय में है। (2) **हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र**—इसमें इसी नाम के

कल्पसूत्र के 29वें अध्याय की विषय-सामग्री का ही विवेचन है। (3) **बौधायन गृह्यसूत्र**—यह अब तक अप्रकाशित है। अतः इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। (4) **मानव गृह्यसूत्र**—यह गृह्यसूत्र भी इसी नाम के कल्प सूत्र से विशेष सम्बन्ध रखता है। इसमें विनायक पूजा नामक उत्सव-विशेष का भी समावेश किया गया है। (5) **काठक गृह्यसूत्र**—इसका मानव गृह्यसूत्र से स्पष्ट सम्बन्ध है और यह विष्णु स्मृति से भी सम्बन्धित है। (6) **भारद्वाज—गृह्यसूत्र**—इसका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। (7) **वैखानस गृह्यसूत्र**—आकार-प्रकार में यह एक बहुत बड़ी रचना है; किन्तु यह परवर्ती काल की रचना है।

अथर्ववेद के गृह्यसूत्र

कौशिक गृह्यसूत्र—इसमें वैदिक कालीन सामान्य गृहस्थ की सम्पूर्ण जीवनचर्या का उल्लेख है। साथ ही इसमें अभिचार, इन्द्रजाल एवं तन्त्र आदि से सम्बद्ध मन्त्रों का भी समावेश है। इस गृह्यसूत्र में मुख्यतः गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त होने वाले घरेलू क्रिया-कलापों से सम्बन्धित मन्त्रों का समावेश है। प्रमुख संस्कार ये हैं—(1) पुंसवन—पुत्र-प्राप्ति के लक्ष्य से किया जाने वाला संस्कार, (2) जातकर्म-पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में अनुष्ठेय संस्कार, (3) नामकरण संस्कार, (4) क्षौरकर्म, (5) गोदान, (6) उपनयन—आठ से सोलह वर्षपर्यन्त किया जाने वाला यह संस्कार है जिससे बालक द्विज संज्ञा का अधिकारी होता था, (7) समावर्त्तन गुरुगृह में विद्या समाप्ति पर होने वाला संस्कार, (8) विवाह, (9) महायज्ञ—दैनिक होने वाला यज्ञ, (10) वेदयज्ञ—वेद का स्वाध्याय, (11) देवयज्ञ-देवताओं के लिए होम, (12) पितृ यज्ञ—पितरों के लिए तर्पण, (13) भूतयज्ञ—विभिन्न पिशाचादि के लिए बलि प्रदान करना, (14) मनुष्ययज्ञ—अतिथि-सत्कार आदि, (15) दर्शपूर्ण तास्ययज्ञ—इसमें विभिन्न संस्कारों का समावेश एक साथ होता है। जैसे वर्षारम्भ में सर्पों को बलि देना गृह-निर्माण, गृह-प्रवेश, जनहिताय साड़ का छोड़ना, कृषि सम्बन्धी उत्सव तथा चैत्यों पर बलि आदि, (16) अन्त्येष्टि, (17) श्राद्ध, (18) पितृ मेध।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय गृहस्थ के धार्मिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से तथा नृतत्वविज्ञान एवं इतिहास के विद्यार्थी के लिए गृह्यसूत्रों की उपयोगिता विशेष महत्त्वपूर्ण है। भारोपीय जाति प्रथाओं का गृह्यसूत्र में उपलब्ध

वैवाहिक विधियों के साथ किया जाने वाला अध्ययन इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि एक समय इन जातियों का पारस्परिक सम्बन्ध केवल भाषा तक ही सीमित नहीं था, अपितु दैनिक जीवन की विधियों में भी अनुस्यूत था। प्रो० विन्टरनिट्ज ने गृह्यसूत्रों की रचना को प्राच्य भारत का समाचार पत्र बतलाते हुए सम्पूर्ण भारतीय सूत्र साहित्य को विश्व के उपलब्ध वाङ्मय में सर्वथा अतुलनीय बतलाया है।

धर्मसूत्र

इस साहित्य में प्राचीन भारतीय गृहस्थ के दैनिक आचार-संहिता का निरूपण किया गया है। इस प्रकार का साहित्य भी सूत्रात्मक शैली में ही निबद्ध मिलता है। प्रमुख धर्मसूत्र निम्न हैं—

(1) **आपस्तम्ब धर्मसूत्र**—प्रस्तुत धर्मसूत्र की विषय-सामग्री आपस्तम्ब कल्पसूत्र के अट्ठाइसवें तथा उन्नीसवें अध्याय से संगृहीत है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के यज्ञ तथा क्रियाओं का विधान है। साथ ही इसमें कतिपय ऐसे भोज्य पदार्थों की चर्चा आती है, जिन्हें अभक्ष्य एवं सेवन के योग्य नहीं माना गया है। तप एवं शुद्धि का भी विधान है। भाषा पाणिनी से पूर्ववर्ती है। प्रो० बूह्लर ने समस्त सूत्र साहित्य का रचनाकाल 400 ई० पूर्व माना है।

(2) **हिरण्यकेशी धर्मसूत्र**—प्रस्तुत धर्मसूत्र का आपस्तम्ब धर्मसूत्र से गम्भीर सम्बन्ध है। प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व पाँचवीं सदी में प्रस्तुत धर्मसूत्र ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र से स्वतन्त्र होकर अपना वर्तमान रूप ग्रहण किया है। जहाँ तक विषय सामग्री का प्रश्न है, हिरण्यकेशी सम्प्रदाय के कल्पसूत्र के छब्बीस एवं सत्ताईसवें अध्याओं की सामग्री को ही इसमें निरूपित किया गया है।

(3) **बौद्धायन धर्मसूत्र**—इसकी बिषय-वस्तु सम्प्रदाय के कल्पसूत्र से विना किसी क्रम के उद्धृत की गई है तथा यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र से प्राचीन प्रतीत होता है। यद्यपि आज भारत के किसी भी प्रदेश में बौद्धायन सम्प्रदाय का अस्तित्व नहीं है; परन्तु प्राचीन समय में दक्षिण भारत इसका प्रसार क्षेत्र था, ऐसा कहा जाता है।

आचार्य सायण इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसमें आश्रम चतुष्टय के कर्त्तव्य, विभिन्न जातियाँ, विविध यज्ञ, शुद्धिकरण, तप, शुभ उत्सव, राजाओं के कर्त्तव्य, अपराधियों का न्याय, उत्तराधिकार व्यवस्था, वैवाहिक नियम आदि

अनेक विषयों का अनुशीलन हुआ है। इसका चतुर्थ अध्याय पद्यात्मक है जो कि धर्मसूत्र के बाद की रचना होने का सूचक है।

(4) **गौतम धर्मशास्त्र**—इसका मौलिक सम्बन्ध यद्यपि किसी कल्पसूत्र से नहीं है तथापि सामवेद की राणायनी शाखा से इनका साक्षात्सम्बन्ध बतलाया गया है। कुमारिल के मत में तो इसका सामवेद से ही साक्षात् सम्बन्ध है। क्योंकि इसका छब्बीसवाँ अध्याय सामवेद ब्राह्मण की ही अविकल प्रतिलिपि है। यद्यपि धर्मशास्त्र की संज्ञा से इसे अभिहित किया जाता है; परन्तु शैली की दृष्टि से इसे धर्मसूत्र की कोटि में परिगणित किया जाना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। यह गद्यात्मक रचना है।

(5) **वशिष्ठ धर्मशास्त्र**—इस रचना में तीस अध्याय हैं। अन्तिम पाँच अध्याय बाद की रचना मानी जाती है। रचना गद्य-पद्य उभयात्मक है। पद्य में त्रिष्टुप् छन्द का ही मुख्यतः इसमें प्रयोग हुआ है। इसकी धर्मसूत्र सम्बन्धी सामग्री प्राचीनतम है। वैवाहिक विधियों में आपस्तम्ब धर्मसूत्र की भाँति केवल 6 विधियों को ही इसमें स्थान दिया गया है।

(6) **मानव धर्मसूत्र**—इस धर्मसूत्र के अनेक उद्धरण वशिष्ठ धर्मशास्त्र एवं मनुष्मृति में पाये जाते हैं।

(7) **वैखानिक धर्मसूत्र**—यह कृति चार प्रश्नों में विभक्त है। इसमें आश्रम चतुष्टय के विभिन्न कर्त्तव्यों की विधिवत् विवेचना है। संन्यास आश्रम का विस्तार से वर्णन है। मान्यता की दृष्टि से विष्णु धर्म-सम्प्रदाय से इनका अधिक सम्बन्ध है। विषय की दृष्टि से इसे धर्मसूत्र की अपेक्षा गृह्य-धर्मसूत्र कहना अधिक संगत होगा। यह ईसा की तृतीय-शताब्दी से पूर्व की रचना प्रतीत नहीं होता है।

शुल्वसूत्र

ये ग्रन्थ क्रियात्मक अधिक हैं। इनमें आपस्तम्ब सम्प्रदाय के कल्पसूत्र के अन्तिम 30वें प्रश्न का ही विवेचन है। इनमें यज्ञवेदिका निर्माण सम्बन्धी विधियों का उल्लेख है।

वैतान सूत्र का अंग भूत 'प्रायश्चित सूत्र' प्राचीनतम सूत्रों में से एक है।

प्रश्न—वेदांग साहित्य का परिचय दीजिये ।

What is the exact meaning of the term Vedang ? Explain the subject matter for the Vedang and a descriptive note regarding some of the most important works covered under that title.
—आ० वि० वि० 57

Or

What is the meaning of the term Vedang and how many of them are there ? Discuss their significance. —आ० वि० वि० 59

उत्तर—सूत्रात्मक शैली में निर्मित वैदिक साहित्य का एक और अंग है जिसे वेदांग साहित्य की संज्ञा प्रदान की गई है । वेद से स्वरूप तथा उसके अर्थ के संरक्षण के निमित्त ही वेदाङ्ग साहित्य का प्रणयन हुआ है । मुण्डकोपनिषद् में उपलब्ध छः वेदाङ्गों के नाम और उनका विधिवत् विवेचन सिद्ध करता है कि इस साहित्य का उदय उपनिषद् काल में ही हो चुका था । इन अङ्गों का नाम है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ।

शिक्षा—शिक्षा का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में दृष्टिगोचर होता है । उसमें शिक्षा के इन अङ्गों का अध्ययन स्वीकृत किया गया है । (1) वर्ण, (2) स्वर, (3) मात्रा, (4) बल, (5) साम, (6) सन्तान । प्रथम तीन अंग अपने अभिधान के अनुरूप ही भावाभिव्यक्ति करते हैं । बल का आशय स्थान एवं प्रयत्न के आधार पर स्वरों से है । **साम** का अर्थ है, निर्दोष एवं माधुर्यादि गुणों के साथ स्पष्ट उच्चारण । **सन्तान** का अर्थ है, पदों की अतिशय संहिता अर्थात् सन्निधि । शिक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, वह विद्या जो स्वर वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे—**स्वर उच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा** । इस प्रकार शिक्षा नामक अंग वैदिक साहित्य के अध्ययना-ध्यापन की विधि का निर्देश करता है । वेदों के अध्ययन में स्वरों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान हैं । स्वर की अशुद्धि से महान् अनर्थ होने की सम्भावना रहती है । पाणिनीय शिक्षा में एक स्थान पर लिखा है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रति-पादन नहीं करता है । वह तो वाणी का वज्र बनकर यजमान का ही घातक होता है । उदाहरण के लिए जैसे इन्द्र शत्रु शब्द यजमान का ही घातक हुआ था ।

ध्वनि शिक्षा का प्राचीनतम निर्देशन वैदिक संहिता पाठों में उपलब्ध होता है। पदपाठ का सन्निवेश भी ध्वनि शिक्षा के ही अन्तर्गत माना जाता है। लेकिन वास्तविक रूप में वैदिक शिक्षा का प्रतिनिधित्व प्रातिशाख्य साहित्य में ही प्राप्त होता है। इन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वैदिक संहिता पाठ एवं पद पाठ का उचित रूप में निर्देश किया गया है। प्रातिशाख्यों का रचनाकाल पाणिनी-पूर्व माना जाता है। वैदिक प्रातिशाख्य निम्न हैं—

(1) **ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य**—इन प्रातिशाख्य में तीन अध्याय हैं। आश्वलायन के गुरु शौनक इसके कर्त्ता माने जाते हैं। अन्त में उपलेख नामक एक भाग में कुछ परिशिष्टों का भी समावेश उपलब्ध होता है।

(2) **अथर्ववेद के प्रातिशाख्य**—अथर्व के तीन प्रातिशाख्य प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम शौनक सम्प्रदाय का जिसमें चार अध्याय हैं और जो डा० ह्विटनी के द्वारा सम्पादित एवं अनूदित होकर प्रकाशित भी हो चुका है। अथर्व का दूसरा प्रातिशाख्य "अथर्ववेद प्रतिशाख्य सूत्र" विश्वबन्धुशास्त्री के द्वारा सम्पादित होकर पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। यह एक स्वल्पकाय रचना है जिसमें अथर्ववेद के कतिपय विषयों का ही उल्लेख है। तीसरा अथर्व प्रातिशाख्य है जो लाहौर से भूमिका एवं टिप्पणी प्रकाशित हुआ है।

(3) **बाजसनेयी प्रातिशाख्य**—यह यजूर्वेद की बाजसनेयी संहिता का प्रातिशाख्य है। इसमें आठ अध्याय हैं और कात्यायन ने इसकी रचना की है। इसमें शौनक आदि कतिपय पूर्ववर्ती ऋषियों का भी उल्लेख किया गया है।

(4) **तैत्तिरीय प्रातिशाख्य**—यह अजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध है; इसमें प्रातिशाख्य सम्बन्धी नियमों के अतिरिक्त लगभग बीस ऋषियों के अश्रुतपूर्व नाम भी मिलते हैं।

सामवेद के मुख्य प्रातिशाख्य दो ही हैं—(1) पुष्पसूत्र—इनका प्रणयन पुष्प ऋषि द्वारा हुआ है। इसमें दस प्रपाठक हैं तथा उपाध्याय अजातशत्रु ने इस पर एक भाष्य भी लिखा है (2) ऋक्तन्त्र—यह सामवेद की कौथुम-शाखा का प्रातिशाख्य है। ऋक्तन्त्र व्याकरण इसका दूसरा नाम है। शाकटायन द्वारा इसकी रचना हुई।

उपर्युक्त प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य शिक्षा ग्रन्थ भी हैं—(1) पाणिनीय शिक्षा—यह अत्यन्त सुप्रसिद्ध शिक्षाग्रन्थ है। (2) याज्ञवल्क्य

शिक्षा—इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता है। इसमें 232 पद्य हैं। (3) वाशिष्ठी शिक्षा—इसका सम्बन्ध भी वाजसनेयी संहिता से है। (4) कात्यायनी शिक्षा—इसमें केवल तेरह पद्य हैं और इन पर जयन्त स्वामी नामक विद्वान् की एक संक्षिप्त टीका भी है। (5) पाराशरी शिक्षा—इसमें एक सौ आठ पद्य हैं (6) माण्डव्य शिक्षा—यह शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें वाजसनेयी संहिता के ओष्ठ्य-वर्णों को ही संगृहीत किया गया है। (7) अमोघानन्दिनि शिक्षा—इसमें एक सौ तीन पद्य हैं जिनमें स्वरों एवं वर्णों का सूक्ष्म विचार किया गया है। (8) माध्यन्दिनीय शिक्षा—इसमें केवल द्वित्व के नियमों का विधान किया गया है। (9) वर्णरत्न प्रदीपिका—इसमें दो सौ सत्ताईस पद्य हैं तथा भारद्वाजवंशीय अमरेश ने इसकी रचना की है। (10) केशवीय शिक्षा—इसके रचयिता आस्तिक मुनि के वंशज केशव हैं। (11) मल्लशर्म शिक्षा—इसमें पैंसठ पद्य हैं जिनकी रचना मल्लशर्म ने की है। (12) स्वरांकुश शिक्षा—यह पच्चीस पद्यों की एक छोटी-सी रचना है, रचनाकार जयन्त स्वामी हैं। (13) षोडषश्लोकीय शिक्षा—सोलह पद्य का शिक्षा ग्रन्थ रामकृष्ण प्रतीत है। (14) अवसाननिर्णय शिक्षा—इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है, रचनाकार अनन्त देव हैं। (15) स्वर-भक्ति-लक्षण शिक्षा—इसमें मुख्यतः स्वरों का विवेचन है। उसके लेखक बालकृष्ण हैं। (16) नारदीय शिक्षा—प्रस्तुत शिक्षा ग्रंथ सामवेद से सम्बन्धित है। इस पर शोभाकार भट्ट की एक विस्तृत व्याख्या भी उपलब्ध होती है। स्वर रहस्य विज्ञान के लिए यह अत्यन्त उपादेय शिक्षा-ग्रंथ है। (17) माण्डूकी शिक्षा—इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है और इसमें एक-सौ नौ पद्य पाये जाते हैं। पण्डित वनराज ने अपनी सूची में चार अन्य शिक्षा-ग्रंथों का उल्लेख किया है। इसमें याज्ञवल्क्य शिक्षा के पद्यों की संख्या 25,000 तथा गणेश सूत्र में एक लाख पच्चीस हजार पद्य हैं। भारद्वाज शिक्षा में 36,000 पद्य हैं, तथा काश्यप शिक्षा में 56,000 श्लोक या सूत्र हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षा साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में भाषाशास्त्र का कितना सूक्ष्म एवं गम्भीर अध्ययनाध्यापन किया गया है।

व्याकरण—व्याकरण भी वेदांग का एक अन्यतम अंग है। इस अंग में सुवन्त तिङ्गतपदों की व्याख्या की जाती है अर्थात् वेद का भाषाशास्त्रीय अध्ययन इसी अंग के अन्तर्गत होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की

जाती है। **व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेन-इति व्याकरणम्** । पदों की मीसांसा करने वाला शास्त्र ही व्याकरण है। व्याकरण को वेदपुरुष का मुख कहा गया। **मुखं व्याकरणं स्मृतम्** । ऋग्वेद में व्याकरण का रूपक वृषभ से जोड़ा गया है। इस व्याकरण वृषभ के चार सींग हैं, नाम आख्यान उपसर्ग तथा निपात। तीनों काल भूत, भविष्य, वर्तमान ही इसके चरण हैं। सुप तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ ही इसके साथ हैं। यह व्याकरण वृषभ, उर, कण्ठ और सिर तीन स्थानों से बंधा हुआ है।

गोपथ ब्राह्मण के एक अवतरण से सिद्ध हो जाता है कि साधारण शास्त्र का उदय पुरातन है। वहाँ स्पष्ट ही उल्लेख मिलता है—**ओंकारः प्रच्छामः को धातु ? किम्प्रातिपदिकम् ? किमाख्यातम् ? किंलिगम् ? किं वचनम् ? का विभक्तिः ? कः प्रत्यय ? कः स्वर ? कः उपसर्गों निपातः ? किं वै व्याकरणम् ? को विकारः ? को विकारीः ? कति मात्रा ? कति वर्णा ? कतिपदाः ? कः संयोगः ? किं स्थानानुप्रदायकरणम् ? शिक्षकाः किमुच्चारयन्ति ? किं छन्दः ? को वर्णः इति पूर्व प्रश्नाः ?**

महर्षि शाकटायन ने व्याकरण के उद्भव की चर्चा करते हुए ऋक्तन्त्र में लिखा है कि बह्मा ने सर्वप्रथम व्याकरण का उपदेश बृहस्पति को दिया, उसने इन्द्र को, इन्द्र ने भारद्वाज को, भारद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मण को दिया। इस सम्बन्ध में निम्नांकित जनश्रुति प्रसिद्ध है—

समुद्रवत व्याकरण महेश्वरे तदर्घ कुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ। तदग्रभागाच्च शतम्पुरन्दरे कुशाग्रमुबिन्दूत्पतितम् पाणिनौ । उक्त जनश्रुति इस बात की सूचक है कि लोक विश्रुत ऐन्द्र व्याकरण इन्द्र की रचना है। वर्तमान में वेदांग का प्रतिनिधित्व करने वाला पाणिनीय व्याकरण भी उपलब्ध है। महर्षि पाणिनी ने अपने व्याकरण की रचना 4000 अल्पाक्षर सूत्रों में की है। पाणिनी की अष्टाध्यायी व्याकरण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक रचना है। इसके सूत्रों में अनेक ऋषियों के नामों का भी उल्लेख हुआ है। वैय्याकरणों में पाणिनी के पश्चात् व्याडि का नाम लिया जाता है। नागेश के कथनानुसार व्याडि ने एक लाख श्लोक प्रमाण व्याकरण की रचना की थी। व्याडि के पश्चात् निरुक्तकार यास्क का प्रादुर्भाव हुआ। यास्क के पश्चात् कात्यायन एवं इनके पश्चात् पतंजलि का उल्लेख मिलता है।

आचार्य वररुचि ने व्याकरण शास्त्र के महत्त्व का विवेचन करते हुए

इसके पाँच प्रधान प्रयोजन बतलाये हैं। महर्षि पतंजलि ने भी महाभाष्य में व्याकरण शास्त्र के तेरह प्रयोजनों का उल्लेख किया है। वररुचि के अनुसार व्याकरण के मुख्य पाँच प्रयोजन निम्नलिखित हैं—(1) रक्षा, (2) ऊह, (3) आगम, (4) लघु तथा (5) असन्देह। व्याकरण का प्रधान उद्देश्य वेदों की रक्षा करना है। वेदों की रक्षा पद, वर्ण, मात्रा के उचित उच्चारण तथा प्रयोग से ही सम्भव है। ऊह का अर्थ है, नूतन पदों की कल्पना। यह व्याकरण शास्त्र के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। स्वयं श्रुति ही व्याकरण के अध्ययन की अनिवार्यता की बोधक है। ब्राह्मण का परम कर्त्तव्य षडङ्ग का अध्ययन है। षडङ्गों में भी व्याकरण मुख्य है। लघुता के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए। संस्कृत भाषा अपार समुद्र जलराशि के समान है। जन्म-जन्मान्तरों में भी उसका पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। व्याकरण ही वह लघु-उपाय है जिसके आश्रय से हम ज्ञानोपार्जन सहज ही में कर सकते हैं। वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न सन्देह का निवारण व्याकरण शास्त्र ही कर सकता है।

निरुक्त—सायण ने निरुक्त की व्याख्या करते हुए लिखा है कि **"अर्थावबोधो निरपेक्षतयापदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्"** अर्थज्ञान की दृष्टि से स्वतन्त्र पद संग्रह का नाम निरुक्त है। वस्तुतः निरुक्त निघण्टु की टीका है और निघण्टु में वैदिक क्लिष्ट पदों का संग्रह किया गया है।

महाभारत के एक उल्लेख के अनुसार कश्यप को निघण्टु का एक रचनाकार माना जाता है। निघण्टु में पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरे अध्याय का अपर नाम एकपदिक भी है। चतुर्थ से षष्ठ अध्याय नैगमकाण्ड तथा सप्तम से द्वादश अध्याय दैवतकाण्ड कहलाते हैं।

प्रथम तीन अध्यायों में पृथ्वी स्थानीय पदों का संग्रह किया गया है। नैगमकाण्ड में इस प्रकार के शब्दों को संगृहीत किया गया है जिनके प्रकृति प्रत्यय की कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती। लिखा है—"अनवगत संस्कारश्च निगमान्" दैवत काण्ड में पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग के देवताओं का वर्गीकरण तथा उनका विवेचन किया गया है। निरुक्त को पढ़कर हमारा सहज अनुमान यह होता है कि वैदिक व्याकरण का प्रारम्भ यहीं से होता है।

आजकल प्राप्त निघण्टु के व्याख्या कर्त्ता हैं देवराज यज्वा। क्योंकि सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में निघण्टु भाष्य के वचनों का उल्लेख किया। अतः देवराज यज्वा सायण के पूर्ववर्त्ती सिद्ध होते हैं। सायण ने अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीरस्वामी तथा अनन्य आचार्य की निघण्टु व्याख्याओं का भी उल्लेख किया है।

दुर्गाचार्य ने अपने से पूर्व चौदह निरुक्तकारों तथा यास्क ने बारह निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। वृहद्देवता तथा पुराणों में शाकपूणि नामक निरुक्तकार को यास्क के विरुद्ध मत प्रदर्शित करने वाला बताया गया है। आजकल यास्क निर्मित निरुक्त ही वेदांग का प्रतिनिधित्व करता है।

छन्द—पाणिनी ने अपनी "पाणिनी शिक्षा" में छन्द को वेद का पाद बतलाया है। "छन्दः पादौ तु वेदस्य" तथा कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में अक्षर परिमाण को ही छन्द का लक्षण निर्दिष्ट किया है। "यदक्षर परिमाणं तच्छंदः" यद्यपि छन्द का सर्वप्रथम उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है, परन्तु उनका विधिवत् विवेचन निम्नांकित रचनाओं में उपलब्ध होता है—(1) शांखायन श्रौतसूत्र, (2) ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अन्तिम तीन अध्यायों में (3) सामवेद के कुछ सूत्र ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त पिंगल छन्द सूत्र में भी वैदिक छन्दों का कुछ निरूपण हुआ है। कात्यायन ने वैदिक छन्दों की निम्नांकित संख्या निर्धारित की है—गायत्री 2467, उष्णिक् 341, अनुष्टुप ८65, वृहती 181, पंक्ति 312, त्रिष्टुप 4253, जगती 1358। इसके अतिरिक्त अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी आदि में भी निबद्ध 302 के लगभग अन्य मन्त्र भी हैं।

लौकिक छन्दों के विकास की गाथा भी इन्हीं वैदिक छन्दों में निहित है। पण्डित धनराज ने निम्नलिखित छन्द ग्रन्थों के नाम और दिए हैं।

(i) छन्दोर्णव—इसमें एक लाख बत्तीस हजार पद्य हैं।

(ii) विष्णुसूत्र—इसमें पच्चीस हजार पद्य हैं।

(iii) छन्दो रहस्य—इसमें सोलह हजार पद्य हैं।

(iv) छन्द प्रभाकर—बारह हजार पद्य प्रमाण वाली रचना है।

(v) छन्द प्रवेश---बत्तीस हजार श्लोकयुक्त रचना है।

(vi) छन्दो रत्नाकर---इसमें सात हजार श्लोक हैं।

ज्योतिष—ज्योतिष भी एक वेदांग है। याज्ञिक विधि-विधान में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर आदि के ज्ञान की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि ज्योतिष को वेदांग का एक अंग माना गया है।

वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—एक, यजुष ज्योतिष— जिसका यजुर्वेद से सम्बन्ध है; दूसरा ज्योतिष—जिसका ऋग्वेद से सम्बन्ध है। प्रथम में तेंतालिस तथा द्वितीय में छत्तीस पद्य हैं। इनमें सत्ताइस काल के ज्योतिष की उपलब्धियों का वर्णन है।

वेदांग ज्योतिष के कर्त्ता का नाम लगध बतलाया जाता है। इसमें सत्ताइस नक्षत्रों की गणना दी गई है। परवर्ती काल के ज्योतिष ग्रन्थों में वराहमिहिर का सूर्य सिद्धान्त उल्लेखनीय है। इनके पहले पाराशर एवं गर्ग की प्रख्यात् ज्योतिर्विदों में गणना की जाती रही है और भी बाद के आचार्यों में आदिभट्ट वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य एवं कमलाकार आदि ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है।

दशम अध्याय

वैदिक संस्कृति, सभ्यता एवं समाज

वैदिक संस्कृति के मूल तत्वों की समीक्षा कीजिए ।

Describe the essential feature of the Vedic Culture as represented in the Rigveda. —आ० वि० वि० 64

Or

वैदिक संस्कृति में नैतिक मूल्यों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए ।

उत्तर—विश्व के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी सन्देह के पहुँचते हैं कि विश्व में प्राप्त होने वाली समस्त संस्कृतियों में यदि कोई प्राचीनतम संस्कृति है तो वह वैदिक संस्कृति ही है। संसार के अन्य राष्ट्र जब अज्ञानान्धकार में निमग्न थे, उस समय वैदिक आर्य सम्पूर्ण कला-कौशलों के विशेषज्ञ थे। इस तथ्य को भले ही विश्व के शिक्षाभिमानी दुराग्रह के कारण स्वीकार न करें; किन्तु उन्हें पाश्चात्य आलोचक विन्टरनिट्ज के हृदयोद्गारों को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए—

If we wish to learn the beginning of own culture, if we wish to understand the oldest Indo-European Culture, we must go to India where the oldest literature of an Indo-European people is preserved.

आज भी भारतीय संस्कृति वस्तुतः वैदिक सस्कृति के बहुमुखी व्यापक, तथा शाश्वतिक प्रभाव को लेकर जीवन-यात्रा कर रही है। इसके तत्त्व इतने पुष्ट हैं कि वह विशाल जीवन-यात्रा में कभी पथभ्रष्ट नहीं हुई है। इस संस्कृति के तत्व प्राचीनतम वैदिक संस्कृति के तत्व हैं, जो कि विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों

में से एक है। उस संस्कृति की प्राचीनता की घोषणा विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद स्वयं कर रहे हैं—"**सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा**"। विश्व के द्वारा वरणीय अर्थात् आनन्ददायिनी संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी अपने हृदयोद्गार इस प्रकार अभिव्यक्त किए हैं—

प्रथम प्रभात उदय तब गगने।
प्रथम सामरब तब तपोवने॥

संस्कृति का समानान्तर एक अन्य शब्द है—**सभ्यता**। किन्तु सभ्यता एवं संस्कृति इन दोनों ही शब्दों में अन्तर है। सभ्यता से अभिप्राय मानव की भौतिक विचारधारा से तथा संस्कृति शब्द मानव के आध्यात्मिक एवं मानसिक क्षेत्र के विकास का सूचक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानव-जीवन में अध्यात्म का महत्त्व भी स्वाभाविक है, भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा तृप्त होती है किन्तु आत्मा अतृप्त ही रहती है। इसी आत्मा से सम्बद्ध विकास के लिए किये गये कार्य संस्कृति के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। वह केवल भोजन से ही अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता है। शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा की तृप्ति तो सम्भव है; किन्तु मन एवं आत्मा सर्वथा अतृप्त ही रहेंगे। मन एवं आत्मा की तृप्ति के लिए मानवीय विकास एवं उन्नति को हम संस्कृति कहें तो अनुपयुक्त न होगा। मानवीय जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन का उदय है, मनुष्य सौन्दर्य तत्त्व की खोज में लीन होकर संगीत, साहित्य आदि अनेक कलाओं को जन्म एवं विकास प्रदान करता है।

इस प्रकार मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के द्योतक तत्त्व को हम संस्कृति का अंग कहें तो अनुपयुक्त न होगा। पारिभाषिक रूप में इसे हम यों कह सकते हैं—

किसी समाज, देश या राष्ट्र के मानवों के धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान से सम्बद्ध क्रियाकलाप तथा आदर्श, सभ्यता, संस्कार इन सभी का जो सामंजस्य है वही संस्कृति है अथवा **स्थूल रूप से संस्कारों का नाम ही संस्कृति है** जो कि दुर्गुण, दुर्व्यसन, पाप तथा भावनाओं को हृदय से निकालकर निष्पाप

तथा शुभ गुणों से युक्त करती है। संस्कृति का निर्माण सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु क्तिन् प्रत्यय के योग से होता है। इस प्रकार संस्कार, संस्कृत एवं संस्कृति—तीनों शब्दों का मूल एक ही है तथा अर्थ है—संवारना तथा शुद्ध करना।

वैदिक संस्कृति में मानव का जीवन उल्लासमय तथा आशामय था, निरन्तर आगे बढ़ने की लालसा थी, यत्र-तत्र-सर्वत्र वैदिक मन्त्रों में यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। जिस प्रकार परवर्त्तीकाल में मानव को निराशावादी एवं पलायनवादी तक बनना पड़ा, उसका वैदिक काल में नामोनिशान न था, "वैदिक विचारधारा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख का अभावरूप मुक्ति या मोक्ष जैसा न होकर निश्चित रूप भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्त्व आनन्त्य या निश्रेयस् ही कहा जा सकता है........बहुत से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में मुक्ति, मोक्ष अथवा दुःख शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला। हमारी समझ में उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टि की पुष्टि में यह एक अद्वितीय प्रमाण है।" वैदिक ऋषियों ने सर्वदा प्रकृति माता की गोद में क्रीड़ा करने की कामना की है, उनके लालन-पालन तथा पोषण में अमृतत्त्व के आनन्द की अनुभूति की है। यही नहीं, प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में निहित प्रसादनी शक्ति को अपने मन में आविर्भूत होने की कामना की है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में—

पश्येम शरदः शतम्। जीवेमशरदः शतम्
दुध्येमशरदः शतम् । रोहेम् शरदः शतम्
पूषेमशरदः शतम् । भवेम शरदः शतम्
भूषेमशरदः शतम्। भूयसी शरदः शतम्

अर्थात् सौ वर्ष से भी अधिक जीने, देखने, सुनने, ज्ञानार्जन करने, बढ़ने, पुष्ट होने और आनन्दमय जीवन की कितनी कमनीय कामना है। "जीवन के विषय में यह सुखद स्वरूप, भव्य और स्वर्गीय भावना कितनी उत्कृष्ट है। भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा में यह निःसन्देह अद्वितीय है और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा में गंगोत्तरी के जल के समान दिव्य और पवित्र है।"[1]

---

1. भारतीय संस्कृति का विकास : डॉ० मङ्गलदेव

इस सांस्कृतिक अभ्युदय काल में आर्यजाति उत्साहमय स्वस्थ वातावरण में यशस्वी जीवन की विजय-यात्रा में अग्रसर हो रही थी, उसका जीवन उस काल में वेद था, कर्मकाण्ड की इस युग में प्रधानता थी, इससे आगे क्रमशः विकासशील वैदिक ऋषि परमात्मा के विभूति रूप सूर्य, वायु, उषा आदि देवों के साथ सरल भाव से विचरण करते हुए प्रतीत होते हैं। इसी युग में जातीय जीवन को सुव्यवस्थित और संगठित करने की प्रवृत्ति के आधार पर याज्ञिक कर्मकाण्ड का एक विशिष्ट कर्मकाण्ड के रूप में प्रारम्भ हुआ था। इस पृष्ठभूमि के उपरान्त हम वैदिक संस्कृति के कुछ मूलाधार तत्त्वों का विवेचन संक्षेप में करेंगे; जिनमें हमें पता चलेगा कि वर्तमान भारतीय संस्कृति के निर्माण के मूल में किन-किन तत्त्वों का योग है।

अध्यात्मवाद

वैदिक संस्कृति की प्रथम विशेषता या मूलाधार ऋतु और सत्य की भावना हैं, समस्त संसार प्राकृतिक शक्तियों के अधीन नियमानुकूल चलायमान है, इन नियमों में कहीं वैषम्य नहीं है; इसी विषमता के अभाव को ऋतु कहा जाता है। मानव-जीवन के प्रेरक नैतिक तत्त्वों का नाम सत्य है। डा० मंगलदेव जी ने लिखा है कि अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है; परन्तु वैदिक आदर्श इससे भी आगे बढ़कर ऋतु और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है। इसी ऋतु एवं सत्य की भावना का बहुत अधिक स्पष्ट एवं व्यापक रूप अध्यात्म तत्त्व में भी देख सकते हैं।

यह अध्यात्मवाद हमें भोगवाद से दूर कर ईश्वर-विषयक ज्ञान की ओर ले जाता है, यह हमें प्रकृति से प्रेम करना भी सिखाता है। ईशोपनिषद् के आरम्भ में जगत्तत्त्व की खोज में लीन ऋषियों ने अपनी विचारधारा को क्या आध्यात्मिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक तथा क्या ही शारीरिक—सभी क्षेत्रों के मानवीय कर्त्तव्यों को सूत्र रूप में निबद्ध किया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चत् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्त न भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनस्। (1)

सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से व्याप्त है। इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"जड़ चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतारि।"

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना ही आस्तिकता है। ईश्वर सर्वव्यापक है अर्थात् पाँचों तत्त्वों पर एक महान् शक्ति का शासन है, यह स्वीकार कर लेने पर—मानव पाप-कार्य के लिए जो एकान्त चाहता है, उस एकान्त का तो सर्वत्र ही अभाव होगा, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस प्रकार आत्मिक उन्नति के लिए इस ईश्वर की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना ही होगा; इस सिद्धान्त को हृदयंगम कर लेने से आत्मा में शक्ति का आविर्भाव होगा, विश्व की अशान्ति का शमन होगा, विश्व-बन्धुत्व का प्रसार होगा। यह आस्तिकवाद का सिद्धान्त कि ईश्वर सर्वव्यापक है, आज भी विश्व के मनुष्यों को अनुप्राणित कर रहा है। कबीरदास के शब्दों में :—

"कस्तूरी कुण्डलि बसे, मृग ढूँढे वन मांहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियाँ देखे नाँहि।"

इस आस्तिकवाद को अर्थात् ईश्वर की सत्ता को पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। **जेम्स जीन्स** महोदय सृष्टि की रचना में आदि कारणभूत एक अनन्त शक्ति को स्वीकार करते हैं। शिकागो विश्वविद्यालय के प्राध्यापक क्रोन्स्ट महोदय भी इसी विचारधारा को स्वीकार करते हैं। सन् 1937 के सितम्बर मास से होने वाली एक सभा जिसका सभापतित्व स्वर्गीय आइन्स्टीन ने किया था, में ईश्वरीय शक्ति को स्वीकार किया गया था, अन्य वैज्ञानिक भी प्लेटो की विचारधारा का समर्थन इस प्रकार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—

Beyond all finite existence and secondary cause, laws, ideas and principle there is an intelligence mind.

इस प्रकार एक महान् शक्ति की सत्ता भारतीय ही नहीं, पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। वैदिक संस्कृति का दूसरा आधार **त्यागभाव** है। संसार का भोग त्यागभाव से करना चाहिए। पदार्थों के उपभोग का इस संस्कृति में निषेध नहीं है, अपितु भोगवाद में लिप्त हो जाने का निषेध है। यह सिद्धान्त जीवन जलयान के लिए प्रकाश-स्तम्भ है, जिसमें जीवन जलयान "भोगवाद रूपी चट्टानों से चकनाचूर होने से बच जाय।" फैजी के शब्दों में, यदि मैं ममता-मोह की मृग-मरीचिका में फँस जाऊँ, उस समय कर्त्तव्य की

पुकार होने पर मैं अपनी रक्षा त्यागभाव से कर सकता हूँ। यदि असमंजस के वात्याचक्र में कुछ निर्णय न होता हो तथा हमारे ज्ञान-चक्षु सांसारिक कृत्रिम चाकचिक्य में चमत्कृत हो गए हों, उस समय वैदिक त्यागभाव की प्रवृत्ति ही भौतिक भावनाओं के कर्दम से मेरा उद्धार करेगी, संकीर्णता से मेरा उद्धार होगा, मानवता की यही परिभाषा है, सात्विकता का यही मूलमन्त्र है।" यही त्यागभाव **'मागृधः कस्यास्विद्धनम्:'** **'स्वधया परिहिता'** का उपदेश देता हुआ मानवमात्र को अशान्ति से शान्ति की ओर ले जाने का यत्न करता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि जब स्वर्ण देवता बन जाता है तो भयभीत मानवता चीत्कार कर उठती है। जब धन की संग्रह प्रवृत्ति बढ़ जाती है तो मानवता की दुहाई देता हुआ मानव-पशु पीड़ितों के शवों को रोंदता हुआ आगे बढ़ता है। क्या इस प्रकार मानव समाज के लिए उपकारी हो सकता है ? आज भी "दादा बड़ा न भैया, सबसे बड़ा रुपय्या" जैसी कहावतें सुनकर ज्ञात होता कि विश्व का वातावरण धन के लिए क्षुब्ध है। त्यागभाव इस विचार के लिए अंकुश के समान हैं।

मैक्समूलर की दृष्टि से "मानवीय चिन्तन शक्ति यहाँ पर अपने सर्वोच्च शिखर पर है। इसके आगे कुछ शेष नहीं है, आर्थिक जगत् की समस्याओं के हल का यही मूल सिद्धान्त है।"

गोल्डस्मिथ के शब्दों में, "जहाँ कुछ स्थान पर धन का ढेर होता है वहाँ मानवता का पतन होता है, राष्ट्र विनाश के गर्त में गिरता है।" इन उद्धरणों से वैदिक त्यागभाव की महत्ता स्वतः स्पष्ट है।

तीसरा आधार है कर्मवाद—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषच्छतं समा।
एवत्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥—ईशो० 1.2

कर्मशील रहते हुए सौ वर्ष जीवन की कामना। कर्मयोग के अतिरिक्त जीवन साफल्य का अन्त कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में अर्जुन को इसी का उपदेश दिया है। निष्कर्मण्यता, पाप एवं अभिशाप है। श्रम न करने से आयु क्षीण होती है पड़े-पड़े लोहे में भी जंग लग जाती है फिर मांस-मज्जा, अस्थि, रक्तादि से निर्मित मानव का कहना ही क्या ? इस प्रकार यह कर्मवाद मानव को कर्मण्यता तथा आशावाद का सन्देश देता है। यह कर्म ही जीवन है।

वैदिक संस्कृति का चतुर्थ आधार आत्म-विश्वास है, आत्मा का हनन करना पाप है, यजुर्वेदीय चालीसवें अध्याय का यह मन्त्र भी यही कहता है—

''असुर्य्यानाम ते लोका: अन्धेन तमसावृता: ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ।।—ईशो० ।।3

वे आत्मघाती हैं, जो स्वार्थ-संकुचित वृत्ति वाले तथा भोगपरायण हैं। आत्महननकर्त्ता अन्धकारवृत्त लोकों में जाकर नरक के भागी होते हैं । आत्म-विश्वास के बिना जीवन व्यर्थ है । इस बौद्धिक एवं कर्म संघर्षरत युग में मानव की अशान्ति का मूल कारण आत्मविश्वास की उपेक्षा ही है ।

वैदिक संस्कृति का पाँचवाँ तत्त्व पुनर्जन्मवाद है, यह पारलौकिक भावना ही मानव को शुभ आचरण करने का उपदेश देती है । इसी भावना से प्रेरित हो, भारतीय वीर एवं वीरांगनाएँ अपने धर्म तथा देश की रक्षा के लिए हँसते हुए प्राणार्पण कर देते थे । पुनर्जन्मवादी यह सोचता है कि 'अयमेव लोक: न पर: अपि', इसका परिणाम होता है कि मानव सदाचार आदि का पालन करता हुआ अगले जीवन को सुखद बनाने की चेष्टा करता है ।

वैदिक संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसी आधार पर ''वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' की भावना परवर्त्तीकाल में पल्लवित हुई; जिसका परिणाम राजा एवं रंक में स्नेह भावना का संचार करता है । उदाहरणस्वरूप कृष्ण-सुदामा की मैत्री को हम ले सकते हैं, जो कि भारतीय इतिहास में अमर है । विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व की उदात्त कमनीय भावना का निदर्शन इस मन्त्र में मिलता है—**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षाम हे**। इसी प्रकार वैदिक साम्यवाद की उदात्त भावना—

संगच्छध्वं संवदध्वं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे संजानानामुपासते ।।

अर्थात् हे भगवान् ! हम सभी समान भाव से विश्व में गति करें, श्रेष्ठ भाषण करें, हमारे हृदय भी कल्याणकारी विचार वाले हों। जिस प्रकार प्राचीन काल में देवकल्याक्षकारी विचारों की ही उपासना करते थे, ऐसे ही हम भी बनें । यही नहीं, विश्व-कल्याण की कामना ही इस संस्कृति का मूल मन्त्र है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेतु ॥

विश्व के प्राणीमात्र सुखी हों; प्राणी-मात्र नीरोग हों, सभी मंगलदर्शी हों; सभी सुखी हों। इसी प्रकार "**पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वत.**" मानवमात्र की परस्पर रक्षा और सहायता करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। "**तत्कृण्मों ब्रह्मवो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्य:**" हम सभी मिलकर मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना के विस्तार की उपासना करें। इस प्रकार की उदार घोषणायें वैदिक संस्कृति की हैं। विश्व की अन्यान्य संस्कृतियों में इसका अभाव ही है। उदाहरणतः यूनान में सुकरात को जहर का प्याला पीना पड़ा, ईसा को फांसी के तख्ते पर बैठना पड़ा। मय संस्कृति का विनाश भी यूरोपियन ने किया। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि वैदिक संस्कृति को सुपथ का मार्ग अपनाने का ही आदेश देती है—

"असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमयेति।"

समन्वयवाद एवं विचार सहिष्णुता भी भारतीय संस्कृति का एक आधार है जिसमें आर्य-अनार्य संघर्ष के उपरान्त अनार्यों का मिलन सहिष्णुता का ही परिचायक है, यही कारण है कि भारत अनेक जातियों का एक राष्ट्र है तथा शैव, शाक्त, वैष्णव, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि अनेक धर्मों का एक धर्म है, वह उसी प्रकार जैसे समुद्र नदियों (जल) का घर होता है—

स यथा सर्वासामपां समुद्रमेकायनम्।

भारत में सभी धर्म एवं सभी जाति समान भाव से फलती एवं फूलती हैं। आज की संस्कृति का निर्माण केवल वेदों से ही नहीं हुआ है अपितु आगमों से भी हुआ है। यह निगमागमसम्मत संस्कृति है। भारत में प्राचीन काल से ही विचार सहिष्णुता एवं धार्मिक विश्वास तथा पूजा-विधियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसका स्पष्ट उदाहरण ऋग्वेद के इस उदाहरण में प्राप्त है—"**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**" अर्थात् वह शक्ति एक ही है; किन्तु विद्वान् उसे विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। गीता में भी इसी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है—"**ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" अर्थात् जो जिस रूप में भजन करते हैं, मैं उन्हें उसी रूप में प्राप्त होता हूँ।

सर्वाङ्गीण अभ्युदय का इस संस्कृति में विशेष स्थान रखा जाता है, इसीलिए पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को समान भाव से महत्त्व प्राप्त है। धर्म इस संस्कृति का प्राणभूत सिद्धान्त है, धर्म ही उन्नति का मूल है तथा जन्म-जन्मान्तर का साथी; यह धारणा प्रत्येक भारतीय के हृदय में बद्धमूल है—"**धर्मः सखा परमहो परलोक याने**", धर्म के बिना कार्य संचालन असम्भव है—काम सृष्टि निर्माण का मूल है। मोक्ष भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा का मूल हेतु है। इस प्रकार इस संस्कृति में ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति के साथ व्यक्तिगत जीवन में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति को समान महत्त्व प्राप्त है। इसके विपरीत सुकरात ने आत्मा को ही महत्त्व प्रदान किया है; पश्चिम केवल भौतिकवादी विकास के लिए कटिबद्ध है। भारत में सर्वाङ्गीण विकास के लिए चार वर्ण एवं चार आश्रमों की व्यवस्था की थी।

आशावाद—भारतीय विचारधारा में दार्शनिक सम्प्रदायों के उदय से साथ ही संसार असार है, जीवन क्षणभंगुर एवं नश्वर है, जैसी निराशावादी भावनाएँ पल्लवित हो चुकी थीं; इन भावनाओं ने मानवीय विकास में एक बड़ा व्याघात उपस्थित किया था; किन्तु वैदिक संस्कृति एवं साहित्य आशावादी भावनाओं में अनुप्राणित है। यत्र-तत्र सर्वत्र जीवन के अभ्युदय एवं सौ वर्ष जीने की कामना वेदमन्त्रों में मिलती है। वैदिक ऋषियों की जीवन के प्रति सदैव उत्साहपूर्ण धारणा रही है। समस्त वैदिक साहित्य अमृतमय, प्राण-संजीवन वचनों से सम्भृत है। यजुर्वेद के मन्त्र में लिखा है कि आत्मत्व या आत्म-चेतना का विस्मृति रूप आत्महत्या (जीवन में आदर्श भावना का अभाव) किसी भी प्रकार की प्रेरणा से विहीन अज्ञानान्धकार में गिराकर सर्वनाश का हेतु है। यजु० 40।3। यही नहीं, वेद में भी कहा है—"आशा हि परमं ज्योति नैराश्यं परमं तमः" तथा "चरैवेति" के रूप में चलते रहने का उपदेश भी वैदिक संस्कृति का ही है। आशय यही है कि दार्शनिक सम्प्रदायों ने निराशावादी भावना का प्रसार यद्यपि किया था; किन्तु वैदिक साहित्य की आशावादी भावना के समक्ष वह पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका।

वैदिक संस्कृति में मानवमात्र के कल्याण की भावना का समावेश है, स्वस्तिवाचनप्रकरण के संकलित मन्त्रों में इसी भावना का पल्लवन हुआ है। भगवान् से सर्वत्र इस प्रकार की कामना की गई है कि—भगवान् जो भद्र या कल्याण है, उसे हमें प्राप्त कराइये; भद्र या कल्याणमय मार्ग पर चलते हुए

हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करें। हे देव ! हम कानों से भद्र सुनें और आँखों से भद्र ही देखें। भगवान् ! हमें प्रेरणा दीजिये कि हमारा मन सर्वदा भद्र मार्ग का ही अनुसरण करे तथा भगवान् ! हमें निरन्तर कल्याण की प्राप्ति कराइये।

वैदिक संस्कृति में मानवमात्र का लक्ष्य, शिक्षा का लक्ष्य एकमात्र ब्रह्मा की प्राप्ति है—"**ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते**" तथा उस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है तप—**तपसा चीयते ब्रह्म** । 1.8 तथा **तपसा किल्वषं हन्ति** ॥

तप के द्वारा पाप नष्ट होते हैं। तप से हमारा तात्पर्य यम नियमानि के पालन से है। यम-नियम भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व हैं। इनके पालन किए बिना मानवजीवन मात्र पशु-जीवन है। निर्दिष्ट ब्रह्म अन्तरात्मा का विषय है।

उपरिनिर्दिष्ट तत्त्व वैदिक संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त हैं जिनका स्थाली-पुलकन्याय में संक्षिप्त परिचय मात्र ही प्रस्तुत किया गया है। वैदिक संस्कृति मानव की मानवता का संदेश देती है। वैदिक संस्कृति के ये तत्त्व चरमोत्कर्ष के द्योतक हैं। इसीलिए यह संस्कृति विश्व की अन्यान्य संस्कृतियों को देखते हुए आज भी जीवित है, उसी वैदिक संस्कृति की उत्तराधिकारिणी संस्कृति के लिए महाकवि इकबाल ने ठीक ही लिखा है—

यूनान मिस्त्र रोमां सब मिट गये जहाँ से।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी ॥

हमारी यही अमर संस्कृति चिरकाल से विश्व का पथ-प्रदर्शन करती रही है और आज ही नहीं; भविष्य में भी अक्षुण्ण बनी रहकर विश्व का मार्ग प्रदर्शन करे, यही एक कामना है।

प्रश्न—ऋग्वेदकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति तथा नैतिक आदर्शों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—

सामाजिक स्थिति

आर्य-अनार्य संघर्ष, आर्य-आर्य संघर्ष के पश्चात् आर्यों के समाज की जो रूपरेखा तैयार हुई, यही उनकी विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। आर्यों के सामाजिक जीवन एवं संगठन पर सर्वाधिक प्रभाव आर्य-अनार्य सम्पर्क का ही पड़ा है।

वैदिक सभ्यता के नयनोन्मीलन काल में मानव मात्र दो वर्णों में विभक्त था—आर्य एवं अनार्य। आर्य धर्म इस काल में एक था, उसमें खान-पान, रोटी बेटी का निकट सम्बन्ध था, उनमें पूर्ण व्यावसायिक स्वतन्त्रता थी, जैसा कि एक ऋषि का कहना है—"मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पीसनहारी है, मैं कविता करता हूँ।" तथापि कुछ ऐसे तत्त्व भी प्राप्त होते हैं जो सामाजिक विकास के सिद्धान्त में तथा सामाजिक वर्गीकरण के कारणभूत हैं। ऋग्वैदिक-काल में कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ आईं, जिनसे पृथक्-पृथक् वर्गों को जन्म मिला; किन्तु वर्गों में विभक्त होने पर भी एक आस्था, एक विश्वास, एक उद्देश्य और पूर्णतः एकात्मकता थी। Muir ने लिखा है कि ऋग्वेद काल में जातिप्रथा नहीं, पुरुष सूक्त में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र चार वर्णों का उल्लेख है। पर यह सूक्त बहुलवाद का है अतः ऋग्वेद के मुख्य भाग के रचनाकाल का चित्रण इसमें नहीं है; परन्तु आर्यों एवं दासों में वर्ण (Colour) के आधार पर जातिप्रथा का उदय होता है। यह भी कहा जाता है कि जिस समय ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का सृजन हो रहा था, उस विश्वामित्र व वशिष्ठ के समय में पुरोहित-वर्ग या राजन्य-वर्ग परम्परागत न था। विराट् पुरुष द्वारा चार-वर्गों की उत्पत्ति का विवरण पुरुष सूक्त में प्राप्त है। उन्हीं के आधार पर इन वर्गों का गुणकर्मानुसार विभाजन परवर्ती काल में इस प्रकार किया गया है—धार्मिक कृत्यव्यवस्था, अध्ययनाध्यापन के लिए एक ब्राह्मण वर्ग बना, होतृ, पोतृ नेष्ट्र, प्रशास्तृ, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि सप्त पुरोधा इन्हीं में से होते थे। ब्राह्मण वर्ग के पारस्परिक विवाहादि सम्बन्ध उन्हीं के वर्ग में होते थे। किन्तु कभी-कभी दूसरे वर्गों में भी हो जाया करते थे। द्वितीय वर्ग राजन्य था, धार्मिक कृत्य के लिए ब्राह्मण। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए, सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस राजन्य वर्ग का निर्माण हुआ। वैसे तो आर्यों को भारत में प्रारम्भ से ही युद्ध करने पड़े थे अतः उस काल में सभी सैनिक थे; किन्तु कालान्तर में धार्मिक यज्ञों के कर्त्ता—एक वर्ग का आविर्भाव हुआ तो धार्मिक यज्ञ-योगादि की रक्षा के लिए द्वितीय राजन्य वर्ग का उदय हुआ। धार्मिक यज्ञों की रक्षा के लिए यह वर्ग शस्त्र धारण करता था, अनार्यों से आर्यों की रक्षा करता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में लिखा है कि आर्य सर्वतः शत्रुओं को घिरे हुए हैं, मानव नहीं हैं। इन परिस्थितियों में राजन्य वर्ग की सैनिक वर्ग की आवश्यकता नितान्त अपरिहार्य

थी। सैनिकों के कार्य कठोर थे, अतः इनकी शिक्षा भी दुरूह थी, सैनिक कार्य में कुशलता पिता से पुत्र को सहज रूप में मिलती थी, क्योंकि पूर्वजों के कार्यों में कुशलता प्राप्त होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इन परिस्थितियों में जो समुदाय या वर्ग बना, उसका नाम क्षत्रिय वर्ग था। इसी वर्ग के समस्त सामाजिक तथा व्यावहारिक विवाहादि कार्य भी इसी वर्ग में होने लगे। कुछ अन्य वर्ग भी जीवन-श्वासें ले रहे थे, जिनका संकेत मात्र ही हमें मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में ब्राह्मण-क्षत्रियों से अवशिष्ट आर्य जनता "विश" कही जाने लगी। प्रारम्भ में यह शब्द भ्रमणशील, आर्यजनता के लिए एक स्थान पर बैठ (विश) जाने से सम्पूर्ण आर्य जनता के लिए था, किन्तु कुछ समय बाद यह एक वर्ग-विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। इन वर्गों के लिए ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक-एक मन्त्र की प्रार्थनाएँ हैं। वैश्यों का कार्यक्षेत्र विशाल था। इसी पर समाज की व्यवस्था आधारित थी क्योंकि प्रथम दोनों वर्गों के कार्य भिन्न थे।'ऋग्वेद के दशम मण्डल के अनुसार शूद्र तो "पदभ्यामजायत" थे, अतः उनका कार्य सेवा मात्र था। इसलिए समाज की जीविका आदि का निर्वाह वैश्य ही करते थे। समाज का समस्त उत्पादन एवं वितरण वैश्य वर्ण पर ही अवलम्बित था।

वैदिक काल में समाज का जो वर्गीकरण किया गया था—उसे वर्ण-व्यवस्था न कहकर वर्ग-व्यवस्था कहना अधिक समीचीन होगा; क्योंकि वह तो मात्र एक वर्गीकरण था; किन्तु यह सच है कि इसी वर्गीकरण में भावी वर्ण-व्यवस्था का मूल निहित था।

परिवार में पितृप्रधान सत्ता थी। एक-पत्नी प्रथा थी; बहुपत्नी प्रथा भी अज्ञात न थी; किन्तु बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन राज्य-परिवारों में ही था। गृहकार्यों का पति ही सर्वेसर्वा था तथा पत्नी गृहस्वामिनी थी। पिता या पितामह कुटुम्ब का प्रधान होता था, वही गृहपति था, वही पालन-पोषण का भार वहन करता था; गृहपति का पद वंशानुगत था। वही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था। ऋग्वेद के अनुसार प्रत्येक को चल-सम्पत्ति का अधिकार था। पशु, अश्व, स्वर्ण, आभूषण, अस्त्र, दास आदि व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप माने जाते थे। परिवार की भूमि पर भी व्यक्तिगत अधिकार होता था। इसी अर्थ में 'क्षेत्र' शब्द व्यवहृत हुआ है। अपाला नामक कुमारी का अपने पिता के उत्तराधिकारी के सदृश ही अपना उर्वर क्षेत्र था। भूमि नापी जाती

थी, खेतों के बीच मेंड़ें बनाई जाती थीं। भूमि-वितरण की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि भूमि अधिक थी। सम्पत्ति का अंकन जन एवं पशु-समुदाय की अधिकता के अनुसार होता था। पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र ही होता था, पुत्री नहीं; किन्तु पिता की एकमात्र सन्तान होने पर वह सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। दत्तक पुत्र प्रथा थी। एक बात यह विशेष थी कि सम्मिलित परिवार प्रथा थी, सामूहिक उत्तरदायित्व वहन करना पड़ता था, जो कि पारिवारिक कलह का कारण बनता था। भ्राता (भरण करने वाला) पिता के बाद बहन का रक्षक होता था, भ्रातृहीन बहनों की स्थिति अच्छी नहीं थी, भाई-बहन की शादी निषिद्ध थी, बाल-विवाह अज्ञात था; वर के वरण करने में स्वतन्त्रता थी। एक बात और यह विशेष थी कि परिवार में पुत्र की कामना अधिक थी।

आर्यों का सामाजिक संगठन इस प्रकार था कि नारी का उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुमारी अवस्था तक वह पिता, भ्राता के संरक्षण में रहती थी, इसके पश्चात् पति के, पति के अभाव में पुत्र के। पर्दा-प्रथा नहीं थी, स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी, वे विदुषी होती थीं, विद्या के क्षेत्र में वे पुरुषों से पीछे नहीं थीं; किन्तु रणक्षेत्र में उनका प्रवेश नहीं होता था, वैसे तो ऋग्वेद में विश्पला नामक एक स्त्री युद्ध में जाती है तथा घायल होने पर अश्विनकुमारों ने उनकी चिकित्सा की थी, का उल्लेख मिलता है। विदुषी एवं वीर स्वभाव की नारियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी, स्वयंवर प्रथा का तो हम उल्लेख ऊपर कर ही चुके हैं, इसी के साथ नारी अपने रूप पर गर्व भी किया करती थी; अतः नारी-सौन्दर्य एवं सौन्दर्यानुभूति की प्रधानता थी। आदर्श विवाह केवल एक माना जाता था, विवाह पर आज के समान उत्सव मनाये जाते थे। बरात पुरोहित, अग्निपरीक्षा आदि सभी कुछ होता था। वधुओं का अत्यधिक सम्मान था, उनकी मंगलकामना सर्वत्र होती थी—'हे वधू! अपनी सास-ससुर को वशीभूत कर लो, अपनी ननद तथा देवरों के मध्य रानी की भाँति सुशोभित हो।"

आर्यों के वस्त्र युगानुकूल ही थे, वे तीन प्रकार के वस्त्र धारण करते थे, एक तो नीवी अर्थात् धोती, दूसरा वास और तीसरा, अधिवास। ऊनी तथा सूती दोनों ही प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था। धनसम्पन्न व्यक्ति स्वर्णग्रथित वस्त्र धारण करते थे। उत्सवों पर उज्ज्वल एवं विशेष वस्त्र धारण करने की

था थी। आभूषण-प्रथा भी प्रचलित थी, आभूषणों में कुण्डल, हार, अंगद, वलय, गजरे आदि प्रमुख थे। नारियाँ साज-शृंगार भी खूब करती थीं क्योंकि ल-कंघी सभी का उल्लेख मिलता है। पुरुष भी बड़े-बड़े बाल रखते थे। दाढ़ी खने की प्रथा थी, कुछ व्यक्ति दाढ़ी मुड़वा भी देते थे। सम्पूर्ण आर्य जाति वच्छ जीवन बिताना चाहती थी। ऋग्वेद में एक स्त्री चार वेणियों को रखती ी।

भोजन में दूध महत्त्वपूर्ण था, दही-घृत का भी प्रयोग होता था, "क्षीर-क्वमौदकम्" भी था। पनीर भी भक्ष्य था। रोटियाँ, चावल, घी के साथ खाये ाते थे। सम्भवतः बलि आदि के अवसर पर मृत पशुओं—भेड़, बकरी आदि ा माँस भक्ष्य था। गाय के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग हुआ है। सुरासुन्दरी ा भी चमत्कार प्रचलित था। अतः यदा-कदा समाज में दुराचार भी सुनने ो मिल जाता था। मधुर पेय पदार्थ सोम था जिसके गुणगान में ऋग्वेद का वम मण्डल भरा हुआ है।

आमोद-प्रमोद के साधनों में रथ-दौड़, घुड़-दौड़, नृत्य, संगीत प्रमुख थे। ुआ भी प्रचलित था। जुआरी की दुर्दशा का वर्णन भी प्राप्त होता है। पुरुष ौर स्त्रियाँ नृत्य भी किया करते थे। वाद्य-यन्त्रों में दुन्दुभी, कर्करा, वेणु, नाड़ी ादि का उल्लेख मिलता है।

वैदिक काल की सामाजिक स्थिति का अध्ययन कर हम इसी निष्कर्ष पर हुँचते हैं कि युगानुकूल आर्यों की सामाजिक स्थिति अच्छी थी, नैतिक स्तर न्नत था। मनुष्य सदाचारी थे। समाज में सुख-शान्ति थी।

ाजनीतिक स्थिति

भारतीय सभ्यता के इतिहास में राजसंस्था चिरकाल से चली आ रही । वैदिक काल में भी इसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति थी। वेद-ग्रन्थों को देखकर में यह भी आभास मिलता है कि उस काल में जनतन्त्र की भावना और नता का भी अपने राज्य-शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। राष्ट्रीय उन्नति के ए सर्वाङ्गीण उन्नति की सर्वत्र कामना है। कुल मिलाकर हम यह कह कते हैं कि वैदिक भारत की शासन-व्यवस्था सुसंगठित थी। राजनीतिक स्था के अध्ययन के लिए हम समस्त शासन-व्यवस्था पाँच विभागों में विभक्त र देखेंगे—(1) कुटुम्ब, गृह या कुल, (2) ग्राम, (3) विश, (4) जन,) राष्ट्र। **कुटुम्ब**—ऋग्वैदिककालीन कौटुम्बिक जीवन अत्यधिक सुगठित

था। कुटुम्ब ही राष्ट्र के शासन की इकाई था। कुटुम्ब का वृद्ध व्यक्ति गृहपति था। प्रत्येक कौटुम्बिक समस्या का समाधानकर्त्ता भी यही था। प्राचीन काल में प्रायः ग्राम के ग्राम एक ही कुटुम्ब के सदस्य होते हैं। **ग्राम**—जब कभी कई कुटुम्ब एक ही स्थान पर रहने लगते थे, तब वे ग्राम कहलाते थे, उन सभी व्यक्तियों की सम्मिलित व्यवस्था के लिए एक नये अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। उसका नाम **ग्रामणी** था। ग्रामणी के निर्वाचन का आधार क्या था, इसका ऋग्वेद में किसी प्रकार का संकेत नहीं मिलता है; किन्तु शासन-व्यवस्था में ग्रामणी का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में व्रजपति शब्द का प्रयोग हुआ है। सम्भवतः वह ग्रामणी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। **विश**—विश के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। फिर भी एक स्थान पर यह आभास मिलता है कि विश एक वर्ग-विशेष था। विश का प्रधान विशपति कहलाता था। इसी विश से वैश्य जाति का उद्भव माना जाता है। कई विश मिलकर जन बनते थे। **जन**—का प्रधान गोप कहा जाता था, गोप का शासन-व्यवस्था में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। देश के लिए राष्ट्र शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। राष्ट्र शब्द से यह अनुमान सहज ही किया जाता है कि उस समय में शासन-व्यवस्था सुविकसित स्थिति में थी। संघात्मक सरकार होने की भी सम्भावना की जा सकती है। **राजा** ही राष्ट्र की शासन-व्यवस्था का सर्वेसर्वा तथा कर्णधार होता था। ऋग्वेद में राजा शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद के एक उल्लेख के अनुसार राजा की स्थिति प्रजा पर निर्भर होती है—**"विशिराजा प्रतिष्ठितः"** तथा हे राजन् तुम प्रजाओं द्वारा राज्य-शासन के लिए चुने जाओ—**'त्वां विशो वृणुतां राज्याय'** अथर्ववेदीय यह उद्धरण भी इसी भाव को पुष्ट करता है कि राजा ही राष्ट्र का अधिकारी होता था, प्रजा का उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है; किन्तु ऐतरेय तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो कथाएँ आती हैं जिनसे राजा के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि देवासुर संग्राम में असुर विजयी हुए। उस समय देवों ने कहा कि हमारी पराजय का मुख्य कारण राजा का न होना ही है। इसलिए हमें राजा का निर्माण करना चाहिए; यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है देवासुर संग्राम में देव एवं असुर दोनों ने ही अपने-अपने सेनापतियों के पुत्र

को छिपा दिया; किन्तु राजा के अभाव में युद्ध कैसे हो सकता था ? अतः देवों ने प्रजापति में कहा कि राजा के बिना युद्ध असम्भव है, फिर देवों ने यज्ञ किया और इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की तथा विजय प्राप्त की। इन पौराणिक आख्यानों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन काल में युद्ध संचालन के लिए किसी शक्तिसम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता होती थी। वही सुरक्षा का भार लेकर न केवल सैनिक संगठन अपितु धन-संचय, शान्ति-स्थापना व सुन्दर शासन-व्यवस्था भी करता था। ऋग्वेद में मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं ने अपने राजस्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे ज्ञात होता है कि वे राजा वैभवशाली होते थे। इनका शासन सर्वत्र अप्रतिहत था। ऋग्वेद के मन्त्रों से राजा ही न्याय करता था, वही दण्ड देता था, गुप्तचरों का भी अपने शासन के लिए उपयोग करता था। राजा प्रजापालक, दीनबन्धु था. उसे जनता से उपहार भी मिलता था। ऋग्वैदिक काल में ब्राह्मण रक्ष्य थे। राजा वैभवशाली थे, सहस्र स्तम्भों से निर्मित स्वर्णिम भव्य एवं सुन्दर महल उनके निवास-स्थल थे।

ऋग्वेद के अध्ययन करने पर हमें कुछ अन्य शब्द भी मिलते हैं जिनका राज्य-शासन में योगदान स्वीकार किया जा सकता है। **राजन्य**—शब्द इसी प्रकार का है, इस शब्द का वेद में अत्यधिक प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्य जमींदार या राजा होता है। राजन्य निश्चित ही राजा के सहायक होते थे, स्वयं भी प्रजाहित में संलग्न रहते हैं। अधिक कहें तो राज्य ही परिवर्त्ती काल में क्षत्रिय कहे जाने वाले वर्ग के पूर्वज थे। **'सम्राट'** शब्द भी अनेकशः वेद में प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः यह किसी चक्रवर्ती राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है; किन्तु प्रमाणाभाव में निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है। उस काल में राजाओं को सहायता या मन्त्रणा देने के लिए मन्त्री भी होते थे। अधिकतर मन्त्री पुरोहित वर्ग के ही थे। इन राजा के सहायकों में सर्वप्रथम पुरोहित होता था, वह राजा के सभी कार्यों में सहायक होता था। यज्ञ कार्य सहायक पुरोहित या पुरोधा होते थे। यही पुरोहित राजा का अभिन्न हृदय, मित्र, पथ-प्रदर्शक, रणक्षेत्र का साथी, यन्त्रदृष्टा तथा स्तुतिकर्त्ता भी होता था। जहाँ पुरोहित एक ओर धार्मिक कृत्यों में प्रधान सहायक होता था, वहाँ वह युद्ध एवं राज्य-शासन में भी राजा का हाथ बँटाया करता था। कीथ ने लिखा है—

"पुरोहित राजा के साथ रणक्षेत्र में जाता था और अपनी प्रार्थनाओं व मन्त्रों द्वारा राजा की विजय का यत्न करता था, अपनी इस सेवा के लिए अनेकशः पुरस्कृत भी होता था।" इसलिए यह कहा जा सकता है कि पुरोहित एक प्रतिष्ठालब्ध सम्पन्न व्यक्ति होता था, युद्ध-संचालन के लिए एक **सेनानी** या **सेनाध्यक्ष** की सत्ता का भी संकेत हमें वेद-मन्त्रों में मिलता है, जिसकी नियुक्ति सम्भवतः राजा स्वयं ही करता था। ऊपर हमने ग्रामणी का संकेत किया है। ग्रामणी के कुछ अन्य सहायक या उसी वर्ग के '**उपस्थि**' कथा '**इम्प**' नामक पदाधिकारी भी होते थे। राज्य-शासन-व्यवस्था के लिए सदाचार वाहक दूत भी होते थे जो कि बुद्धि-सम्पन्न एवं कार्य-कुशल तथा राजा के प्रियजन थे। अस्तु, हम कह सकते हैं कि उस सभ्यता के स्वर्णिम प्रभात में आर्यों ने अपनी राजनैतिक स्थिति दृढ़ बनाने के लिए सुशासन के लिए समुचित व्यवस्था कर रखी थी।

वेद के मन्त्रों में हमें **सभा, समिति एवं सभ्य** तीन शब्दों का और भी उल्लेख मिलता है जो कि प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली इकाइयाँ भी थीं। इन सभा एवं समिति के प्रधान पद का अधिकारी राजा ही होता था। **लुडविग** ने लिखा है कि सभा में उच्च कुल के व्यक्ति भाग लेते थे तथा समिति में जन-साधारण। किन्तु **सिमर** की कुछ अपनी भिन्न मान्यता है। उसके अनुसार समिति में समस्त जनता भाव लेती थी; किन्तु सभा केवल गाँव के लिए होती थी। इस सम्बन्ध में कीथ ने अपने उद्गार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"समिति सम्पूर्ण जाति के कार्यों के लिए जनता की बैठक थी और सभा समिति के एकत्र होने का स्थान था जहाँ सामाजिक बैठक होती थीं।" हाँ, एक बात स्पष्ट है कि सभा एवं समिति के सदस्य को सभ्य कहा जाता था। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राज्य-संचालन के लिए सभा एवं समिति आवश्यक तत्त्व थे जो कि शासन-व्यवस्था में अपना योगदान देते थे। निरंकुश होते हुए राजा पर कभी-कभी प्रतिबन्ध भी लगाती थी।

वैदिक काल में राज्यशासन के संचालन के लिए न्याय-व्यवस्था भी थी। हाँ, एक बात उस न्याय-व्यवस्था की विशेष थी; वह यह कि दण्ड कठोर था, खून का बदला खून ही था। मनुष्य की कीमत भी निश्चित थी। वैदिक न्याय व्यवस्था की कठोरता का संकेत हमें मनुस्मृति में मिल जाता है। ऋग्वेद में

मनुष्यों के लिए बन्दीगृह भी थे। अपराध-सिद्ध के लिए जल एवं अग्नि सम्बन्धी परीक्षाएँ होती थीं।

वैदिक काल का प्रमुख अपराध पशु चोरी था और कभी-कभी अन्न, वस्त्र, द्रव्य के चोरों का भी संकेत मिल जाता है; किन्तु इन अपराधियों का पता लगने पर उन्हें कठोर दण्ड भी दिया जाता था। न्याय-व्यवस्था का यह प्रथम प्रयास था जो कि क्रमशः सुधारोन्मुख था।

युद्ध—आर्यों को युद्धप्रिय कहा जाता था, यह उनका एक विशिष्ट गुण था। ऋग्वेद में इसका पर्याप्त उल्लेख हुआ है। युद्ध विशेषतः आत्मरक्षा, विजय तथा सांस्कृतिक प्रसार के लिए किया जाता था। सेना में पैदल तथा रथों का प्रमुख स्थान था। रथों में दो, तीन, चार तक अश्व जोते जाते थे। ऋग्वेद-कालीन अस्त्रों में धनुष, बाण, कवच, हस्तघ्न (बाहुरक्षक) तलवार, भाला, बर्छी आदि थे; किन्तु इसे सामान्य अस्त्रों से भी युद्ध भयंकर तथा दीर्घ-कालीन होते थे। राजा के नेतृत्व में सेना आक्रमण करती थी, पुरोहित उत्साह वर्धन एवं अपने पक्ष की विजय के लिए प्रार्थनाएँ करते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आर्यों ने अपने सुख एवं शान्ति के लिए एक संगठित शासन व्यवस्था का निर्माण किया था।

आर्थिक स्थिति

वैदिक आर्यों के समग्र जीवन पर दृष्टि निक्षेप करने पर हम कह सकते हैं कि वे राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में पर्याप्त विकास कर चुके थे। उनका जीवन सुव्यवस्थित जीवन था। इसलिए वैदिक आर्यों को हम सुसंस्कृत एवं सभ्य जातियों के समान ही आर्थिक जीवन के विकास के लिए पशुपालन, कृषि, गृह-उद्योग-धन्धे तथा व्यापार करते हुए पाते हैं।

आर्यों की आर्थिक अवस्था का मूलाधार **पशुपालन** ही था, सांड एवं बैलों से कृषि की जाती थी। ये पशु अन्न एवं भोज्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का भी कार्य करते थे। अन्य पालतू पशुओं में भेड़, बकरा, बकरी, गदहे तथा कुत्ते प्रमुख थे लेकिन सर्वाधिक महत्त्व गाय को दिया गया था। इन पशुओं के लिए चरागाह एवं चरवाहों का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिल जाता है। इन पशुओं के स्वामित्व के चिन्ह के लिए कानों पर चिन्हांकित रहता था। उस काल में प्रायशः पशुहरण किया जाता था। पशु धन में गाय

के बाद घोड़े का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। घोड़े, युद्ध के अतिरिक्त रथ के खींचने के काम में आते थे।

आर्यों का जीवन कृषक जीवन था। पशुपालन के अतिरिक्त उनकी जीविका का साधन कृषि थी। कुछ ऐतिहासिकों का कहना है कि कृषि आर्यों का प्राचीनतम व्यवसाय है। जो सर्वथा सत्य है। हमें ऋग्वेद के 'कर्षण' शब्द अनेकशः मिलता है। 'कर्षण' शब्द भारतीय ईरानी आर्य कृष् धातु से निष्पन्न मानते हैं। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि इन दोनों जातियों के विभाजन से पूर्व भी कृषि-कर्म प्रधानता प्राप्त कर चुका था। यद्यपि आज की भाँति ही बैलों से हल जोते जाते थे; किन्तु हलों में छः आठ, बारह बैल तक जोड़ दिये जाते थे। उस काल में प्रधान खेती 'यव' तथा 'धान्य' की होती थी। यही आर्यों के प्रिय भोजन के अंग थे। सिंचाई व्यवस्था के लिए कुओं का निर्माण किया जाता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मन्त्र में लिखा है कि कूप से जल निकालकर एक बड़े तालाब या नहर में सिंचाई के लिए भर दिया जाता था। कुल्य (नाली) तथा झीलों से सिंचाई का कार्य होता था। अच्छी फसल पैदा करने के लिए उस समय खाद भी प्रयोग किया जाता था, खाद को 'करिष' कहते थे। आशय यह है कि अच्छी प्रकार से जुताई-बुवाई करके खाद द्वारा खेतों को उर्वर बनाया जाता था, सिंचाई की व्यवस्था भी थी और वैदिक आर्य अच्छी खासी फसल पैदा कर लेते थे। फसल तैयार होने पर स्त्रिनी (हँसिया) से उसे काटते थे। उसका गट्ठर या बोझ बनाते थे। अन्न को एकत्र कर रोंदकर धान्यकृत (ओसाते) करते थे और अपनी फसल तैयार कर घर ले आते थे। यत्र-तत्र फसल को हानि पहुँचाने वाले कीड़े-मकोड़ों का भी वेद में उल्लेख मिल जाता है। कभी-कभी अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि भी शस्य को क्षति पहुँचा देती थी।

निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने जीवन-यापन के लिए आखेट भी करते थे जोकि उनके जीवन के मुख्य कार्यों में से एक था। शिकारी धनुष-बाण एवं जाल का उपयोग करते थे। जाल से सिंह पकड़ने का वर्णन भी मिलता है। खन्दक में हिरन को गिराकर तथा कुत्तों द्वारा सूअर का शिकार भी किया जाता था। चिड़िया जाल में फँसाई जाती थीं। हाथियों को वश में करने के लिए पालतू हाथियों का उपयोग किया जाता था। बाण के द्वारा भैंसों का शिकार होता था।

वैदिक काल में विभिन्न प्रकार की दस्तकारी का भी उल्लेख मिलता है। उस समाज में बढ़ई का आदरपूर्ण स्थान था, क्योंकि वह युद्ध आदि के लिए रथ बनाता था तथा कृषि आदि के लिए गाड़ी व हल बनाता था। वह लकड़ी पर नक्काशी का कार्य भी किया करता था। धातुकार और लोहार को समाज में द्वितीय स्थान प्राप्त था। आग धोंकने के लिए पंखे का प्रयोग होता था। हिरण्यकार हिरण्य से आभूषण बनाता था। ऋग्वेद से यह भी पता चलता है कि सिन्धु जैसी नदियों में स्वर्ण प्राप्त होता था, इसीलिए सिन्धु को स्वर्ण निर्झरिणी भी कहा है। कभी-कभी भूमि से सोना भी निकाला जाता था। आशय क्या था ? यह अनिश्चित है। उस समाज का चौथा व्यक्ति चर्मकार था जिसे चमड़ा पकाने की कला का ज्ञान था, जो कि चमड़े से विभिन्न चीजों का निर्माण करता था। स्त्रियाँ कपड़ा सीने, बुनने तथा चटाई बनाने का कार्य करती थीं। इन सभी कार्यों को करने वालों को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था जैसा कि आज के समाज में देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के कार्य करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र था। वेद में एक स्थान पर वर्णन मिलता है कि—"**मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पीसनहारिन है।**" दास अपने स्वामी के कार्यों में सहायता करते थे, चाहे वे कार्य कृषि के हों, औद्योगिक या पशुपालन सम्बन्धी ही क्यों न हों, मत्स्य पालन का स्पष्ट वर्णन वेद में नहीं है और न सामुद्रिक व्यापार में ही आर्य कुशल थे, किन्तु नदी पार करने के लिए नाव का प्रयोग होता था।

व्यापार के क्षेत्र में आर्यों ने उस युग में जो उन्नति की, वह सीमित साधनों के देखते हुए पर्याप्त थी। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार व्यापार उस युग में चलते थे। आर्यों ने सिक्कों का भी निर्माण किया था। कुछ विद्वानों ने '**निष्क**' को एक सिक्का कहा है। दूसरे व्यक्ति उसे एक आभूषण कहते हैं। अधिकतर विनिमय प्रथा द्वारा ही व्यापार होता था। ऋग्वेद में इन्द्र की मूर्ति का मूल्य गायें लिखा है। ऋग्वेद में वणिक शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि व्यापारी का परिचायक है। ऋग्वेद में एक स्थान पर सौदा तय करने में घटा-बढ़ी करने का सुन्दर वर्णन आया है, जहाँ यह भी लिखा है कि तय किये हुए सौदे का निर्वहण आवश्यक था। ऋण के लेन-देन का भी वर्णन मिलता है। पशु भी धन था, अश्व को भी धन लिखा है। वीर को भी धन की संज्ञा दी है। योग्य पुत्र भी धन बताया गया

है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वैदिक भारत में आर्थिक विषमता न थी, जन जीवन सुखमय था।

धार्मिक स्थिति

वैदिक काल भारतीय आर्यों का स्वर्णिम प्रभात है। उस स्वर्णिम काल में ही उन्होंने अध्यात्म जगत में प्रथम पदार्पण किया था, किन्तु इस स्वर्णिम उदयकाल में ही आर्यों ने जो उन्नति एवं विकास किया था, तदनुरूप उनकी मान्यताएँ—आस्थाएँ आज तक अविचल रूप में प्रतिष्ठित हैं। मेरा तो अपना विश्वास है कि वैदिक काल में आध्यात्मिक क्षेत्र में जो अभ्युत्थान हुआ, उसके पीछे शताब्दियों की शिक्षा, योग्यता एवं मान्यताओं का योग है जिनके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है।

वैदिक शिक्षा का आदर्श महान् था, प्राप्त परम्परा, सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा इस शिक्षा का उद्देश्य था, ब्राह्मण गुरु था, शिक्षक था, उनके घर तथा आश्रम शिक्षालय थे। श्रुति का अध्ययन श्रवण करके ही होता था। शिक्षा पद्धति में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आत्मशिक्षण, आत्मानुभूति की प्रधानता थी। इस प्रकार गुरुचरण सुश्रूषा, तप एवं त्याग तथा श्रवण, मनन निदिध्यासन उस शिक्षा के आदर्श थे। इन आदर्शों से निर्मित आर्यों का धर्म एवं दर्शन अद्वितीय था। वैदिक जीवन में पुरोहितों का महत्त्वपूर्ण स्थान था; ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित धार्मिक जीवन में आदिमवासियों का सा विश्वास नहीं है अपितु पुरोहितों के चिरचिन्तन की साधना की छाप है। मनुष्य प्रकृति के निकट था, अतः सर्वप्रथम प्रकृति की उपासना होती थी। ऋग्वेद में तेंतीस देवों का उल्लेख है। परवर्ती संहिताओं में प्रजापति आदि देवों का और भी विकास अवधेय है। मुख्य देवता द्यौ, पृथ्वी, वरुण, इन्द्र की पूजा होती थी। पाँच सौर्य देवता थे सूर्य, सविता, मित्र, पूषन, विष्णु। शिव रुद्र के नाम से कथित हैं। अश्विनी, मरुत, वायु, वात, पर्जन्य, उषा भी ऋग्वेदकालीन देवता थे। इन देवों में से इन्द्र, अग्नि, सोम को लक्ष्य कर पर्याप्त सूक्तों का सृजन हुआ है। सूर्य को भी अनेक नामों से याद कर उसे महत्त्व प्रदान किया गया हैं। कुछ भावात्मक देवता थे; जैसे—श्रद्धा, मन्यु, प्रजापति, आदित्य तथा अदिति। परवर्ती साहित्य में यही भावात्मक देव प्रजापति अत्यधिक महत्त्व प्राप्त करता है। वैदिक Theology की प्रकृति देवताओं को युगल या समूह रूप से कहने की भी रही है; जैसे—मित्रावरुणी, द्यावा पृथ्वी तथा समूह रूप

में, यथा—मरुत, आदित्य, वसु, शिश्वदेवा: । कुछ के साथ स्त्रीत्व बोधक नाम संयुक्त है; जैसे—पृथ्वी, उषा । अधिक सरल प्रकृति पूजा का रूप उन मन्त्रों में है जिनमें वृक्ष पर्वत आदि वर्णित है । देवता की पशुरूप में भी सत्ता दृष्टिगोचर होती है । इन्द्र एवं द्यौ को बैल के रूप में सूर्य का अश्व के रूप में वर्णन किया गया है । वर्षा के निरोधक तत्त्व 'अहि' शब्द से कथित हैं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उस सभ्यता के आदिकाल में बहुदेवतावाद और प्रकृति की उपासना का समन्वय है । प्रकृति-पूजा अपने स्थूल रूप में न होकर लाक्षणिक ही थी । देवो-देवताओं की उपासना के लिए किसी असाधारण या अमानवीय दैवी शक्ति की कल्पना करना अनिवार्य है और कल्पना उसी स्थिति में सम्भव है जब कल्पित वस्तु का कभी साक्षात्कार हो चुका हो । प्रकृति-विद्युत्-सागर, वात, अग्नि आदि की शक्ति का साक्षात्कार मानव को सर्वप्रथम हुआ; अतः इसी शक्ति में उन्होंने देवताओं को आरोहित किया होगा । अतः भारतीय आर्यों का धर्म प्रकृति-पूजा पर आधारित बहुदेववाद था ।

किन्तु ऋग्वेद काल से या ऋग्वेद में ही एकेश्वरवाद की ओर जो स्पष्ट संकेत प्राप्त हैं, वह भी इनकी आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा के द्योतक हैं । इन सारे देवताओं से परे उन्होंने सत्ता की कल्पना की जो सर्वोपरि है और समस्त सृष्टि की जन्मदात्री है । वह सर्वोपरि शक्ति कुछ नहीं है जिसे "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के द्वारा प्रतिपादित किया गया है । श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि—"ऋग्वेद के आदि काल में बहुत देवताओं की सत्ता मानी जाती थी जिसे वे पॉलीथिज्म (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं । कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ तब उन्होंने इन बहुदेवताओं के अधिपति या प्रधान रूप में एक देवता-विशेष की कल्पना की । इसी का नाम है—मनोथीजम (एकेश्वरवाद) । अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल के पीछे एकेश्वरवाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तर काल में सर्वेश्वरवाद (पैनथीजम) की कल्पना की गई । सर्वेश्वर वाद का सूचक पुरुष सूक्त दशम मण्डल का 90 वाँ सूक्त है जो पाश्चात्य गणना के हिसाब से दशमी के मण्डलों में सबसे अधिक अर्वाचीन है ।"[1]

देवता मानव एवं मानवता के रक्षक, मित्र, पिता आदि सभी रूपों में

---

1. वैदिक साहित्य और संस्कृत, पृ० 593

सहायक थे —अग्निदेव को रक्षक, घर का स्वामी तथा निकट सम्बन्धी कहा गया है। यही नहीं, वह तो कृपालु, मित्र, पिता, भ्राता, पुत्र तथा सर्वपालक भी है। इसी प्रकार इन्द्र का पिता, रक्षक, धनदाता आदि रूप से प्रशंसा की गई है। मनुष्य अपने देवों को प्रसन्न रखने के लिए प्रार्थनाएँ करते थे। दूध, घृत, सोम तथा अन्य खाद्यान्न उनके नाम से यज्ञों में हविष्य देते थे, यज्ञों को प्रधानता प्राप्त थी, ब्राह्मण काल में तो यज्ञ ही सर्वस्व थे। यज्ञों से होता नामक ऋत्विज मन्त्र पाठ करता था, अध्वर्यु शारीरिक क्रियाएँ करता था, उद्गाता नामक ऋत्विज उच्च स्वर से सामगान करता था, ब्रह्मा नामक ऋत्विज् क्रिया-कलाप की देखरेख करता था।

दर्शन—भारतीय दर्शन का उदय भी ऋग्वेद के दशम मण्डल में दृष्टिगोचर होता है। बहुदेवतावाद के विषय में प्रश्न उठाया गया है। विश्व की एकता का प्रतिपादन किया गया है। असत् से सत् के उत्पन्न होने की बात कही गई है। सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति हुई, फिर तेज की उत्पत्ति हुई है। धीरे-धीरे समग्र सृष्टि उत्पन्न हुई। इस विषय के अनेक मन्त्र मिलते हैं। जिनमें सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया की ओर संकेत किया गया है। सृष्टि की रचना विश्वकर्मा या हिरण्यगर्भ से कही गई है। पुरुष सूक्त में पुरुष के यज्ञ से विश्व की उत्पत्ति बतलाई गई है। मृत्यु के उपरान्त शव जलाये जाते थे अथवा गाड़ दिये जाते थे। यदि जलाए भी जाते थे तो उनकी भस्म गाढ़ देते थे। सतीदाह नहीं होता था यद्यपि यह अज्ञात न था।

प्रश्न—वैदिक संस्कृति में नैतिक मूल्यों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

Give an estimated of moral values in Vedic Culture.

—आ० वि० वि० 68

उत्तर—

नैतिक आदर्श

वैदिक साहित्य में नैतिक आदर्शों पर बल दिया गया है। नैतिक आदर्शों की महानता पर ही धर्म की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित थी। केवल कोरा दर्शन ही सब कुछ नहीं था, नैतिक आदर्श ही मानवता के निर्माण में सहायक होते थे। ऋग्वेद में लिखा है कि देवता, मित्र, वरुण, अमृत को जीतकर ऋत का पालन करते हैं। वरुण अमृत से घृणा करते हैं और ऋत की वृद्धि करते हैं। देवता ऋत में पैदा होते हैं, ऋत को पालते हैं तथा अमृत से सर्वथा घृणा करते हैं।

यजुर्वेद की चालीसवें अध्याय में दूसरे के धन के लिए लालच का निषेध किया गया है; **'मागृधः कस्यास्विद्धनम्'**। उपनिषदों में आचार्य शिष्य को जो उपदेश देता है, वह नैतिकता की चरम सीमा का उपदेश है—सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में आलस्य मत करो। सत्य से विचलित नहीं होना चाहिए। धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए अर्थात् सत्य एवं धर्म के पालन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और उपदेश सुनने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। माता के भक्त बनो, पिता के भक्त बनो, आचार्य के भक्त बनो, अतिथि के भक्त बनो अर्थात् इनकी सदा सर्वदा सेवा करो। अन्त में आचार्य बड़े ही मार्के की बात कहता है कि हमारे जो उत्तम कर्म हैं उनका सेवन करना चाहिए, दूसरों (निन्दित) का नहीं। जो हमारे सदाचार हैं उन्हीं को तुम्हें अपनाना चाहिए दूसरों को नहीं।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।
सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।
कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।
स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।
यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

वैदिक काल में सदाचार की प्रधानता थी। एक ऋषि वरुण से प्रार्थना करता है कि यदि उसने भाई, मित्र, साथी, पड़ौसी या किसी अपरिचित का कुछ अहित किया हो तो वरुण देव उसका पाप हर लें। इसी प्रकार सविता देव से भी अपने समस्त पापों को दूर करने की प्रार्थना है।

प्राचीन आर्यों में अतिथि-सत्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन सभ्यता के अनुयायी भारतीय ग्रामों में आज भी अतिथि को देवता के समान पूजा जाता है। ऋग्वेद में अग्नि को अतिथि कहा है। उसका आशय यही है कि जिस प्रकार अग्नि पवित्र और उपास्य है। इसी प्रकार अतिथि उपास्य, पूज्य एवं पवित्र है। दिवोदास अतिथि सत्कार में सदैव तत्पर रहता था। अतः उसे **"अतिथिग्व"** की उपाधि से विभूषित किया गया था। गृह का श्रेष्ठतम प्रकोष्ठ अतिथि के लिए दिया जाता था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक आर्यों की धार्मिक, दार्शनिक तथा

नैतिक मान्यतायें उत्कृष्ट थीं। निःसन्देह "चिरन्तन काल से वेद भारतीय संस्कृत के प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। भारतीय समाज के संगठन और उसकी जीवन-चर्या के नियम और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक कथा अन्य उदात्त भावनाओं की प्रेरणा में भी वेद का प्रमुख स्थान रहा है।"

प्रश्न—वैदिक समाज में नारी का स्वरूप, स्थान एवं महत्त्व स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—ममता की मञ्जूषा, स्नेह का सदन, दया का उद्‌गम, क्षमामय सुमेरु, विधाता की कलापूर्ण सृष्टि का शृंगार, पृथ्वी की कविता-देश के निर्माण की आधारशिला, उमा-रमा सरस्वती के समान नारी तेरा इस भारत वसुन्धरा पर सदा-सर्वदा से आदरणीय स्थान रहा है। नारी तुझे ही लक्ष्य कर किसी कवि ने ठीक ही अपने भावोद्‌गार इस रूप में व्यक्त किए हैं—

मानवता है मूर्त्तिमती तू भाग्यमाव भूषण भण्डार।
दया क्षमा ममता की आकर विश्व प्रेम की है आधार॥

किन्तु प्रकृति में सत्व, रज, तम नाम के तीनों गुणों का साम्य है। मानव मात्र में इन तीनों गुणों का होना परम आवश्यक है। अतः कर्मानुसार कोई सात्त्विक, कोई राजस और कोई तामस होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सृष्टि के आदि से आज तक इन तीनों गुणों के आधार पर ही सृष्टि संरचना होती रही है। प्राचीन काल में सात्त्विक व्यक्तियों की प्रधानता थी अतः समाज में शान्ति थी; व्यक्ति आदर्श चरित्र थे; किन्तु यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि उस काल में राजस और तामस प्रकृति के व्यक्ति नहीं थे। इसलिए वैदिक काल में जहाँ मन्त्र दृष्टा ऋषिकाएँ थीं वहाँ क्रूर स्वभाव नारियाँ न हों यह कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता है। संसार में शुभ-अशुभ, अच्छाई-बुराई का द्वन्द्व शाश्वतक है। देवासुर संग्राम, इन्द्र-वृत्त संग्राम विश्व के प्रतिफलन का आवश्यक तत्त्व है। अतः समाज में देव और दानव दोनों की सत्ता रहती है और सदा से रहती आई है।

वैदिक ऋषियों की यह सदा कामना रही है कि समाज के सद्‌वृत्तियों का प्रसार हो; अतः वेद के मन्त्रों में सर्वत्र भ्रष्ट व्यक्तियों से बचने के लिए प्रार्थना है कि यम-यमी का संवाद ऋग्वेद में नैतिकता का अमर सन्देश देता है। एक ओर सृष्टि प्रवर्त्तन के लिए यमी अपने भाई से अनुचित सम्बन्ध के लिए कहती है; किन्तु यम समझाते हुए अन्त में मंगल कामना के साथ कहता है—यमी,

तुम किसी अन्य पुरुष का ही भली-भाँति आलिंगन करो। जैसे लता वृक्ष का वेष्टन करती है, वैसे ही अन्य पुरुष तुम्हें आलिंगन करें, उसी का मन तुम हरण करो; वह भी तुम्हारे मन का हरण करे, अपने सहवास का प्रबन्ध उसी के साथ करो — इसी में मंगल होगा।

ऋग्वेद का अध्ययन करने पर विदित होता है कि कन्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक स्त्री जाति का बड़ा सम्मान व सत्कार था। जो कन्या पितृ कुल में जीवन भर अविवाहित रहती थी, उसे पितृ कुल में ही अंश मिलता था— 'इन्द्र, जैसे आमरण माता-पिता के साथ रहने वाली पुत्री अपने पितृ कुल से ही अंश के लिए प्रार्थना करती है" 2।17।7 वैदिक आर्य कमनीय कन्या की प्राप्ति के लिए कामना करते थे। ऋग्वेद के नवम् मण्डल में पूषा देव से कमनीय स्त्री एवं कमनीय कन्या की याचना है। 9।67; 10।12, ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में यथाविधि विवाहित और सती महिला की महान् प्रशंसा है। बलि के राज्य के समान सती का सतीत्व सुरक्षित माना गया है उसी सूक्त में आगे शुद्ध चरित्र नारी की प्रशंसा है, वहाँ यह भी कहा है कि कल्पना और सच्चरित्रता से निकृष्ट पदार्थ भी उत्तम स्थान को प्राप्त कर सकता है। 10।109।

ऋग्वेद में नारी के विवाह के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र हैं वहाँ लिखा हुआ कि विवाह के समय वधू वस्त्रों से ढँकी रहती है। सूर्य के विवाह का आलंकारिक वर्णन है। पति-पत्नी को मिलकर रहने की कामना है। वधू को सौभाग्यवती और सुपुत्र वाली होने की कामना है। पति-गृह में जाकर गृहिणी बनने का आशीर्वाद भी है। पति-गृह में सन्तान उत्पन्न करके प्रसन्न होना वहाँ सावधान होकर कार्य करना, स्वामी के साथ एक हो जाना तथा वृद्धावस्था तक अपने गृह में प्रभुता करने का संकेत मिलता है। देव ही पति को पत्नी देते हैं, वह इसलिए कि दोनों ही गृहस्थ धर्म का पालन करें। दोनों के लिए सौ वर्ष जीवित रहने की कामना है। सूर्या विवाह सूक्त में पति-पत्नी को एक माना है। एक मन्त्र में तो लिखा कि "वधू अपने कर्म से तुम सास-ससुर, ननद और देवरों की साम्राज्ञी (महारानी) बनो, सबके ऊपर प्रभुत्व रखो।"

ऋग्वेद काल में एक पुरुष का विवाह आदर्श था, जिस स्त्री का सम्मान उसका पति करता था, वह उस समाज में अभिनन्दनीय नारी मानी जाती

थी। ऋग्वेद के सूक्तों को पढ़ने से यह विदित होता है कि उस समय स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वेद के 10।27।2 मन्त्र में लिखा है कि —कितनी ऐसी स्त्रियाँ हैं जो केवल द्रव्य से प्रसन्न होकर स्त्री चाहने वाले पुरुष के ऊपर आसक्त होती हैं। जो भी भद्र और सभ्य है, जिसका शरीर सुसंगठित है, वह अनेक पुरुषों में से अपने मन के अनुकूल प्रिय पात्र को पति स्वीकार करती है।" इस मन्त्र में धन के लिए शादी करने वाली तथा दूसरी सत्पुरुष को चाहने वाली दोनों स्त्रियों की ओर संकेत मिलता है। इससे पता चलता है कि स्त्रियों को अपने जीवन-साथी के चुनाव के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता थी।

देवरमणियों को यज्ञ में बुलाया जाता था। इला को धर्मोपदेशिका बनाया गया है। पितृ-गृह में वृद्धावस्था तक रहने वाली घोषा नामक स्त्री ब्रह्म-वादिनी बनी थी। घोषा आदि अनेक स्त्रियों ने अनेक सूक्तों का स्मरण किया था, वे यज्ञ करने के साथ उपदेश देती थीं, वेद पढ़ती थीं। एक बात और भी स्पष्ट कर दी जाय, वह यह कि प्राचीन समय में स्त्रियाँ दो प्रकार की थीं— "एक ब्रह्मवादिनी; दूसरी, साधारण। जो ब्रह्मवादिनी थीं, वे हवन करती थीं, घर में ही वेदाध्ययन करती थीं, भिक्षा माँग कर लाती थीं।" यमस्मृति में कहा गया है—"पुराने समय में कन्याओं का उपनयन होता था (गोभिल गृह्यसूत्र 2 या प्रपाठक) वे वेद पढ़ती थीं, गायत्री भी पढ़ती थीं, परन्तु उन्हें पिता, पितृव्य या भ्राता ही पढ़ाते थे, दूसरा नहीं।" —हिन्दी ऋग्वेद पृ० 68

ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे भी मिलते हैं जो नारी हृदय का दूसरे रूप में चित्रण करते हैं। इन्द्र ने प्रायोगि के सम्बन्ध में कहा था, "स्त्री के मन का शासन करना असम्भव है। स्त्री की बुद्धि छोटी होती है। (8।33।17)।"

राजा पुरुरवा से चिढ़कर एक मन्त्र में उर्वशी कहती है कि स्त्रियों का प्रेम व मैत्री चिरस्थायिनी नहीं होती। स्त्री और वृकों का हृदय एक समान होता है। इसलिए हे राजन्! तुम मृत्यु की कामना मत करो। ऋग्वेद में एक मन्त्र में विषयान्ध पुरुष को लक्ष्य कर कहा गया है कि "स्मैण पुरुष स्त्री की प्रशंसा करता है" सौतिया डाह का भी एक स्थान पर उल्लेख मिलता है जिससे यह आभास मिलता है कि किसी-किसी व्यक्ति के दो-दो पत्नियाँ थीं इसलिए कहा है कि—"मेरी सपत्नी नीच से नीच हो जाय मैं अपनी सपत्नी का नाम तक नहीं लेती। सपत्नी सबके लिए अप्रिय है मैं उसे दूर से भी दूर भेज देती हूँ।" (10।145।3-5) ऋग्वेद के एक मन्त्र 7।76।3 में कुलटा की निन्दा

और पतिव्रता की प्रशंसा है । 'विपथगामिनी, पतिविद्वेषिणी और दुष्टाचरण-शीला स्त्री नरक स्थान को उत्पन्न करती है ।' यही नहीं, उपपत्नी (रखैल) का भी एक स्थान पर उल्लेख मिलता है । जार और व्यभिचारिणी स्त्री का भी उल्लेख मिलता है ।

किन्तु एक बात विशेष रूप से यहाँ उल्लेखनीय है कि समाज में इस प्रकार के अपवादस्वरूप स्त्री-पुरुष थे, जिन्हें लक्ष्य कर ही ऋग्वेद में यत्र-तत्र बुराइयों से बचने व कल्याण की कामना है ।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि वैदिक काल में पितृ-प्रधान सत्ता थी । एक पत्नी प्रथा प्रचलित थी किन्तु राजपरिवारों में बहुपत्नी प्रथा अज्ञात न थी । घर का स्वामी पति एवं स्वामिनी पत्नी थी । स्त्रियों का चरित्र समष्टि रूप में बहुत ऊँचे स्तर का था । बहन-भाई, पिता-पुत्री का विवाह निषिद्ध था जैसा कि यमयमी सूक्त से संकेत मिलता है । स्वयंवर प्रथा थी, स्त्री अविवाहितावस्था में पिता व भाइयों के संरक्षण में रहती थी । दहेज प्रथा थी, कन्या को खरीदा जा सकता था । वैदिक मन्त्रों में पाणिग्रहण की अत्यधिक प्रशंसा की गई है । विधवा स्त्री अपने देवर के साथ सन्तानहीन होने पर विवाह कर सकती थी, दत्तक पुत्र ग्रहण करने की प्रथा उस काल में थी, स्त्रियों का सम्मानपूर्ण स्थान उस समय में था । वैदिक युग का साहित्य नारी समाज का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है ।

प्रश्न—वैदिक संस्कृति के शिक्षा के आदर्श पर अपने विचार लिखिए ।

उत्तर—शिक्षा के ध्येय एवं उद्देश्य के विषय में विचार करते समय हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि अन्तःशक्तियों को समुचित रूप में विकसित कर देना ही शिक्षा का प्रथम एवं अन्तिम ध्येय है । इसी आदर्श को हृदयंगम कर वैदिक ऋषि अपनी शक्तियों के विकास के लिए परमात्मा से प्रातः सायं इस प्रकार से प्रार्थना किया करते थे—ईश्वर ! हमारी बुद्धि को सद्मार्ग में प्रेरित करो—"**धियो यो नः प्रचोदयात्**" हे अग्निदेव ! हमें आप सद्मार्ग से विश्व में ले चलें, ले ही न चलें, अपितु आप हमारे हृदयों से दुर्गुण एवं पाप भावनाओं को निकालकर निष्पाप तथा शुद्ध पवित्र बुद्धि प्रदान करें; इसके लिए हम पुनः आपकी प्रार्थना करते हैं—**अग्नेनय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानिविद्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयष्ठान्ति नमः उक्ति विधेम ॥** वैदिक ऋषि पवित्र भावभूमि पर स्थित होकर पुनः बुद्धि को मेधावी बनाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है—

यां मेधां देवगणां पितरश्चोपासते
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ।

इस प्रकार बुद्धि को मेधावी बनाने के लिए ही प्रार्थनाएँ नहीं की जाती थीं, अपितु उस बुद्धि को पवित्र एवं कालुष्य रहित बनाने के लिए भी—

पुनन्तु मां देवजना पुनन्तु मनासाधियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेद पुनीहि मा ।।

इस प्रकार वैदिक शिक्षा का मूल आधार मानव की बुद्धि का परिष्कार कर सुपथ का दर्शन कराना था; वस्तुतः यही प्राचीन शिक्षा का ध्येय था। क्या आज की शिक्षा में कहीं भी इस प्रकार का पाठ्यक्रम निर्धारित है जो बुद्धि को मानवता के मार्ग का पथिक बना सके जिससे कि हम उच्च स्वर से आयु, प्राण, धन, तेज को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हुए अपने बल का सदुपयोग करने के लिए सहनशीलता को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करना न भूलें—

तेजोऽसि तेजोमयि धेहि
वीर्यमसि वीर्यमयि धेहि
बलमसिबलं मयि धेहि
सहोऽसि सहोमयि धेहि

प्राचीन काल में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के अनुसार विश्व की कल्याण कामना ही वैदिक संस्कृति का प्रयोजन था। उसकी सिद्धि के लिए ऐहिक एव पारलौकिक उन्नति करते हुए ब्रह्म के स्वरूप में भारतीय निमग्न हो जाते थे। वह ब्रह्म तप से प्राप्त होता था—'**ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते**', '**तपसा चीयते ब्रह्म**' तथा तप की कसौटी के रूप में यम-नियमों का पालन करने के लिए एक निर्देश प्रत्येक विद्यार्थी को तो दिया जाता था; साथ ही मानव मात्र को इनका पालन करना आवश्यक था। यम के अन्तर्गत—

"**तत्राऽहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमः**" तथा नियमों में "**शौच सन्तोषस्तपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमाः**" अर्थात् अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा मन, वचन, कर्म में पवित्रता शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान। इन यम एवं नियमों की उपयोगिता, महत्त्व एवं अनिवार्यता के विषय में कुछ कहना उचित न होगा, वस्तुतः ये मानव को पूर्ण मानव बनाने के साधन थे। इनका आज के छात्र समाज में पूर्णतः अभाव-सा

ही दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस ब्रह्मचर्य का पालन कर देवताओं ने इच्छा मृत्यु प्राप्त की थी, उसका भी धवल यश वैदिक साहित्य में गाया गया है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नतः
मरणं विन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।"

चरित्र की भी प्रशंसा की गई है कि चरित्र से रहित मनुष्य मृतप्रायः ही है—

'अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः'

इस प्रकार प्राचीन निर्देशों के अनुसार हम कह सकते हैं कि प्राचीन छात्र व्रती एवं तपस्वी बनकर शिक्षोपार्जन किया करते थे।

प्राचीन काल में शिक्षा के मूल श्रद्धा की भावना थी; किन्तु आज के छात्र समाज में उसका पूर्णतः अभाव है। वस्तुतः मानव जीवन की सफलता के लिए विभिन्न तत्त्वों में श्रद्धा का प्रधानतम स्वार्थ है। श्रद्धा से समस्त कार्य अनायास ही सम्पन्न हो जाते हैं। श्रद्धा की भावना अपने गुरुजनों को वश में करने का सर्व-सुलभ साधन है—

श्रद्धायाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसावेदयामसि।

श्रद्धा भावना जब ऐश्वर्य तथा कल्याण की प्रदाता है तो क्या आज के छात्रों में श्रद्धा की भावना संचार होने पर गुरु प्रदत्त शिक्षा जीवनोपयोगी नहीं हो सकती है? अवश्य हो सकती है। आज शिक्षा के क्षेत्र में फैली विश्रृंखलता का कारण छात्रों में श्रद्धा का अभाव है। वस्तुतः श्रद्धा ज्ञानार्जन का मूलतन्त्र है, जिस श्रद्धा की भावना ने नचिकेता में यम के मुख में जाकर प्रश्न करने के साहस का संचार किया था। ज्ञानार्जन करने में नचिकेता को समर्थ बनाया था। क्या वही श्रद्धा आज की शिक्षा में जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं करा सकती। संसार में श्रद्धाहीन मानव सदा से परदलित होते आये हैं, उनका सदा विनाश हो रहा है आज विनाश से बचने के लिए छात्र समाज को श्रद्धालु बनाने का उपाय करना चाहिए। लेकिन हम देखते क्या हैं आज का छात्र, माता, पिता एवं गुरुजनों के प्रति पूर्णतः अवज्ञा की भावना को लिए सदैव तिरस्कृत-सा करता है। यही कारण है कि उन्हीं गुरुजनों से प्रदत्त शिक्षा छात्र के लिए अभिशाप बनकर दुःखदायी ही सिद्ध हो रही है। अतः छात्रों को तपानुष्ठान का आचरण का श्रद्धाशील बनाना चाहिए। वेद के शब्दों में वह व्रतपालन से ही सम्भव है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षामाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणाश्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

अर्थात् व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा, श्रद्धा से सत्य। इस प्रकार क्रमशः मानव को सुपथ पर ले जाने के लिए यह एक पद्धति वेद में निर्दिष्ट है। इसका पालन कल्याण की कामना करने वाले के लिए आवश्यक है।

विद्या स्वयं ही दुष्टाचरण कर्त्ताओं से भयभीत रहती है अतः उनके पास जाकर भी उनका कल्याण न कर अहित साधन ही करती है। इस सम्बन्ध में निरुक्त के ये वचन दृष्टव्य हैं—

विद्या आचार्य से कहती है—हे आचार्य ! मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी शरण हूँ। ईर्ष्यालु, कुटिल एवं दुराचारी को मेरा दान करो—

विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि,
असूयकायनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यमती यथा स्याम् ।

पुनश्च—विद्या उन्हें भी फलीभूत नहीं होती है जो कि गुरुओं का आदर नहीं करते—

अध्यापिता ये गुरं नाद्रियन्ते विप्र वाचा मनसा कर्मणा
यथैव ते द गुरोर्भोजतीयास्तथैव तान्नभुनक्ति श्रुतंतत् ।

विद्या पवित्र शुद्धाचरण कर्ता मेधावी ब्रह्मचारी को अपनी कृपा से अनुग्रहीत करती है—

यमेव विद्या शुचिमप्तमन्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपसन्नम् ।
यस्ते न ब्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय
ब्रह्मन्निति निधि शेबधिरिति

भगवान् मनु का यह वचन भी दर्शनीय है—

उत्पादक ब्रह्म दात्रोर्गरीन्ब्रह्मवः पिताः ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥

उत्पादक पिता की अपेक्षा आचार्य अधिक महत्त्व का भागी होता है क्योंकि उत्पादक पिता ने तो केवल एक जन्म प्रदान किया है किन्तु इस भव-सागर में संतरण करने के लिए आचार्य ही मानव का पूर्ण व पवित्र निर्माण करता है।

योगदर्शन में पंचक्लेशों का अर्थात् दुःखों का वर्णन मिलता है जिनमें

अविद्या का परिगणन सर्वप्रथम किया गया है—"**अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेषा पञ्चक्लेशा**" वस्तुतः अविद्या मानव को पतन के गर्त में ले जाकर यथासम्भव दुःखों से पीड़ित करती है। अतः इन दुःखों से यदि मुक्ति प्राप्त करनी है तो ज्ञानार्जन करना चाहिए क्योंकि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्ति**" ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन शिक्षा सम्बन्धी भारतीय विचारधारा का अनुपालन ही है। क्योंकि विद्या पात्रापात्र का विचार कर ही अनुग्रह करती है।

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षा का पूर्ण विकास राष्ट्र की संस्कृति के आधार पर ही हो सकता है क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में अपने देश के आदर्शों का वरदहस्त रहता है। जिस प्रकार एक पौधा अपने अनुकूल जलवायु पर एवं मिट्टी से पृथक् हो, अन्य भूमि पर विकसित नहीं हो सकता है उसी प्रकार किसी राष्ट्र की शिक्षा पद्धति अपनी संस्कृति की आधारशिला का परित्याग कर उन्नति नहीं कर सकती है। वैदिक काल की शिक्षा का पूर्ण विकास इसी पृष्ठभूमि पर हुआ है।

प्रश्न—वैदिक पद्धति के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—वैदिक भारत का निर्माण राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक क्षेत्र में न होकर धर्म के क्षेत्र में हुआ था। सर्वाङ्गीण जीवन में धर्म का प्राधान्य था, धर्म ही यहाँ की जनता का जीवनश्वास के रूप में था, फलस्वरूप प्राचीन भारतीय रीति-नीति स्वार्थमूलक न होकर परमार्थमूलक थी। व्यष्टि का विकास समष्टि के विकास का मूल था; वैदिक सामाजिक संगठन सर्वथा मानवीय उदात्त भावनाओं तथा नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित था। जीवन का एक उद्देश्य था, एक आदर्श था और उस आदर्श की उपलब्धि जीवन का चरम लक्ष्य था। वैदिक भारत की शिक्षा के मूल में यही व्यष्टि-समष्टि के उत्थान की भावना थी और इसी भावना के अनुकूल उसका विकास भी हुआ था। वैदिक भारत में शिक्षा तथा ज्ञान की खोज केवल ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही नहीं हुई थी, अपितु धर्म के प्रशस्त पथ पर चलकर ब्रह्म के साथ तदाकार परिणति के लिए हुई थी। वैदिक ऋषियों ने अदृश्य जगत और आध्यात्मिक तत्व के मनोहारी गीतों का गान किया है और सम्पूर्ण जीवन को तदनुरूप निर्मित भी किया है। वैदिक ऋषियों ने सर्वदा भौतिकवाद की उपेक्षा करते हुए आध्यात्मिक उत्थान को प्रधानता दी है। इस प्रकार यदि हम कहें कि प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य ही चित्त-वृत्ति का विरोध था तो अनुपयुक्त न होगा।

विद्यार्थी इस जगत् के सम्पूर्ण विप्लव, विद्रोह से परे प्रकृति की मनोरम अंक में अपने गुरु के चरणों में बैठकर आध्यात्मिक समस्याओं की साधना श्रवण, मनन अपने चिन्तन के द्वारा किया करते थे।

जिज्ञासु शिष्य गुरुगृह में रहकर उनकी सेवा करता हुआ गुरु के आदर्श गुणों को अपने में धारण कर लेता था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिए यह आवश्यक था, क्योंकि गुरु ही आदर्शों, परम्पराओं तथा सामाजिक नीतियों का प्रतीक अथवा प्रतिभृत था। वह शिक्षा प्रणाली जीवनोपयोगी थी। गुरुगृह में रहते हुए विद्यार्थी समाज के निकट सम्पर्क में आता था, गुरु के लिए समिधा तथा जल का लाना तथा गृह कार्य करना उसका कर्त्तव्य समझा जाता था। इस प्रकार गृहस्थ धर्म की शिक्षा के साथ-साथ श्रम और गौरव पाठ और सेवा का आदर्श पाठ पढ़ता था। गुरुओं की सेवा से विद्यार्थियों में विनय तथा अनुशासन का भाव उत्पन्न होता है। इसीलिए आज की तरह उस काल में शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन की समस्या कहीं भी उत्पन्न दिखाई नहीं देती थी, इसके साथ-साथ विद्यार्थी जीवनोपयोगी उद्यम, पशुपालन या कृषि आदि में भी कुशल सहज ही हो जाता है। सादा जीवन और उच्च विचार की भावना उस काल की शिक्षा की प्रमुख देन है। छान्दोग्योपनिषद् में सत्काम गुरु की गायों की सेवा करते-करते उनकी संख्या चार सौ से एक हजार तक पहुँचा देते हैं। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि उस काल में शिक्षा केवल सैद्धान्तिक और पुस्तकीय नहीं थी अपितु जीवन की वास्तविकताओं से निकट थी। उस शिक्षा में शारीरिक श्रम का महत्त्व था। जीवन का गूढ़तम समस्याओं का समाधान जीवन के सामान्य कार्य-क्षेत्रों से ही हो जाता था; वैदिक शिक्षा-पद्धति जीवन की प्रयोगशाला में ही पल्लवित हुई थी। गुरुगृह में रहते हुए विद्यार्थी अपने एवं गुरु के भोजन के लिए भिक्षान्न प्राप्त करने के लिए गृहस्थियों के पास जाता था, यह प्रथा विद्यार्थी को परमुखापेक्षी बनाने की अपेक्षा त्याग, दान तथा मानवीय गुणों के विकास का कारण बनती थी। विद्यार्थी अहंकारादि दुर्गुणों से बचकर विनम्र तथा समाज-हित की भावना से युक्त होता था। समाज के सम्पर्क में आने से वह वास्तविक जीवन से भी परिचित हो जाता था। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा स्वावलम्बन के पाठ के साथ समाज के प्रति कर्त्तव्यपरायणता तथा कृतज्ञता का पाठ भी पढ़ा देती थी। वैदिक शिक्षा पद्धति का विकास योजनानुसार हुआ था, उसकी जड़ें समाज के अन्तरतम में थीं, भले

ही शिक्षा देने का स्थान अरण्य और कानन थे। जंगलों और काननों के अंक में स्थित प्राकृतिक रमणीय छटा से आच्छादित ये शिक्षा-केन्द्र सभ्यता, संस्कृति एवं मानवता के उद्‌गम-स्थल थे। जब विश्व की अन्य जातियाँ घुटनों के बल चलना सीख रही थीं, उस समय भारतीय ऋषि तत्त्वज्ञान की मीमांसा कर रहे थे। वैदिक शिक्षकों ने शिक्षा के क्षेत्र में जो अमूल्य योगदान दिया है, वह अविस्मरणीय है। उनकी साधना का एकमात्र लक्ष्य लौकिक, पारलौकिक विभूतियों का समन्वय और मानवीय जीवन की पूर्णता ही था।

वैदिक शिक्षा पद्धति की सर्वाङ्गीण जानकारी के लिए हमें समस्त वैदिक साहित्य का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। ऋग्वेद वैदिक साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है, यद्यपि इसमें हमें शिक्षा के विकास का इतिहास देखने को नहीं मिलता है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार का उच्चतम ज्ञानकोष सहज सृष्टि नहीं; उसके पीछे सहस्रों वर्षों का अध्यवसाय एवं तपःपूत ऋषियों की साधना निहित है। ऋग्वेद भौतिक वातावरण से दूर रहकर परम शान्ति के लिए अन्तर्मुखी प्रकृति अपनाने का सन्देश देता है। ऋग्वेद में वैदिक देवतावाद का पूर्ण ज्ञान प्रदान किया गया है। अन्य वेदों के समय में पुरोहितवाद का प्रचुर प्रचार हो जाता है, इसलिए शिक्षा का दृष्टिकोण पुरोहितवाद तथा धर्म के क्रियात्मक रूप की ओर उन्मुख हो जाता है। पूजा तथा यज्ञ के वाह्य उपकरणों का इतना प्रचार हो गया था कि पौरोहित्य के समस्त कार्यजात की शिक्षा लेना अनिवार्य था। पुरोहितों को भी चार वर्णों में चारों वेदों के अनुसार विभक्त कर दिया था जो कि एक-एक वेद के प्रतिनिधि होते थे।

इस प्रकार इस काल में शिक्षा का लक्ष्य चारों वेदों का पूर्ण ज्ञान तथा धर्म, दर्शन, पुरोहित के कार्य-कलाप का ज्ञान था, चतुर्थ वेद अथर्ववेद भारतीय चिकित्साशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है। इसमें बहुत-सी जड़ी-बूटियों का भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग-निवारण के लिए उल्लेख है। चिकित्साशास्त्र की पूर्ण जानकारी इसमें दी गई है। ज्योतिष विद्या का इसमें उल्लेख है। गृहस्थ जीवन सम्बद्ध संस्कारों का वर्णन है। तन्त्रशास्त्र की ओर भी इस वेद की प्रवृत्ति है। राजा तथा राज्यपरिषदों का भी विवेचन है, और इस प्रकार इस वेद में लौकिक विषय सामग्री को उपन्यस्त किया गया है और वेद के उदय के साथ हमें शिक्षा पद्धति में इसका दर्शन होने लगता है।

वैदिक भारत में आज की तरह मुद्रण-यन्त्र न थे, पुस्तकें न थीं, बड़े-बड़े विद्यालय न थे; किन्तु तप की साधना थी। गुरुमुख एवं शिष्य के कर्ण थे।

ऋषियों के तप तथा योग द्वारा महान् ज्ञान प्राप्त कर लेने तथा उनके छन्दों और मन्त्रों के रूप में संकलित होने के उपरान्त ऐसे साधनों का विकास हुआ जिनके द्वारा यह ज्ञान सुरक्षित किया जा सके अथवा आगे की सन्तति को हस्तान्तरित किया जा सके। यहीं से वंश-परम्परा एवं शिष्य-परम्परा का उदय होता है। वैदिक शिक्षा-पद्धति में इन परिवार या कुल शिक्षा-संस्थाओं का यहीं से उदय होता है। आचार्य अपने शिष्य को उच्चारण कर-करके ऋचायें कंठाग्र करा देता था, प्रत्येक विद्यार्थी योग्यतानुरूप ज्ञानार्जन करता था। सायण ने तीन प्रकार के विद्यार्थियों का उल्लेख किया है—(1) महाप्रज्ञ, (2) मध्यम प्रज्ञ, (3) अल्प प्रज्ञ। यह वर्गीकरण मानसिक स्तर के अनुरूप किया गया है। इस काल में मन्त्रों का गान होता था। शब्दों, पदों तथा अक्षरों के शुद्ध उच्चारण पर ज्ञान दिया जाता था। छन्द की रचना पदों से तथा पदों की अक्षरों द्वारा होती थी। वैदिक ज्ञान का उच्चारण गुरु एक निश्चित रूप से करता था, इस काल में उच्चारण की शुद्धता पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था। यह शिक्षा-पद्धति मौखिक ही थी, क्योंकि इस समय तक लेखन-कला का विकास नहीं हुआ था।

संक्षेप में हम ऋग्वैदिक शिक्षा पद्धति को इस प्रकार देख सकते हैं—गुरु गृह ही विद्यालय था। उपनयन संस्कार के उपरान्त शिक्षा पूर्ण हो जाने तक शिष्य गुरु के समीप ही रहता था। शिक्षक पिता के रूप में उसका संरक्षक होता था और उसके भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करता था। गुरुगृह में विद्यार्थी का प्रवेश केवल उसके नैतिक बल और सदाचार के आधार पर ही हो सकता था। सदाचार के दृष्टिकोण से जो विद्यार्थी निम्न स्तर का समझा जाता था। उसके लिए गुरुकुल में रहना निषिद्ध था। ब्रह्मचर्य का जीवन अनिवार्य था। विवाहित युवक भी विद्याध्ययन करते थे; किन्तु वे आश्रम में नहीं रह सकते थे। गुरुसेवा विद्यार्थी का परम कर्त्तव्य था। आश्रमवासी विद्यार्थी सदैव गुरुसेवा परायण रहता था। वह शिष्य मनसा, वाचा, कर्मणा, गुरुभक्त रहता था। गुरु ही सर्वस्व था।

ऋग्वेद के काल में हमें वर्ण-व्यवस्था के संकेत मिलने लगे थे, किन्तु वह इतनी स्पष्ट एवं जटिल नहीं हुई थी। ज्ञान किसी वर्ण तक सीमित नहीं था वह तो व्यक्ति की साधना पर निर्भर था; अम्बरीष, त्रसदस्यु, सिन्धुद्वीप, मान्धाता तथा शिवि आदि क्षत्रिय अपने अध्यवसाय से ही ऋषि परम्परा में आ सके थे। इसी काल में स्त्रियां भी ज्ञानार्जन पुरुषों के समान ही करती थीं, वे

यज्ञों में भाग लेती थीं, स्त्री सन्तों को ऋषिका और ब्रह्मवादिनी कहकर पुकारा जाता था। रोमसा, लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, कन्द्रू, श्रद्धा, उर्वशी देवयानी इत्यादि ऋषिकाओं के नाम विभिन्न वेदों में मिलते हैं। ऋग्वेद में अनार्य ही सूद्र नाम के अधिकारी हैं, इन्हें भी शिक्षा उस समय दी जाती थी।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वैदिक शिक्षा पद्धति का उद्देश्य महान् था; व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास ही इसकी आधारशिला थी, गुरु व्यक्तिगत रूप से शिष्य से परिचित रहता था; अतः दैनिक दिनचर्या के परिचय के साथ वह उसके मानसिक स्तर से भी परिचित रहता था। उसका परिणाम विद्यार्थी के सर्वाङ्गीण विकास में होता था। जीवन के तीन ऋण -- ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण जिनका उल्लेख यजुर्वेद में मिलता—ब्रह्मचर्य, यज्ञ और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा किया जाता था। गुरु-गृह में निवास करते हुए ब्रह्मचर्यपूर्वक शिष्य शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करता था। वैदिक शिक्षा-पद्धति चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास तथा सामाजिक अभिवृद्धि करने में पूर्ण सफल थी।

किन्तु उत्तर वैदिक काल (ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद) में हम शिक्षा के क्षेत्र में कुछ अन्तर पाते हैं किन्तु मूलाधार तत्त्व इस काल में भी वैदिक ही है। उत्तर वैदिक काल में शिक्षा केवल शिक्षा के लिए नहीं अपितु शिक्षा जीवन के लिए थी, शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त करना था यद्यपि यज्ञ और धार्मिक क्रिया कलाप, ब्रह्मप्राप्ति के साधन थे, किन्तु इन दिनों धर्मग्रन्थों के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा था। इस शिक्षा को स्वाध्याय कहा जाता था। स्वाध्याय ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग था।

वेदों की शिक्षा-पद्धति के समान ही इस काल में विद्यार्थियों के कुछ विशिष्ट कर्त्तव्य थे; एक तो विद्यार्थी इस काल में आचार्य के कुल का वासी होता था, दूसरे पालन-पोषण के लिए भिक्षान्न माँगकर लाता था, उसका तीसरा कर्त्तव्य गुरुगृह की पवित्र अग्नि को सदा प्रज्ज्वलित रखना था। चौथा कर्त्तव्य गुरु की गायों की सेवा करना था। इस प्रकार गुरुसेवा इस काल में भी प्रधान स्थान को लिए हुई थी; किन्तु सम्पन्न शिष्य गुरुदक्षिणा भी इस काल में देने लगे थे। शिक्षा वेद के अध्ययन से प्रारम्भ होती थी, अक्षर, शब्द, उच्चारण-छन्द तथा प्रारम्भिक व्याकरण का ज्ञान भी पूरी तरह से इस काल में कराया जाता था। उच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षा के पूर्ण हो जाने

पर गुरु उपदेश देकर शिष्य को गृहस्थ धर्म में प्रविष्ट होने की अनुमति दे
था। यही आज का दीक्षान्त भाषण उस काल में 'समवर्त्तन' संस्कार के
में प्रतिष्ठित था किन्तु इन दोनों दीक्षान्त भाषण तथा समवर्त्तन संस्का
क्रियाओं में पर्याप्त अन्तर है।

वैदिक शिक्षा पद्धति में जहाँ गुरु की प्रधानता थी, वहाँ इस का
शिक्षा में शिष्य की प्रधानता हो जाती है। गुरु-शिष्य परस्पर प्रश्नोत्तर
हुए ज्ञानार्जन करते थे। यद्यपि लेखनकला का विकास हो रहा था किन्तु
का प्रमुख साधन वाणी ही थी। इस काल की शिक्षा में तर्क, चिन्तन,
की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है।

इस काल की शिक्षा के सिद्धान्तों का संक्षेप में परिचय हम इस
प्राप्त कर सकते हैं—

इस काल की शिक्षा विद्यार्थी को पूर्ण जीवन के लिए निर्मित करती
शिक्षा प्रणाली केवल पुस्तकीय नहीं थी अपितु वह भावी जीवन सं
लिए व्यावहारिक ज्ञान देती थी। शिक्षा के अधिकारी व्यक्ति ही रु
योग्यतानुसार शिक्षित किये जाते थे। उपनयन संस्कार सभी के लिए
वार्य था। तीन ऋणों से मुक्त होने के लिए शिक्षा एक आवश्यक तत्त्व
अतः शिक्षा प्रत्येक के लिए 'स्वतः' अनिवार्य हो जाती थी। ब्रह्मचर्य एवं
इस काल का परम अनिवार्य उपकरण था। इस काल में शिक्षा पाँच
आठ वर्ष के बालक को अनिवार्यतः प्रारम्भ कर दी जाती थी। इस का
शिक्षा-पद्धति में हम व्यावहारिक मनोविज्ञान को प्राप्त करते हैं। विद्या
शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। उसे अन्य उपायों से शिक्षा दी जा
हाँ; यदि कभी शारीरिक दण्ड दिया जाता था तो वह अन्तिम उपाय के
ही गुरुकुलों में गुरु और शिष्य का सीधा सम्पर्क रहता था, इसलिए गुरु
दोनों ही एक-दूसरे से पूर्णतः परिचित रहते थे। इस स्थिति में गुरु को
की शक्तियों और मस्तिष्क के अध्ययन का भी पर्याप्त अवसर रहता था
भी अपनी शक्ति के अनुसार शिष्य को विद्यादान देकर समाज में अपना
बनाये रखता था।

संक्षेप में यदि कहा जाय कि वैदिक शिक्षा पद्धति युगानुरूप पू
महान थी, सर्वाङ्गीण विकास में सक्षम थी तो अनुपयुक्त न होगा।